प्रकाशक—
स्वामी भास्करेश्वरानन्द,
अध्यक्ष, श्रीरामकृष्ण आश्रम,
धन्तोली, नागपुर-१

श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द-स्मृतिग्रन्थमाला
पुष्प ५६ वाँ

मुद्रक—
डी. पी. देशमुख,
बजरंग मुद्रणालय,
फर्नलबाग, नागपुर-२

दो शब्द

भगवान श्रीरामकृष्ण देव की लीला-सहधर्मिणी 'माँ सारदा' की जीवनी हिन्दी में प्रकाशित करते हुए हमें अतीव आनन्द हो रहा है।

जब भगवान मानव-जाति के उद्धार के लिए धराधाम में अवतरित होते हैं, तब उनके साथ उनकी शक्ति का स्त्री-रूप में प्रायः आविर्भाव होता है, जो उनकी अभिन्न सहचरी होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीराम का सीता के साथ, श्रीकृष्ण का राधा के साथ, बुद्ध का यशोधरा के साथ और चैतन्य का विष्णुप्रिया के साथ इस जगत् में आगमन हुआ। ये आदर्श नारियाँ, जो एक ही दिव्य शक्ति की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं, ईश्वर की लीला के आविर्भाव में सहायक हुई हैं।

वर्तमान युग में वही दिव्य शक्ति माँ सारदा के रूप में आविर्भूत हुई, जो भगवान श्रीरामकृष्ण के दैवी कार्य को सम्पन्न कराने में सहायिका सिद्ध हुई। तभी तो श्रीरामकृष्ण उनके सम्बन्ध में कहा करते थे, "वह सारदा है — सरस्वती है। ज्ञान देने के लिए आयी है।... वह मेरी शक्ति है।" संसार के समक्ष ईश्वर का मातृ-भाव रखने के लिए ही उन्होंने मानव-तन धारण किया था। यह पुस्तक माँ सारदा के जीवन के इसी विशिष्ट पहलू पर प्रकाश डालने के लिए लिखी गयी है। स्वामी विवेकानन्द ने भी उनके असली स्वरूप को पहचान लिया था और इसी से वे उन्हें 'जीती-जागती दुर्गा' कहा करते थे।

उनका यह दैवी-मातृत्व आदर्श पत्नी, आदर्श संन्यासिनी और आदर्श गुरु आदि के रूपों में प्रकट हुआ है। इन नाना रूपों में उन्होंने जगत् के सम्मुख भारतीय नारी के आदर्श को प्रस्तुत किया है, जिसमें पवित्रता, दया और सरलता का समावेश है। आत्मानुभूति और सेवा के द्वारा उन्होंने भारतीय संस्कृति और समाज में नूतन

जीवन संचारित किया है। उनका चरित्र सामाजिक सेवा के विविध क्षेत्रों में कार्य करनेवालों को सतत प्रेरणा प्रदान करता रहेगा, और आध्यात्मिक साधकों को पथ-दीप के तुल्य स्फूर्तिदायक सिद्ध होगा; क्योंकि उनके जीवन और उपदेशों में समस्त आत्मिक संशयों को दूर कर 'परम सत्य' तक पहुँचाने की क्षमता है।

अब यह संसार की नारियों का धर्म है कि वे उनके पद-चिह्नों पर चलकर अपने को उनके जीवन के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करें।

वाराणसी के श्रीरामकृष्ण अद्वैत आश्रम के अध्यक्ष स्वामी अपूर्वानन्दजी ने बँगला में यह जीवनी लिखकर हमें दी है। हम उन्हें इस स्फूर्तिदायिनी प्रामाणिक जीवनी के लेखन-कष्ट के लिए हृदय से धन्यवाद देते हैं। हम श्री नृसिंहवल्लभ गोस्वामी, शास्त्री, वृन्दावन, तथा प्राध्यापक श्री विष्णु नारायण सेन, एम. ए., वाराणसी, का भी इसका अनुवाद करने के उपलक्ष में हृदय से आभार मानते हैं। उन्होंने मूल ग्रन्थ की विशेषताओं की रक्षा की है।

पाठकों की सुविधा के लिए हमने पुस्तक के अन्त में श्रीमाँ के जीवन की विशिष्ट घटनाओं की सूची भी सन्निविष्ट कर दी है, जहाँ पर बँगला तिथियों के साथ-ही-साथ अँगरेजी तिथियाँ भी दी गयी हैं।

हमें विश्वास है कि पाठक हमारे इस नये प्रकाशन से बड़े लाभान्वित होंगे, उनका जीवन-पथ आलोकित होगा और वे आत्म-सुधार की ओर अग्रसर होंगे।

नागपुर,
दुर्गाष्टमी,
१२ अक्तूबर, १९५९

— प्रकाशक

चित्र-सूची



माँ सारदा

माँ सारदा

१

एक शताब्दी पूर्व पुण्यभूमि भारत की दिव्य सुषमा को लेकर वंगाल के एक दरिद्र ब्राह्मण-परिवार में श्रीसारदामणि देवी का आविर्भाव हुआ था। उस दिन गुरुवार था — वँगला सन् १२६० की पौष कृष्णा सप्तमी तिथि (२२ दिसम्बर, १८५३ ई.) थी। जाड़ा पड़ना आरम्भ हो गया था। ग्रामवासियों ने अभी-अभी खेतों से धान काटकर अपने-अपने घरों में धान्य-लक्ष्मी को उठाया था। सबके चेहरे पर सन्तोष-जन्य प्रसन्नता छायी हुई थी। घर-घर आनन्दोत्सव हो रहा था। सर्वत्र मानो पार्वती देवी के अपने पीहर आने का आगमन-संगीत झंकृत हो रहा था। ऐसे समय एक लक्ष्मीवार (गुरुवार) के पुनीत सन्ध्या-काल में जयरामवाटी की निविड़ निस्तब्धता को भंग करते हुए मुखर्जी-परिवार में मंगल-ध्वनि के साथ शंख-नाद होने लगा। पड़ोस की महिलाएँ रामचन्द्र के घर पर एकत्र हुईं। सारी यातनाओं को भूलकर श्यामासुन्दरी की दृष्टि अपनी प्रथम सन्तान* लक्ष्मी-जैसी कन्या के कमनीय मुख पर पड़ी। रामचन्द्र के मानस-पटल पर दैववाणी की घटना अंकित हो उठी। भक्ति-विनम्र चित्त से उन्होंने मन-ही-मन अपने इष्टदेव को प्रणाम किया।

नील आकाश के पृष्ठ पर अगणित नक्षत्र झिलमिला उठे थे। मानो देव-ललनाएँ कौतूहलपूर्ण दृष्टि से देख रही थीं कि जाड़े की इस

---

* रामचन्द्र मुखर्जी के दो पुत्रियाँ तथा पाँच पुत्र थे। सारदामणि, कादम्बिनी, प्रसन्नकुमार, उमेशचन्द्र, कालीकुमार, वरदाप्रसन्न तथा अभयचरण।

ठण्डी रात में आनन्द-पुलकित होकर धरणीतल पर किसका आविर्भाव हुआ ? . . . इस वालिका के जन्म के कारण ही वाँकुड़ा जिले का यह छोटासा शस्य-श्यामल गाँव—जयरामवाटी—आज जगद्विख्यात महान् तीर्थक्षेत्र में परिणत हुआ है एवं दूर-दूर के अगणित नरनारियों की श्रद्धा का केन्द्र वन गया है।

सुरभि-भरी कुसुम-कलिका की भाँति अपनी कमनीय कान्ति को लेकर माता-पिता के स्नेहमय लालन में सारदा शशिकला की तरह दिनोंदिन वढ़ने लगी। माता-पिता उसे 'सारु' कहकर पुकारते। वालिका के शान्त तथा कोमल स्वभाव के कारण सव कोई उसकी ओर आकृष्ट हो जाते। वह पड़ोस की महिलाओं की आँखों का तारा थी। दिन में एक वार उसे अपनी गोद में लिये विना उनको तृप्ति नहीं होती थी। सदा हँसमुख, लीला-चंचल उस छोटीसी वालिका के सस्मित नेत्रों में मानो कोई सम्मोहिनी शक्ति थी, जिसे देखकर सव कोई आश्चर्यचकित हो सोचने लगते थे—अहा, कितनी सुन्दर आँखें हैं, मानो देवी के नेत्र हैं; यह वालिका सचमुच देवी है !

प्राकृतिक सुन्दरता की लीलाभूमि जयरामवाटी के तीनों ओर विस्तृत मैदान हैं, जिसकी श्याम-शोभा को देखकर नेत्र परितृप्त हो उठते हैं। गाँव की उत्तरी-पूर्वी सीमा को निर्धारित करते हुए स्वल्प विस्तारवाली आमोदर नदी ने गाँव को लता की भाँति परिवेष्टित करके शस्य-श्यामल वना रखा है। इस छोटेसे गाँव में कतिपय ब्राह्मण-परिवारों को छोड़कर, ग्वाले, मोदी, नाई, लोहार, कुम्हार तथा नीच जाति के लगभग सौ घर हैं। मुखर्जी-परिवार गाँव का प्राचीन अधिवासी है। निष्ठासम्पन्न, सदाचारी, देवता तथा ब्राह्मणों के प्रति भक्तिपरायण, दयालु रामचन्द्र मुखर्जी गाँववालों के परम श्रद्धापात्र थे। उनकी धर्मपरायणा पत्नी श्यामासुन्दरी भी अत्यन्त पवित्रहृदय तथा सरलता की मूर्ति थीं। इस ब्राह्मण-दम्पति के पुण्यचरित्र और तप-परायणता

को देखकर ऐसा प्रतीत होता था, मानो ये प्राचीन काल के 'सुतपा और पृश्नि' हैं। तभी तो इनकी तपस्या से तुष्ट होकर भगवती उनकी कन्या के रूप में आविर्भूत हुई थीं। आगे चलकर सारदा देवी के मुख से उनके माता-पिता के पवित्र जीवन का कुछ परिचय मिलता है। गर्व के साथ वे कहा करती थीं, "मेरे माता-पिता बहुत ही अच्छे थे। पिताजी श्रीरामचन्द्रजी के भक्त थे। वे परम निष्ठावान् थे, कभी अन्य वर्ण का दान नहीं लेते थे। माँ अत्यन्त दयावती थीं, लोगों को बड़े ही प्रेम से भोजन कराती थीं, उनकी देखभाल करती थीं—कितनी सरल थीं!... इसी लिए तो मैंने उनके घर में जन्म लिया है।"

रामचन्द्र मुखर्जी के और भी तीन कनिष्ठ सहोदर थे। वे सभी एक-परिवार होकर रहते थे। देव-सेवा के निमित्त प्राप्त कुछ बीघे जमीन की उपज से संसार-यात्रा का निर्वाह होना कठिन था। अतः रामचन्द्र को यजमानी-वृत्ति अवलम्बन कर किसी तरह संसार का पालन करना पड़ता था। गृहस्थी की आर्थिक कमी की पूर्ति के लिए श्यामासुन्दरी को भी जनेऊ तैयार करना आदि अन्यान्य अर्थकर कार्य करने पड़ते थे। अपनी गोद से बालिका सारदा को खेत के समीप लिटाकर वे रुई एकत्रित किया करती थीं। इस तरह अत्यन्त कठिनाई के साथ उक्त ब्राह्मण-परिवार के दिन व्यतीत होते थे। फिर भी दरिद्रता की तीव्र अग्नि में तपकर महाप्राण उस ब्राह्मण-दम्पति के हृदयस्थ महद्गुण कहीं अधिक समुज्ज्वल हो उठे थे। उनका जीवन धर्ममय तथा श्रीभगवच्चरणों में पूर्ण निर्भरशील बन चुका था।

एक दिन की घटना है, दोपहर में भोजन के बाद रामचन्द्र सो रहे थे। स्वप्न में उन्होंने देखा कि एक नन्ही-सी बालिका ने उनका कण्ठवेष्टन किया। अहा, कैसी अपूर्व रूप की छटा थी—कितने सुन्दर आभूषण थे उसके! दिव्य गन्ध से चारों दिशाएँ आमोदित हो उठीं। विस्मय-विमुग्ध हो उन्होंने प्रश्न किया, "अरी, तुम कौन हो?" उस

वालिकारूपी देवी-मूर्ति ने मधुर कण्ठ से उत्तर दिया, "मैं तुम्हारे ही निकट आयी हूँ।" आंख खुलते ही रामचन्द्र ने अनुभव किया कि माता भगवती का आगमन हुआ था।

अयोनिजा जनकनन्दिनी की भाँति सारदा देवी का आविर्भाव भी अलौकिक रीति और ईश्वरेच्छा से ही हुआ था। उनके जन्म के सम्बन्ध में उन्हीं का कथन है, "...मेरा जन्म भी उसी प्रकार (श्रीरामकृष्ण देव की तरह) का है। मेरी माँ शिहड़ नामक स्थान में देव-दर्शन के लिए गयी थीं। लौटते समय जयरामवाटी की पश्चिम-सीमा पर किसी देवालय के समीप एक वृक्ष के नीचे अकस्मात् उन्हें शौच जाना पड़ा। शौच नहीं हुआ, पर उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि उनके उदर में किसी प्रकार की वायु के प्रविष्ट होने से उनका पेट अत्यन्त भारी हो उठा है। फिर भी वे बैठी ही रहीं। इतने में उन्होंने देखा कि लाल रेशमी साड़ी पहने हुए एक पाँच-छः वर्ष की सुन्दरी वालिका वृक्ष से उतरकर उनके समीप आयी और अपनी कोमल भुजाओं द्वारा पीठ की ओर से उनका कण्ठवेष्टन करती हुई कहने लगी, 'माँ, मैं तुम्हारे घर आयी हूँ।' मेरी माँ उस समय वेहोश हो गयीं। लोग उन्हें घर उठा लाये। वही वालिका मेरी माँ के उदर में प्रविष्ट हुई थी। उसी से मेरा जन्म है। घर लौटकर माँ ने यह घटना वतलायी थी।"

जिस समय की यह घटना है, उस समय रामचन्द्र कार्यवश कलकत्ते में थे। घर लौटने पर अपनी सहधर्मिणी से उक्त विवरण सुनकर उन्हें अपने स्वप्न की घटना याद आयी। वे समझ गये कि उनके घर में भगवती का आविर्भाव होनेवाला है। पति-पत्नी दोनों ही ग्राम्य-सुख को तिलांजलि दे भक्तिभाव से देवी के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे।

* * * *

सारदा देवी के वाल्यकाल की विशेष किसी घटना का पता नहीं चलता है। अन्यान्य ग्रामीण वालिकाओं की तरह माता-पिता के स्नेहमय लालन में औरों की दृष्टि से दूर उनका पालन-पोषण हुआ था। वाल्यकाल से ही वे अत्यन्त शान्त और सीधी-सादी थीं। वे सरलता की प्रतिमूर्ति थीं, अपनी सहेलियों के साथ उनका कभी भी किसी प्रकार का झगड़ा होता हुआ किसी ने नहीं देखा। आपस में कभी कोई झगड़ा होने पर वे स्वयं अपनी मधुर वाणी से उसका समाधान कर देती थीं। देवी-देवताओं की मूर्ति वनाकर फूल-वेलपत्र से उनकी पूजा करना वे वहुत पसन्द करती थीं।

वाल्यकाल में पढ़ने-लिखने की कोई सुविधा सारदा देवी को प्राप्त नहीं हुई। उन दिनों, विशेषतः गाँव की लड़कियों की शिक्षा के वारे में, अभिभावकों की केवल उदासीनता ही नहीं थी, वरन् उनकी ऐसी धारणा थी कि पढ़ने-लिखने से लड़कियों का नैतिक जीवन नष्ट हो जाता है। वे कहते थे—पढ़ने-लिखने से लाभ ही क्या है? घर के काम में उदासीन होकर नाटक-उपन्यास आदि पढ़कर समय को नष्ट करने के सिवाय पढ़ी-लिखी लड़कियाँ और करेंगी ही क्या? सारदा देवी ने आगे चलकर अपनी चेष्टा तथा श्रीरामकृष्ण देव के उत्साह से पढ़ने का थोड़ा-वहुत अभ्यास कर लिया था। रामायण, महाभारत इत्यादि धर्मग्रन्थों को वे भलीभाँति पढ़ लेती थीं।

निर्धन परिवार में जन्म लेकर कठोर दारिद्रय में उनका वाल्य-जीवन व्यतीत हुआ। उनके जीवन का प्रथम विकास सेवा, दया एवं अमृतमयी प्रशान्ति के रूप में हुआ था। वाल्यावस्था में ही वे अपनी माता की घर के काम-काज में सहायता किया करती थीं। अपने छोटे भाई-वहनों की देख-रेख करना उनका प्रिय कार्य था। वे कहा करती थीं, "अपने भाइयों को लेकर मैं गंगा नहाने जाती थी। आमोदर नदी ही हमारी गंगा थी। गंगा नहाने के वाद वहाँ पर

बैठकर मुरमुरे खाकर उनको ले मैं घर लौटती थी। गंगा नहाने की धुन बचपन से ही थी।"

इतनी छोटी अवस्था में उन्हें रसोई का काम करना पड़ता था कि उनसे चावल की हण्डी तक नहीं उतरती थीं। दूसरा कोई उसे उतार देता था। गाँव की वृद्धा स्त्रियों का कहना है, "बचपन से ही सारदा जैसी बुद्धिमती और शान्त स्वभाव की थी, कार्य करने में भी उसका वैसा ही उत्साह था। उसे कभी भी काम करने के लिए कहना नहीं पड़ता था; बुद्धि लगाकर वह अपने-आप अपने कामों को भलीभाँति कर डालती थी।"

कुछ बड़ी होने पर वे अपने पिता को भी विभिन्न कार्यों में सहायता पहुँचाने लगीं। खेत पर काम करनेवालों के लिए चबेना पहुँचाना, गर्दन तक पानी में उतरकर गायों के लिए घास काटना* तथा और भी कितने ही कार्य वे किया करती थीं। एक बार टिड्डियों ने सारी फसल नष्ट कर दी। उस समय उन्होंने खेत-खेत में जा-जा धान इकट्ठा किया था। पर रामचन्द्र अपनी कन्या सारदा को देवी-भाव से देखते थे और उसके प्रति बड़ी श्रद्धा रखते। वे तो वास्तव में सारदागतप्राण थे।

जिस समय सारदा देवी की उम्र ग्यारह वर्ष की थी, उस समय

---

* अपने परवर्ती जीवन में सारदा देवी ने कहा था कि घास काटते समय उनकी ही भाँति एक लड़की (देवी-मूर्ति) उनके साथ पानी में उतरकर उनकी सहायता किया करती थी। एक बार किसी के समीप उन्होंने यह भी व्यक्त किया था, "छुटपन में देखती थी, मेरी ही उमर की एक लड़की सदा मेरे साथ रहकर मेरे सभी कामों में सहायता किया करती है, मेरे साथ खेला-कूदा करती है। दूसरे किसी के आने पर मैं उसे देख न पाती थी। दस-ग्यारह वर्ष की उमर तक ऐसा होता रहा।"

जयरामबाटी आदि स्थानों में भीषण अकाल पड़ा। धर्मप्राण रामचन्द्र की महानता का विशेष परिचय उस समय की घटनाओं से मिलता है, और सारदा देवी विगलित करुणा के रूप में हमारी आँखों के सामने आती हैं। उन्होंने भक्तों से कहा था, "एक समय (बँगला सन् १२७१ में) उधर भयंकर अकाल पड़ा। कितने ही भूखे लोग हमारे घर पर आते थे। पहले वर्ष का कुछ धान हमारे यहाँ बाकी था। पिताजी उस धान से चावल निकालकर उसमें उड़द की दाल मिलाकर बड़ी-बड़ी हण्डियों में खिचड़ी बनवाकर रखते थे। वे कहते, 'घर के लोग यही भोजन करेंगे तथा और जो-जो आयगा, उसे भी यही दिया जायगा। केवल मेरी सारदा के लिए अच्छे चावल की रसोई बनेगी।' कभी-कभी तो ऐसी स्थिति हो जाती थी कि लोगों की संख्या अधिक हो जाने के कारण उतनी खिचड़ी से पूरा नहीं पड़ता था। फिर से उसी समय हण्डी चढ़ानी पड़ती थी। खिचड़ी बन जाने पर, उसे ठण्डा करने के लिए मैं दोनों हाथों से पंखा किया करती। अहा, भूख से व्याकुल होकर सब कोई भोजन की प्रतीक्षा में बैठे रहते थे!

"एक दिन नीच जाति की एक लड़की आयी। तेल न पड़ने से उसके केशों में लटें पड़ गयी थीं। पागल की-सी आँखें थीं। वह दौड़ती हुई आयी और नाद में गायों के लिए जो भूसी भीग रही थी, उसी को खाना शुरू कर दिया। लोगों ने कितना कहा, 'भीतर आकर खिचड़ी ले', पर उतना धैर्य कहाँ? कुछ भूसी खा चुकने पर तब कहीं वह आवाज उसके कानों में पहुँची। ऐसा भीषण अकाल पड़ा था! उस साल इतना दुःख भोगने के बाद तब लोगों ने धान संचय करके रखना आरम्भ किया।"

सारदा देवी की बालिका-मूर्ति के अन्तराल में जो असीम दया, करुणा और पर-दुःख-कातरता अधखिली अवस्था में दिखायी देती है, उसी ने आगे चलकर देवी-मातृत्व के रूप में पूर्ण प्रस्फुटित हो अपने

दिव्य-सौरभ से असंख्य जन-मनों को आमोदित किया था, और भविष्य में भी वह अगणित हृदयों में दिव्य प्रेरणा भरती रहेगी।

* * * *

श्रीसारदा देवी की उम्र जिस समय छः वर्ष की थी, उस समय श्रीरामकृष्ण देव के साथ उनका विवाह हुआ। उक्त विवाह का एक इतिहास है, जिसका तात्पर्य बड़ा ही गम्भीर है।

पहले चार वर्ष अत्यन्त कठोर साधना के अनन्तर दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर में उस समय श्रीरामकृष्ण देव दिव्योन्माद की अवस्था में थे। भाव में विभोर होकर कभी तो वे अपने-आप हँसते रहते और कभी 'माँ, माँ' की वाणी से चारों दिशाओं को गुंजायमान करते हुए व्याकुल होकर रोने लगते। उनका वह रुदन सुनकर मानो प्रकृति देवी के नेत्र छलछला आते थे। फिर वे कभी जड़ की भाँति चुपचाप बैठे रहते। सर्वदा एक उदासीनता-सी बनी रहती थी। ज्योंही मन्दिर में सायंकालीन आरती का घण्टा बजने लगता, त्योंही वे आर्तनाद करते हुए पछाड़ खाकर जमीन पर गिर पड़ते और ऐसी निर्ममता से अपने मुँह को घिसने लगते कि वह खून से लथपथ हो जाता, पर उन्हें उस ओर कुछ भी ध्यान न रहता था। मुँह से एकमात्र यही ध्वनि निकलती रहती, 'माँ, तूने दर्शन नहीं दिये!' यह दृश्य देखकर लोग भौचक रह जाते। कोई कहता, 'अहा, बेचारे के पेट में शूल उठ रहा होगा।' अन्य कोई व्यंग कसते हुए कहता, 'अरे, यह तो पूरा सिड़ी है!'

श्रीरामकृष्ण देव के शरीर और मन का आश्रय लेकर जगज्जननी का दिव्यलीला-विलास तथा युगधर्म-स्थापन का आयोजन चल रहा था। इधर देव-मन्दिर में सभी लोग इस बात में एकमत थे कि छोटे पुजारी (श्रीरामकृष्ण) का सिर फिर गया है। कभी-कभी वे ऐसी हालत में भी पूजा करने जाते थे। सहज में उनकी पूजा समाप्त नहीं हो पाती थी।



भगवान श्रीरामकृष्ण देव



अपनी इच्छा के अनुसार वे फूल-चन्दन से माँ का शृंगार करते। माँ के अंग का कोमल स्पर्श पाकर उनकी सारी देह पुलकित हो उठती थी। उनको ऐसा प्रतीत होने लगता कि माँ पाषाणमयी नहीं, चिन्मयी हैं। माँ का कितना शृंगार करते, कितने विविध उपचारों से उनकी पूजा करते, पर तो भी उन्हें तृप्ति नहीं होती थी। आरती के समय घण्टों आरती ही किया करते थे।

श्रीरामकृष्ण की मातृ-साधना पूर्ण हो गयी। वे मातृ-भाव की सिद्धिरूपी प्रासाद के शिखर पर पहुँच गये। अब 'माता' केवल चर्चा का विषय नहीं रहीं, बल्कि वे तो उनकी अन्तरात्मा बन गयीं। मृण्मयी ने अब चिन्मयी-जगन्माता का रूप धारण कर लिया। अब उन्हें विभिन्न प्रकार से माँ की शोभा—माँ की ज्योति का अनुभव होने लगा। चारों ओर निरवच्छिन्न आनन्द की धारा प्रवाहित होने लगी। उनको भीतर-बाहर सर्वत्र माँ-ही-माँ दिखायी देती थीं। चराचर-ब्रह्माण्ड में माँ का ही प्रकाश हो रहा था। आकाश की नीरवता तथा संसार के कोलाहल में उन्हें माँ की ही विभूति दिखायी देती थी। अब माँ ने अपनी सन्तान का हाथ पकड़ लिया था।

जिस दिन श्रीरामकृष्ण के लिए माँ का पूजन करना सम्भव नहीं होता, उस दिन उनके भानजे हृदयराम अन्य किसी ब्राह्मण के द्वारा पूजादि कार्य सम्पन्न करा लेते थे। ऐसा समझकर कि मामा को वायु-रोग हो गया है, हृदयराम भू-कैलास के राजवैद्य से उनकी चिकित्सा कराने लगे। किन्तु यह तो भाव-रोग था! आयुर्वेदिक चिकित्सा से वह दूर कैसे होने का? उनका भावावेश दिनोंदिन बढ़ता ही चला।

बातें कानों के सहारे चलती हैं। अतिरंजित होकर यह समाचार कामारपुकुर पहुँचा। चन्द्रमणि ने सुना कि गदाई (श्रीरामकृष्ण) पागल हो गया है, वह नंगा होकर घूमता-फिरता है, मन्दिर में पूजा नहीं

कर पाता। श्रीरामकृष्ण के मझले भाई रामेश्वर ने भी यह समाचार सुना। माता का हृदय सुन्न हो गया। आँखों से आँसू झरने लगे। 'हा रघुवीर! मेरे भाग्य में यह भी लिखा था!' माँ की अन्तरात्मा व्याकुल हो उठी। पत्र-पर-पत्र लिखवाकर अपने प्रिय पुत्र को उन्होंने घर बुला लिया। यह घटना बँगला सन् १२६५ के आश्विन अथवा कार्तिक मास की होगी।

श्रीरामकृष्ण के सदा उदासीन और तन्मय भाव को देखकर तथा 'माँ, माँ' कहकर उनके करुण क्रन्दन को सुनकर चन्द्रमणि का हृदय विदीर्ण होने लगता। लोगों के साथ परामर्श कर उन्होंने श्रीरामकृष्ण के कल्याण के निमित्त ग्रह-शान्ति, झाड़-फूंक तथा विभिन्न औषधि आदि की व्यवस्था की। झाड़-फूंक करनेवाले आये, झाड़-फूंक की। पर सभी ने एक स्वर से कहा कि यह भूत-प्रेत की बाधा नहीं है। यह तो दैवी भावावेश है। उनकी बातें सुनकर चन्द्रमणि को कुछ ढाढ़स हुआ।

कुछ दिन बाद श्रीरामकृष्ण पहले की अपेक्षा कुछ शान्त हुए। फिर भी उन्हें भावावेश होता रहता था—सर्वदा दिव्यानन्द के आवेश में वे विभोर रहते थे। पर अब उसका बाहरी प्रकाश पहले की तरह नहीं होता था। उसमें विरह की मर्मभेदी विकलता नहीं दिखायी देती थी। अब मानो परिपूर्णता के आनन्द से उनका हृदय पूर्ण रूप से भर चुका था। उसमें उच्छ्वास या उफान नहीं थी। प्रशान्त सागर-जैसी शान्त अवस्था थी। जगन्माता के विभिन्न भावों का दर्शन पाकर वे आत्मस्थ हो चुके थे।

बाहर से गदाई को बहुत कुछ शान्त देखकर चन्द्रमणि का हृदय आनन्द से भर गया। अब वे गदाई के विवाह के लिए रामेश्वर से चुपचाप परामर्श करने लगीं।

इसी समय शिहड़ में हृदयराम के घर पर प्रवचन और भजन-कीर्तन का आयोजन हुआ। मामा को वहाँ ले जाने की उनकी इच्छा

हुई। श्रीरामकृष्ण से उन्होंने चलने के लिए आग्रह किया। वे सहमत हो गये, और पालकी पर सवार होकर शिहड़ के लिए चले। उन्मुक्त सुनील आकाश, विस्तृत मैदान तथा छाया-शीतल मार्ग की उदार प्राकृतिक शोभा को देखते हुए वे आनन्दित मन से जा रहे थे। इतने में उन्होंने देखा कि अकस्मात् उनके शरीर से दिव्य कान्तियुक्त दो किशोर बालक निकले, और कभी तो वे वन्य फूलों की खोज में मैदान की ओर दौड़ पड़ते और कभी उनकी पालकी के समीप आ उनके साथ हास्य-परिहास तथा विविध बातें करते हुए पास-पास चलने लगते। बहुत देर तक इस प्रकार खेल-कूदकर वे दोनों दिव्य-मूर्तियाँ पुनः उनके शरीर में प्रविष्ट हो गयीं। श्रीरामकृष्ण ने सहजावस्था में यह लीला देखी।†

श्रीरामकृष्ण शिहड़ पहुँचे। प्रवचन में नर-नारियों की अपार भीड़ थी। निकटस्थ ग्राम के अन्यान्य लोगों के साथ श्यामासुन्दरी भी अपने पीहर शिहड़ में प्रवचन सुनने आयी थीं। 'सारु' (श्रीसारदा देवी) भी उनके साथ थी। संगीत समाप्त होने के बाद बालिका 'सारु' को गोद में लेकर पड़ोस की कुछ महिलाएँ परिहास करती हुई उससे प्रश्न करने लगीं, "शादी करेगी? बता, इनमें से तू किसे पसन्द करती है?" हँसती हुई बालिका सारदा ने

---

† इस घटना के प्रायः डेढ़ वर्ष बाद दक्षिणेश्वर में एक दिन प्रसंगवश श्रीरामकृष्ण ने अपनी शिक्षा-गुरु योगेश्वरी भैरवी ब्राह्मणी से इस दर्शन की चर्चा की थी। विवरण सुनकर ब्राह्मणी उत्तेजित कण्ठ से कह उठीं, "हाँ, हाँ, तुमने ठीक ही देखा है। अबकी बार नित्यानन्द के चोले में चैतन्य का आविर्भाव हुआ है। इस बार नित्यानन्द और चैतन्य दोनों ही तुम्हारे अन्दर हैं।" यह कहकर भैरवी ब्राह्मणी ने 'चैतन्य भागवत' से इस आशय का एक श्लोक उद्धृत कर उन्हें सुनाया।

समीप बैठे हुए भावमग्न श्रीरामकृष्ण की ओर दोनों हाथों से इशारा किया। † इतनी छोटी बालिका के लिए इस प्रकार अपने भावी पति को दिखा देना अत्यन्त विस्मय की बात है!

चन्द्रमणि के हृदय में घोर अशान्ति छायी हुई थी। पितृहीन उस कनिष्ठ बालक का विवाह कैसे होगा — यह सोचकर वे बहुत ही चिन्तित हो उठी थीं। लड़कियों की तलाश होने लगी। चारों ओर लोग भेजे जाने लगे। परन्तु सब कुछ गुप्त रूप से, क्योंकि भय था कि गदाई को पता लगने पर कहीं वह बिगड़ न बैठे!

उपयुक्त लड़कियाँ तो प्राप्य थीं। पर अर्थ का प्रश्न बड़ा जटिल था। उसकी व्यवस्था करना उनके लिए एक समस्या बन गयी। लड़की जितनी बड़ी तथा सुन्दर मिलती, लड़कीवालों की माँग भी उतनी ही अधिक रहती। फिर किसी-किसी का यह भी कहना था कि क्या पागल के साथ अपनी लड़की का सम्बन्ध करना है? बड़ी ही अजीब स्थिति थी। इन बातों को सुनकर चन्द्रमणि और रामेश्वर के हृदय विषाद की घोर कालिमा से आच्छन्न हो उठे। माता-पुत्र में यद्यपि बड़े गुप्त रूप से यह विचार-विमर्श होता था, फिर भी श्रीरामकृष्ण से ये बातें छिपी न रहीं। भावाविष्ट होकर एक दिन वे स्वयं कह उठे, "इधर-उधर ढूंढ़ना बेकार है। जयरामबाटी में रामचन्द्र मुखर्जी के घर पर पात्री रखी हुई है। वहाँ जाकर देखो।"

वहाँ पर पता लगाया गया। यद्यपि वहाँ पर और कोई समस्या

---

† अल्पवयस्का बालिका अपनी एक आत्मीया की गोद में थी। संगीत समाप्त होते ही उन्होंने उस बालिका से पूछा, 'इतने लोगों में से तुम किससे शादी करना चाहती हो?' यह सुनते ही उस बालिका ने अपने दोनों हाथ उठाकर समीप बैठे हुए प्रभु गदाधर (श्रीरामकृष्ण) को दिखा दिया।

(भावानुवाद—'श्रीरामकृष्ण-पोथी' नामक काव्य-ग्रन्थ से)

नहीं दिखायी दी, पर लड़की बहुत ही छोटी थी। अभी ही उसने छठे वर्ष में पदार्पण किया था। होनहार समझकर चन्द्रमणि ने उसी के साथ गदाधर का विवाह कर देना निश्चित किया। बँगला सन् १२६६ के वैशाख के अन्त में एक शुभ-दिवस उनका परम शुभ-विवाह सम्पन्न हो गया। मानो महादेव के साथ पार्वती का मिलन हो गया।

उस समय गदाधर २४ वर्ष के और सारदा ६ वर्ष की थी। कामारपुकुर से चार मील की दूरी पर जयरामवाटी में यह विवाह सम्पन्न हुआ। कन्या-पक्ष को ३००) का दहेज देना पड़ा। दो दरिद्र ब्राह्मण-परिवारों में यह आडम्बरहीन विवाह एक साधारण-सी घटना थी, पर इस सामान्य घटना ने विश्व के इतिहास में कितना महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण किया तथा वह कितनी असामान्य सिद्ध हुई, यह हम आगे चलकर अनुभव करेंगे। †

---

† एक चौबीस वर्ष के युवक के साथ छः वर्ष की एक बालिका का विवाह साधारणतया एक अत्यन्त विचित्र घटना है, विशेषकर प्रगतिशील पाश्चात्यों की दृष्टि में। वास्तव में श्रीरामकृष्ण देव के साथ श्रीसारदा देवी का जो मिलन हुआ था, उसका नाम 'विवाह' नहीं हो सकता। वह तो दैहिक-सम्बन्ध-रहित दो पवित्र आत्माओं का मिलन है। उसमें न तो दैहिक सुख का संस्पर्श है और न प्रजनन की कोई आकांक्षा ही। उस मिलन के माध्यम से समग्र मानव-जाति को दाम्पत्य-जीवन के सम्बन्ध में एक नवीन आदर्श और अभिनव शिक्षा प्राप्त हुई।

समाज-बद्ध मनुष्यों की विवाह की आवश्यकता मुख्यतः दो प्रकार की है। उनमें से एक तो सामाजिक अथवा जातिगत आवश्यकता है, और दूसरी व्यक्तिगत नैतिक अथवा आत्मिक कल्याण है। हिन्दू-समाज में प्रचलित बाल-विवाह में यह व्यवस्था भी है कि पति-पत्नी जब तक पूर्णवयस्क न हो जायँ, तब तक विवाह की चरम परिणति प्राप्त करने

बालिका सारदामणि का अपने भावी पति को दिखाना तथा भावाविष्ट श्रीरामकृष्ण का अपनी भावी पत्नी के सम्बन्ध में बतलाना—ये दोनों एक दूसरे की पूरक तथा बड़ी अलौकिक घटनाएँ हैं। इन दोनों घटनाओं से यह भी स्पष्ट है कि श्रीरामकृष्ण और श्रीसारदामणि का मिलन दैवी इच्छा और ईश्वरीय प्रयोजन से हुआ था।

इस विवाह के सम्बन्ध में बालिका सारदा को इतना ही स्मरण था — "खजूर पकने के दिनों में मेरा विवाह हुआ था, महीना मुझे याद नहीं है।... जब मैं कामारपुकुर गयी थी, तब मैंने वहाँ खजूर चुने थे। धर्मदास लाहा (स्थानीय जमींदार) ने आकर कहा, 'इसी लड़की के साथ विवाह हुआ है?' सूर्य के पिता अपनी गोद में मुझे कामारपुकुर ले गये थे।"

विवाह के बाद लड़केवाले नववधू को कामारपुकुर लिवा लाये। चन्द्रमणि के लिए वह दिन बड़े आनन्द का था। गरीबों के हृदय में क्या कोई इच्छा-आकांक्षा नहीं रहती? क्या मान-सम्मान का विचार उनमें नहीं रहता? मर्यादा-रक्षणार्थ विवाह के दिन नववधू को

की सुविधा उन्हें नहीं दी जाती, और इससे दोनों प्रकार की सार्थकताएँ भी पूर्ण हो जाती हैं। वर्तमान समय में विभिन्न देशों के व्यर्थ दाम्पत्य-जीवन, शिथिल पारिवारिक सम्बन्ध तथा उसके फलस्वरूप नीतिरहित व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और उसकी भीषण परिणति की ओर दृष्टिपात करते हुए हिन्दू-समाज के बालविवाह को विशेष त्रुटिपूर्ण मानना उचित नहीं प्रतीत होता।

महामानव के जीवन की प्रत्येक घटना में विशेष तात्पर्य रहता है। उनके जीवन के सारे अनुष्ठान कोई-न-कोई आदर्श सामने रखते हैं। श्रीरामकृष्ण और श्रीसारदा के जीवन-दृष्टिकोण से देखने पर पता चलता है कि उनका मिलन स्पष्ट रूप से एक पूर्ण और सफल दाम्पत्य-जीवन की ओर सबका ध्यान आकर्षित करता है।

सजाने के लिए चन्द्रमणि लाहाबाबू के घर से कुछ आभूषण ले आयी थीं। उनको लौटा देने का समय आ पहुँचा। पर अपनी प्राणप्रिय बहू से उन आभूषणों को वापस लेने की कल्पना मात्र से उनका हृदय काँप उठा। अत्यन्त व्यथित होकर वे आँचल से अपनी आँखें पोंछने लगीं और सारदा को हृदय से लगा लिया। श्रीरामकृष्ण को अपनी माता की इस विषम स्थिति का पता लगा। जब पत्नी गहरी नींद में सो गयी, तब उसके अंगों से उन्होंने एक-एक करके सारे आभूषण बड़ी सावधानी से उतार डाले और लाकर अपनी माता को दे दिये। जगते ही अश्रुमुख हो सारदा अपने अंगों को दिखाती हुई चन्द्रमणि से कहने लगी, "मेरे यहाँ-यहाँ पर जो गहने थे, वे कहाँ गये ?" चन्द्रमणि भला क्या उत्तर दें ? उनका हृदय विदीर्ण होने लगा ? स्नेह की पुतली को अपनी गोद में खींचकर वे कहने लगीं, "बेटी, रोओ मत, गदाई तुम्हारे लिए इनसे भी सुन्दर गहने बनवा देगा।"

उसी दिन बहू के चाचा आये। उन्हें सारी घटना मालूम हुई। वे इस पर अत्यन्त असन्तुष्ट हो कन्या को जयरामवाटी लिवा ले गये। परिजनों को सान्त्वना देते हुए श्रीरामकृष्ण परिहासपूर्वक कहने लगे, "चाहे वे कुछ भी क्यों न कहें और करें, पर उनसे विवाह तो बदल नहीं सकता!"

विवाह के बाद भी श्रीरामकृष्ण कामारपुकुर में एक वर्ष से अधिक रहे। उनके पूर्ण स्वस्थ हुए बिना चन्द्रमणि उन्हें कभी भी दक्षिणेश्वर जाने देने को प्रस्तुत नहीं थीं। इधर नववधू सातवें वर्ष में प्रविष्ट हुई। कुल-प्रथा के अनुसार पत्नी को अपने साथ लिवा लाने के लिए श्रीरामकृष्ण ससुराल गये।

सात वर्ष की बालिका सारदा स्वतः-प्रवृत्त हो लोटे में जल ले आयी और अपने स्वामी के चरण धोने लगी। फिर यत्नपूर्वक चरणों को पोंछ दिया। तत्पश्चात् ताड़-पत्र का एक छोटासा पंखा ले वह

धीरे-धीरे अपने नन्हे हाथों से पतिदेव को हवा करने लगी। उसका मुखमण्डल आनन्द और अपूर्व तृप्ति से उज्ज्वल हो उठा। आड़ से इस दृश्य को देखकर पड़ोस की महिलाएँ मुस्कराने लगीं। कल्पना के नेत्र से यदि इस दृश्य को देखा जाय, तो निःसन्देह भावुकों का हृदय स्वतः ही भावावेश से झूमने लगेगा। मानो वैकुण्ठ में लक्ष्मी विष्णु की चरण-सेवा कर रही हैं!

श्रीरामकृष्ण के साथ उनके भानजे हृदयराम भी जयरामवाटी गये हुए थे। वे हाथ में खिले हुए कमलों का एक गुच्छा ले अपनी वालिका मामी को ढूँढ़ने लगे। उन लोगों के आने का समाचार मिलते ही सारदा घर के एक कोने में छिप गयी थी। हृदयराम ने उसे ढूँढ़ निकाला और लज्जा से सिकुड़ी हुई अपनी मामी के चरणों की पूजा करते हुए उन्हें कमल के फूलों से ढक दिया। श्रीरामकृष्ण देव के साथ पहली वार अपने ससुराल आने की घटना को याद कर श्रीसारदा देवी ने भक्तों से कहा था, "मैं जव सात साल की थी, तव ठाकुर † मुझे लिवाने के लिए जयरामवाटी आये थे। विवाह के वाद पति-पत्नी के एक साथ जाने की प्रथा है न? उस समय उन्होंने मुझसे कहा था, 'यदि कोई तुमसे पूछे कि कितनी उमर में तुम्हारा विवाह हुआ है, तो तुम पाँच वर्ष वतलाना, सात वर्ष नहीं'।" वंगाल की प्रथा के अनुसार विवाह के वाद पति-पत्नी के एक साथ गमन को ही कहीं श्रीमाँ विवाह न समझ लें, सम्भवतः इसी लिए श्रीरामकृष्ण ने उनसे ऐसा कहा था।

एक दिन शुभ मुहूर्त देखकर अपनी पत्नी के साथ श्रीरामकृष्ण कामारपुकुर लौटे और उसके कुछ दिन वाद वे दक्षिणेश्वर चले गये। दक्षिणेश्वर लौट आते ही उनका वह भगवदोन्माद फिर से आरम्भ

† श्रीमाँ एवं अन्य भक्तगण भगवान श्रीरामकृष्ण देव को इसी नाम से सम्बोधित करते थे।

हो गया — पहले से कहीं अधिक तीव्र रूप से। पहले की ही तरह फिर से गात्र-दाह होने लगा। वक्षस्थल सारे समय आरक्त रहने लगा। आँखों से नींद दूर हो गयी। वे अपने को भूलकर पलकहीन नेत्रों से सर्वक्षण सर्वत्र सब वस्तुओं में नाना रूपों से जगन्माता के दर्शन करने लगे।

श्रीरामकृष्ण इधर दक्षिणेश्वर चले आये। उधर सारदामणि भी जयरामवाटी लौट गयीं। दक्षिणेश्वर लौटकर श्रीरामकृष्ण साधना में ऐसे तल्लीन हो गये कि उनके मन में से माता, भाई, पत्नी, संसार सबकी स्मृति तक विलुप्त हो गयी। सारदा देवी अपने पिता के घर पर ग्रामीण वातावरण में बड़ी होने लगीं। जागतिक दृष्टि से पिता के घर पर सारदा देवी का जीवन नितान्त दुःखमय था। पग-पग पर उन्हें गरीबी का सामना करना पड़ता। पर इस दारिद्रय की आँच में तपकर उनका जीवन समुज्ज्वल हो उठा था। दारिद्रय-दर्पण में ही संसार का वास्तविक रूप प्रतिबिम्बित हुआ था। उसी के फलस्वरूप उनके हृदय में दीन-दुखियों के प्रति अपार दया थी, पापी-तापियों के प्रति असीम करुणा थी। सन्तानहीन, धन-हीन, सुखहीन लोगों के प्रति समवेदना से उनका अन्तस्तल पीड़ित हो उठता था। इसी लिए उनका विकास हुआ शोकहारिणी मंगल-दायिनी के रूप में।

विवाह के बाद धीरे-धीरे सात वर्ष व्यतीत हो गये। सारदा-मणि तेरह वर्ष की हुई, शैशव को पार कर विकसित कैशोर में उनका पदार्पण हुआ। किन्तु इस दीर्घकाल के अन्दर अपने पतिदेव से उनका साक्षात्कार नहीं हो पाया। पतिदेव एक के बाद दूसरी साधना में संलग्न थे तथा समाधि के परमानन्द में तन्मय थे। इस बीच न तो वे कामारपुकुर ही आये और न किसी के बारे में उन्होंने कोई खोज-खबर ही ली।

पतिगृह में श्रीसारदा देवी की सास, जेठ, जेठानी तथा अन्यान्य आत्मीय थे। उनकी सास उन दिनों दक्षिणेश्वर में थीं। आत्मीयों की इच्छानुसार १३ वर्ष की उम्र में सारदा देवी कामारपुकुर आकर कुछ दिन वहाँ रहीं। उस समय वे नव-वधू थीं, स्थान भी नवीन था। गाँव की सीमा पर स्थित हालदार तालाव में नहाने के लिए अकेली जाने में उन्हें डर लगता था। पर दूसरा कोई उपाय न था। डरती हुई घर के पिछले दरवाजे से निकलकर वे इस आशा से खड़ी रहतीं कि कोई साथी मिल जाय। अपनी ही उम्र की आठ लड़कियों को वहाँ नहाने जाती देखकर, वे उनके साथ हो लेती थीं। सव कोई आपस में वातें करती हुई चलने लगतीं। चार लड़कियाँ उनके आगे-आगे और चार पीछे चलतीं। नहाने के वाद वे सभी उनके घर तक एक साथ आतीं। प्रतिदिन वे ही आठ लड़कियाँ नहाने के लिए जाते समय उनकी प्रतीक्षा किया करती थीं। वहुधा उनके मन में प्रश्न उठता, "ये कौन हैं? रोज ठीक नहाने के समय आती हैं?" वहुत दिनों के वद सारदा देवी को पता चला था कि वे उस गाँव की लड़कियाँ नहीं हैं। ... देवी की आठ सहचरियाँ — अष्टनायिकाएँ — देवी को सवकी दृष्टि के अगोचर घेरे रहती थीं।

दो महीने पति-गृह में निवास करने के वाद सारदामणि अपने पित्रालय लौट आयीं। फिर पाँच-छः महीने वाद पुनः कामारपुकुर गयीं। उस वार वहाँ पर डेढ़ महीने रहीं। उस समय भी श्रीरामकृष्ण दक्षिणेश्वर में थे।

* * * *

श्रीरामकृष्ण देव की समस्त धर्मों और सभी प्रकार के भावों की साधनाएँ समाप्त हो चुकी थीं। द्वादशवर्ष-व्यापी कठोर और अभूतपूर्व साधनाओं के वाद श्रीरामकृष्ण सिद्धि के स्वर्ण-शिखर पर आरूढ़ हो चुके थे। उन्होंने संसार के सम्मुख इस सत्य को स्थापित कर

दिया था — 'जितने मत, उतने ही पथ'। ब्रह्मानन्द के सुधा-सागर में उनका मन निमज्जित हो चुका था। छः महीने तक अविच्छिन्न रूप से आत्मानन्द में निमग्न रहने के उपरान्त श्रीरामकृष्ण को जगज्जननी का आदेश प्राप्त हुआ — "भावमुखी होकर रह"। जीव-जगत् के कल्याण के निमित्त मन को सहज-भूमि में लाना आवश्यक था; इसलिए ब्रह्मशक्ति की प्रेरणा से श्रीरामकृष्ण को कठिन उदर-पीड़ा हुई और उसके फलस्वरूप धीरे-धीरे उनका मन देह-भूमि पर उतरने लगा। उनका शरीर अस्थिमात्र हो चुका था। उनके कृश शरीर को देखकर रानी रासमणि के जमाई मथुरबाबू विचलित हो उठे। वर्षा के दिन निकट थे। वर्षाकालीन गंगा के जल से उनकी पेट की बीमारी कहीं अधिक न बढ़ जाय, इस आशंका से उनके सेवक मथुरानाथ ने चिकित्सकों के परामर्शानुसार कुछ दिन के लिए उन्हें कामारपुकुर भेजने का निश्चय किया।

श्रीरामकृष्ण कामारपुकुर गये। साथ में योगेश्वरी ब्राह्मणी और हृदयराम थे। लगभग सात वर्ष बाद उनको अपने समीप पाकर उनके आत्मीयवर्ग तथा गाँव के लोग आनन्द-विभोर हो उठे। वहाँ आते ही उन्होंने जयरामवाटी में समाचार भेजा, "ब्राह्मणी आयी हैं, तुम भी चली आओ।" इन सात वर्षों में श्रीरामकृष्ण ने जिनकी एक बार भी याद नहीं की, जिन्हें वे मानो एकदम भूले हुए थे, उन्हीं की अब परम आवश्यकता प्रतीत होने लगी। खबर मिलते ही सारदा देवी कामारपुकुर आ पहुँचीं।

जयरामवाटी में सारदामणि ने पिछले कुछ वर्षों में अपने पति-देव के बारे में बहुत-कुछ सुना था। फिर दीर्घकाल तक श्रीरामकृष्ण के कोई खोज-खबर न लेने के कारण उनका चित्त कुछ क्षुब्ध भी हो गया था। पर कामारपुकुर आते ही सारदा देवी के मन की सारी ग्लानियाँ दूर हो गयीं — मन संशयरहित हो गया — आँख-कान

का द्वन्द्व मिट गया। पतिदेव की स्नेह-ममता में उनका सारा क्षोभ वह गया। थोड़े ही दिनों में अपने देवतुल्य पतिदेव की सेवा का भार उन्होंने अपने ऊपर ले लिया। आन्तरिकता और प्रीति के द्वारा श्रीरामकृष्ण भी पत्नी को अपने अधिकाधिक समीप आकर्षित करने लगे और उनके जीवन को सर्वांग-सम्पूर्ण वनाने के लिए तत्पर हो उठे। एक ओर आँखों के सामने श्रीरामकृष्ण का त्याग-समुज्ज्वल महामहिमामय जीवन, नाना ईश्वरीय प्रसंग, उनका अपूर्व भावावेश जिस प्रकार सारदा देवी के हृदय पर गम्भीर प्रभाव डालने लगा, उसी प्रकार दूसरी ओर श्रीरामकृष्ण उन्हें संसार के छोटे-बड़े सभी कार्यों में निपुणता प्राप्त करने की उचित शिक्षा देने लगे। देव, ब्राह्मण, अतिथि और आर्त जनों की सेवा, गुरुजनों के प्रति श्रद्धा, अपने से छोटों के प्रति सेवा-यत्न और स्नेहपरायणता — यहाँ तक कि दिये में वत्ती किस प्रकार रखनी चाहिए, यह भी वतलाना उन्होंने नहीं छोड़ा। देश, काल और पात्र के अनुसार सवके साथ आचरण करने का उपदेश देना उनकी शिक्षा की विशेषता थी। विभिन्न परिस्थितियों के साथ सामंजस्य-स्थापन पर वे वहुत जोर डालते थे। वे अपनी पत्नी से यह भी कहते थे कि नाव या गाड़ी में चढ़ना सवसे पहले, पर उतरना सवसे अन्त में—सव देख-दाखकर उतरना, ताकि कोई चीज खोने न पाए। भगवच्चर्चा करते हुए एक दिन उन्होंने अपनी पत्नी से कहा, "चन्द्रमा जिस प्रकार सवका मामा है, श्रीभगवान भी उसी प्रकार सवके परम आत्मीय हैं। जो कोई उन्हें व्याकुल होकर पुकारता है, उनसे प्रीति करता है, वही उनके दर्शन करता है। यदि तुम उन्हें हृदय से पुकारो, तो तुम्हें भी उनके दर्शन मिलेंगे। भगवत्साक्षात्कार ही जीवन का ध्येय है, उसके विना जीवन निरर्थक है।" श्रीसारदा देवी ने अपने शिवतुल्य पतिदेव के समस्त उपदेशों और सारी शिक्षाओं को हृदय से ग्रहण किया था

तथा वेद-मन्त्रों की भाँति अपने जीवन में अक्षरशः उनका पालन किया था।

श्रीमाँ की पति-भक्ति जैसी अनुपम थी, सास तथा अन्य परिजनों के प्रति भी उनकी उसी प्रकार श्रद्धा, सेवा तथा ममत्व की भावना थी। अपने ससुराल की सारी वस्तुएँ उन्हें अत्यन्त प्रिय थीं। यद्यपि श्वशुर के दर्शन का सौभाग्य उन्हें प्राप्त नहीं हुआ था, फिर भी उनके देवोपम गुणों के सम्बन्ध में वे बड़े गर्व से कहा करतीं, "मेरे ससुर बड़े तेजस्वी और निष्ठासम्पन्न ब्राह्मण थे। उन्होंने जीवन में किसी से कभी कोई दान ग्रहण नहीं किया। यदि कोई स्वयं घर आकर भी उन्हें कुछ देना चाहता, तो भी वे उसे स्वीकार नहीं करते थे। उनसे छिपाकर जब कभी कोई मेरी सास के सम्मुख कुछ लाता, तो वे उससे श्रीरघुवीर का भोग लगाकर उसे सबको बाँट देती थीं। ससुर को यह पता लगने पर वे बहुत असन्तुष्ट होते थे। उनका विश्वास भी कितना प्रगाढ़ था! माँ शीतला देवी उनके साथ-साथ घूमा करती थीं। रात के अन्तिम पहर उठकर फूल लाना उनका नित्य का अभ्यास था। एक दिन की घटना है, वे फूल लाने लाहा के बाग में गये। लगभग नौ वर्ष की एक बालिका उनके पास आयी और कहने लगी, 'बाबा, इधर आओ, इधर की डालियों में बहुत से फूल हैं, मैं उन्हें झुकाती हूँ — तुम तोड़ लो।' उन्होंने पूछा, 'इस समय, यहाँ पर तुम कौन हो, बेटी?' उत्तर मिला, 'मैं हूँ, लाहा के घर में रहती हूँ।' (लाहा के घर पर नित्य शीतला देवी का पूजन होता था।) वे इस प्रकार के थे, तभी तो उनके घर में भगवान का आविर्भाव हुआ था।"

स्वास्थ्य सुधारने के लिए श्रीरामकृष्ण कामारपुकुर आये थे। गाँव की स्वास्थ्यप्रद जलवायु तथा निर्मल श्यामल वातावरण में थोड़े ही दिनों में वे बहुत-कुछ स्वस्थ हो उठे। उनके शरीर पर स्वास्थ्य

की स्निग्धता दिखायी देने लगी। गाँव के लोग एकत्र होकर उनसे ईश्वर-चर्चा सुना करते थे। जब वे भावाविष्ट हो जाते, तो श्रीमाँ उनकी ओर अत्यन्त विस्मित हो देखा करतीं। कभी-कभी अपने बचपन के साथियों के साथ श्रीरामकृष्ण ऐसी हँसी-दिल्लगी करते कि हँसते-हँसते लोगों के पेट में बल पड़ने लगते। तब ऐसा प्रतीत होता कि वे कितने साधारण व्यक्ति हैं। उनसे भागवत-प्रसंग सुनने के लिए काफी रात तक महिलाएँ भीड़ किये बैठी रहती थीं। और वे भी भावोन्मत्त होकर भगवच्चर्चा किया करते थे। सुनते-सुनते श्रीमाँ कभी-कभी सो जाती थीं। उन्हें निद्रित देखकर महिलाएँ जब जगाने जातीं और कहतीं, "इतनी अच्छी-अच्छी बातें हो रही हैं, और तुम सो पड़ीं?" तो श्रीरामकृष्ण उन्हें मना करते हुए कहते, "रहने दो, उसे न जगाओ। वह क्या यों ही सोयी है? इन बातों को सुनने से वह यहाँ नहीं रह सकती, तत्काल ही चल देगी।"— अपने स्वरूप-तत्त्व को सुनने से श्रीमाँ एकदम स्वरूप में लीन हो जायँगी!

श्रीरामकृष्ण का मन स्वभावतः ही ऊर्ध्वगामी था। सामान्य उद्दीपना होते ही वह असीम में डूब जाता था। इसलिए खाने-पीने की साधारण वासना का अवलम्बन कर वे अपने मन को जीव-भूमि में अटकाये रखते थे। कामारपुकुर आने पर प्रतिदिन सुबह होते ही वे कहने लगते, "आज यह साग खाना है, यही राँधना।" उनकी पत्नी और भौजाई तदनुसार भोजन बनातीं। एक दिन घर में बघार नहीं था। लक्ष्मी की माँ (श्रीरामकृष्ण देव की भौजाई) ने कहा, "नहीं है तो न सही, उसके बिना ही काम चल जायगा।" उनकी बात सुनकर श्रीरामकृष्ण कहने लगे, "अरे, यह कैसी बात है! नहीं है तो एक पैसे का मँगवा क्यों न लो! जिसमें जिस चीज की जरूरत है, उसके बिना काम कैसे चल सकता है? तुम

लोगों के इस वघार की सुगन्ध का आनन्द लेने के लिए ही तो मैं दक्षिणेश्वर से यहाँ आया हूँ, और तुम उसके विना ही काम चलाना चाहती हो!" यह सुनकर उनकी भौजाई अत्यन्त लज्जित हुईं और अविलम्ब वघार मँगवाने की व्यवस्था की गयी।

इन प्राचीन घटनाओं की स्मृतियाँ कभी-कभी श्रीमाँ के मुख से सुनने को मिलती थीं। वे कहतीं, "मैंने कभी उनको (श्रीरामकृष्ण को) निरानन्द नहीं देखा। चाहे पाँच वर्ष का वालक ही हो अथवा बूढ़ा, सभी के साथ वे आनन्दमग्न रहते थे। मैंने कभी उन्हें आनन्दरहित नहीं देखा।"

रसिकप्रवर श्रीरामकृष्ण अपनी भौजाई तथा पत्नी के साथ नाना प्रकार के हँसी-मजाक किया करते थे। ऐसी घटनाएँ वहुत ही आनन्द-दायक हैं।

कामारपुकुर में हृदयराम और श्रीरामकृष्ण भोजन कर रहे थे। उनकी भौजाई तथा पत्नी ने रसोई वनायी थी। उनकी भौजाई रसोई वनाने में सिद्धहस्त थीं — पत्नी ने रसोई वनाना हाल ही में सीखा था। भोजन करते हुए श्रीरामकृष्ण कौतुकपूर्वक कहने लगे, "ओ हृदू, यह जिसने वनायी है, वह तो रामदास वैद्य है।" फिर पत्नी की वनायी हुई वस्तु मुँह में डालते हुए वोले, "और यह श्रीनाथ सेन ने वनायी है।" श्रीनाथ सेन एक अनपढ़ और अनाड़ी वैद्य था। उनकी दृष्टि में लक्ष्मी की माँ तो अनुभवी वैद्य-जैसी थीं और पत्नी अनाड़ी वैद्य-जैसी। उनकी वात को सुनकर हृदयराम वोले, "सो तो ठीक ही है, पर तुम्हारा यह अनाड़ी वैद्य तुमको हर समय मिल सकता है, यहाँ तक कि हाथ-पैर दवाने के लिए भी। केवल वुलाना भर होगा। रामदास वैद्य की तो फीस अधिक है, फिर उसको सव समय पाना भी सम्भव नहीं। लोग भी पहले अनाड़ी वैद्य को ही वुलाते हैं — वह तुम्हारे लिए सदा का मित्र

है।" श्रीरामकृष्ण तब हँसते हुए बोले, "बात तो तू ठीक ही कह रहा है। वह वास्तव में मेरे लिए सदा प्राप्य है।"

बचपन से ही श्रीमाँ करुणा की जीती-जागती मूर्ति थीं। वे किसी का भी दुःख नहीं देख सकती थीं; दूसरे का दुःख देखकर उनका सोया हुआ मातृ-हृदय आलोड़ित हो उठता था। अपने मधुर व्यवहार से, स्नेह-अंचल से वे वेदना की कालिमा को पोंछ देती थीं। वे उस दुःख-भार को स्वयं अपने सिर ले लेती थीं। उनका हृदय इतना कोमल था कि सत्य यदि अप्रिय हो, तो उसे वे व्यक्त नहीं कर पातीं — इस भय से कि कहीं उससे दूसरे के हृदय में चोट न लगे। श्रीरामकृष्ण अपनी तन्त्र-साधना की गुरु भैरवी ब्राह्मणी पर माता-जैसी श्रद्धा करते थे। श्रीमाँ भी उनके साथ सास-जैसा व्यवहार करती थीं। ब्राह्मणी श्रीरामकृष्ण के साथ कामारपुकुर आयी हुई थीं — सेवा-शुश्रूपा के द्वारा श्रीमाँ ने उन्हें अपना बना लिया था। ब्राह्मणी को मिर्च बहुत प्रिय थी। वे चरपरा (झालदार) साग बनातीं और बहुओं को भी देती थीं। जब वे लक्ष्मी की माँ से पूछतीं कि साग कैसा बना है, तो लक्ष्मी की माँ कह उठतीं, "हाँ, पर चरपरा है!" उनकी बात सुनकर ब्राह्मणी का मुख मलिन हो जाता। तब वे श्रीमाँ से पूछतीं, "बताओ, बहू, साग कैसा बना है?" उस चरपरे साग को खाकर घूँघट के अन्दर आँखों को पोंछती हुई श्रीमाँ उत्तर देतीं, "बहुत अच्छा बना है, माँ।" उनके इस उत्तर से बुढ़िया का चेहरा तृप्ति से उज्ज्वल हो उठता। गर्व के साथ वे कहतीं, "बहू तो कहती है, अच्छा बना है, पर न जाने तुम्हें क्यों नहीं अच्छा लगता। भविष्य में अब तुमको नहीं दूँगी।"

श्रीरामकृष्ण उस समय कामारपुकुर में सात महीने रहे थे। उनके पवित्र सान्निध्य में श्रीमाँ को उस समय अनेक प्रकार की लौकिक तथा पारमार्थिक शिक्षाएँ प्राप्त हुईं। विशेषकर श्रीरामकृष्ण के

अनुपम जीवन ने उनके हृदय पर बड़ी गहरी छाप डाली थी। उससे उनके मन में, उनके समग्र जीवन में विपुल परिवर्तन और परिपूर्णता का भाव आया था। उनकी रहन-सहन, उनके प्रत्येक आचरण और कार्य में दिखायी पड़ती थी गम्भीर चिन्तनशीलता, निःस्वार्थता, महाप्राणता, मानव-दुःख-कातरता। इसके अतिरिक्त, अपने देवतुल्य पतिदेव से उन्हें जो प्रीति और आन्तरिकता का परिचय मिला, उससे उनके लिए यह विश्वास करना मानो असम्भव-सा हो उठा कि उनके पतिदेव वास्तव में संन्यासी हैं। संन्यासी के हृदय में क्या इतनी ममता और विगलित प्रेम रहता है? विह्वल होकर वे सोचने लगतीं कि दूसरों के लिए भले ही वे संन्यासी हों, पर मेरे साथ उनका सम्बन्ध दूसरा है। उन कतिपय दिनों में ही मानो दोनों आत्माओं का पूर्ण मिलन हो गया। उस अतीत की स्मृति का उल्लेख करते हुए श्रीमाँ ने भक्त रमणियों के समीप कहा था, "...इस समय से सदा ऐसा लगता था, मानो मेरे हृदय में आनन्द का पूर्णघट स्थापित हो चुका है। उस शान्त, निश्चल, दिव्य उल्लास से मेरा हृदय किस प्रकार भरा रहता था यह बतलाना मेरी सामर्थ्य से बाहर है।" तभी से श्रीमाँ के जीवन में अर्ध-प्रस्फुटित देवीत्व का विकास होने लगा। धीरे-धीरे वे अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होने लगीं। "वह तो सारदा—सरस्वती है।... ज्ञानप्रदान करने के लिए आयी है।"—अपनी सहधर्मिणी के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण का यह सार्थक वचन सत्य में परिणत होने लगा।

२

श्रीरामकृष्ण दक्षिणेश्वर चले गये । श्रीमाँ भी पुनः अपने माता-पिता की स्नेह-सुखद गोद में—श्यामल-शोभाविमण्डित जयरामवाटी के स्निग्ध वातावरण में लौट आयीं । आत्मीयों का स्नेह तो पूर्ववत् ही था । संसार के काम-काज तथा प्रेममय पतिदेव के ध्यान-चिन्तन में उनका समय आनन्द से बीतने लगा । उसके बाद सुदीर्घ चार वर्ष तक विस्मृति छायी रही । उनके हृदय के एकान्त कोने में प्रज्वलित आनन्द-मयी दीपशिखा मर्मवेदना की प्रबल वायु से मानो कम्पित होने लगी । उनके मन में नाना प्रकार की चिन्ताएँ उठने लगतीं—न तो उन्होंने मेरा कोई समाचार ही लिया और न वे स्वयं आये और न उन्होंने मुझे बुलाया ही । तो फिर क्या वे मुझे भूल गये ? उनके चरणों की शीतल छाया ही तो मेरी एकमात्र शान्ति की जगह है ! श्रीमाँ के विरह-व्यथातुर हृदय में यह क्रन्दन-ध्वनि गूँजती रहती ।

धीरे-धीरे श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में गाँव में चारों ओर तरह-तरह की बातें फैलने लगीं । श्रीमाँ जिन बातों को सुनना नहीं चाहतीं, पड़ोस की महिलाएँ स्वयं आकर जबरन् उन्हें सुना जातीं । बस 'अहा ! अहा !' कहकर अपनी सहानुभूति प्रकट करतीं । उन लोगों की दृष्टि में वे पागल की पत्नी बन चुकी थीं । व्यंग कसते हुए वे लोग कहने लगतीं, "अरी, श्यामा की लड़की तो पागल जमाई के साथ ब्याही गयी है !"

पति-निन्दा न सुननी पड़े इस हेतु श्रीमाँ ने पड़ोस की महिलाओं से मिलना-जुलना बन्द कर दिया । जब कभी उनकी इच्छा होती, तब

वे गाँव की भक्तिमती महिला भानु-बूआ के घर के बरामदे में अपना वस्त्रांचल बिछा, लेटकर समय काट देतीं।

श्रीरामकृष्ण के प्रथम दर्शन के दिन से ही साधनलब्ध अन्तर्दृष्टि-सम्पन्ना बालविधवा भानु-बूआ उनकी भगवद्बुद्धि से श्रद्धा-भक्ति किया करती थीं। गाँववालों की विभिन्न प्रकार की बातें सुनकर उन्होंने श्यामासुन्दरी से कहा था, "वहू, तुम्हारा जमाई शिव है—साक्षात् कृष्ण है। अभी जिस बात का तुम्हें विश्वास नहीं हो रहा है, भविष्य में उसी को तुम ठीक मानने लगोगी—मेरी यह बात याद रखना।"

श्रीरामकृष्ण कुल-प्रथा के अनुसार जब अपनी पत्नी को लिवाने जयरामबाटी आये थे, उस समय अपनी नातिन सारदा देवी से परिहास करते हुए भानु-बूआ ने गाना गाया था—"नातिन, तू तो रूपवती है, पर तुझे वर मिला है नंगा और बावला।"

दिनोंदिन श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में और भी अधिक प्रबल समालोचनाओं से गाँव भर गया।—सुनते हैं, वे कन्धे पर लाठी लिये नंगे होकर घूमा करते हैं, कंगालों का जूठन खाते हैं, मेहतर की तरह टट्टी साफ करते हैं, अल्ला-अल्ला जपते रहते हैं—और भी न जाने कितनी ही बातें! श्रीमाँ के हृदय की अव्यक्त वेदना को कौन समझे? वे आकाश की ओर ताकती हुई गहरे निःश्वास लेने लगतीं। सोचतीं—'लोगों का कहना कहीं सत्य हुआ तो? तब तो मेरे लिए दूर रहना उचित नहीं है।'—मन-ही-मन उन्होंने दक्षिणेश्वर जाने का निश्चय किया। अपनी इच्छा पूर्ण करने का अनुकूल अवसर भी उन्हें प्राप्त हुआ। होली की पूर्णिमा (२५ मार्च, १८७२ ई.) नजदीक थी। उस अवसर पर गाँव की बहुतसी महिलाएँ गंगा नहाने जाना चाहती थीं। श्रीमाँ भी उनके साथ चलने को प्रस्तुत हुईं। पुत्री के हृदय की भावना को ताड़कर रामचन्द्र स्वयं कन्या को लेकर दक्षिणेश्वर चलने को प्रस्तुत हुए।

तारकेश्वर होकर दक्षिणेश्वर तक का पैदल रास्ता लगभग ६०

मील का था। पैदल चलने में अनभ्यस्त श्रीमाँ अत्यन्त उल्लास के साथ एक के बाद दूसरे विस्तृत मैदानों को पार करती हुई आगे बढ़ने लगीं। पगडण्डियों की कठिन मिट्टी काँटे की तरह उनके कोमल चरणों में चुभने लगी। फिर भी इस भय से वे चुपचाप चलती रहीं कि कहीं पिताजी को उनके कष्ट का पता न लग जाय। जब कष्ट असह्य हो उठता, तब वे आँखें मूंदकर अपने हृदय के अन्तस्तल में—'आनन्द के पूर्ण घट' की ओर—अपने हृदय-देवता को देख लेती थीं। पर्वत को चीरती हुई नदी की तरह समस्त बाधाओं को पार करती हुई मानो सागर-संगम की ओर वे अग्रसर हुई जा रही थीं। हृदय-वल्लभ से मिलने के लिए श्रीराधा की भाँति अपार आशा, आनन्द और आवेग लेकर वे आगे बढ़ती जा रही थीं।

मार्ग के दोनों ओर विस्तृत मैदानों की उदार श्याम-शोभा चित्त को प्रफुल्लित कर रही थी। ताड़, नारियल, सुपारी तथा केले के वृक्षों से घिरे हुए छोटे-छोटे गाँव मानो चित्र-जैसे दिखायी दे रहे थे। कहीं-कहीं खिले हुए कमलों से भरे तालाब अपूर्व शोभा फैला रहे थे। बीच-बीच में साथियों के साथ कुछ देर विश्राम लेकर श्रीमाँ पुनः अव्यक्त आनन्द से उल्लसित होकर चलने लगती थीं। इस प्रकार दो-तीन दिन पैदल यात्रा करने के बाद वे मार्ग में ही भीषण ज्वर से पीड़ित हो गयीं। बाध्य होकर उनके पिता रामचन्द्र को एक चट्टी में आश्रय लेना पड़ा। ज्वर के कारण अत्यन्त विषाद से श्रीमाँ का हृदय खिन्न हो उठा। विषण्ण-हृदय से वे सोचने लगीं—अब शायद उनके दर्शन और चरण-सेवा का सौभाग्य न होगा। ग्रामीण किशोरी सारदा देवी लज्जा की प्रतिमूर्ति थीं, पर ज्वर के भीषण प्रकोप से रात में वे बेहोश पड़ी हुई थीं। उस समय उन्हें एक अलौकिक दर्शन प्राप्त हुआ। उन्होंने देखा कि एक चिकने काले रंग की बालिका की अंगकान्ति से चारों दिशाएँ प्रकाशित हो उठीं। वह उनके बिस्तर के एक ओर

बैठकर उनके शरीर और सिर पर अपने कोमल स्निग्ध हाथ फेरने लगी। उस स्नेह-शीतल स्पर्श से उनके शरीर की जलन दूर होने लगी। विस्मित होकर श्रीमाँ ने पूछा, "अरी, तुम कहाँ से आ रही हो?"

बालिका ने उत्तर दिया, "मैं दक्षिणेश्वर से आ रही हूँ।" पुलकित मन से श्रीमाँ बोलीं, "दक्षिणेश्वर से? मैं भी दक्षिणेश्वर जाने का सोच रही थी, उनको देखने और उनकी सेवा करने की बड़ी अभिलाषा थी। पर रास्ते में ही ज्वर हो आने के कारण मुझे निराश होना पड़ा।"

अत्यन्त आत्मीयता व्यक्त करती हुई उस बालिका ने कहा, "निराश होने की क्या बात है? तुम अवश्य दक्षिणेश्वर जाओगी। स्वस्थ होने पर वहाँ जाओगी, उनको देखोगी। तुम्हारे लिए ही तो मैंने उनको वहाँ रोक रखा है।"

यह सुनकर परम उत्कण्ठित हो श्रीमाँ ने पूछा, "अच्छा, भला, तुम मेरी कौन हो?"

अपनी सुन्दर आँखों से श्रीमाँ को देखते हुए उस बालिका ने हँसकर उत्तर दिया, "मैं तुम्हारी बहन हूँ।... डरने की क्या बात है? तुम अच्छी हो जाओगी।..."

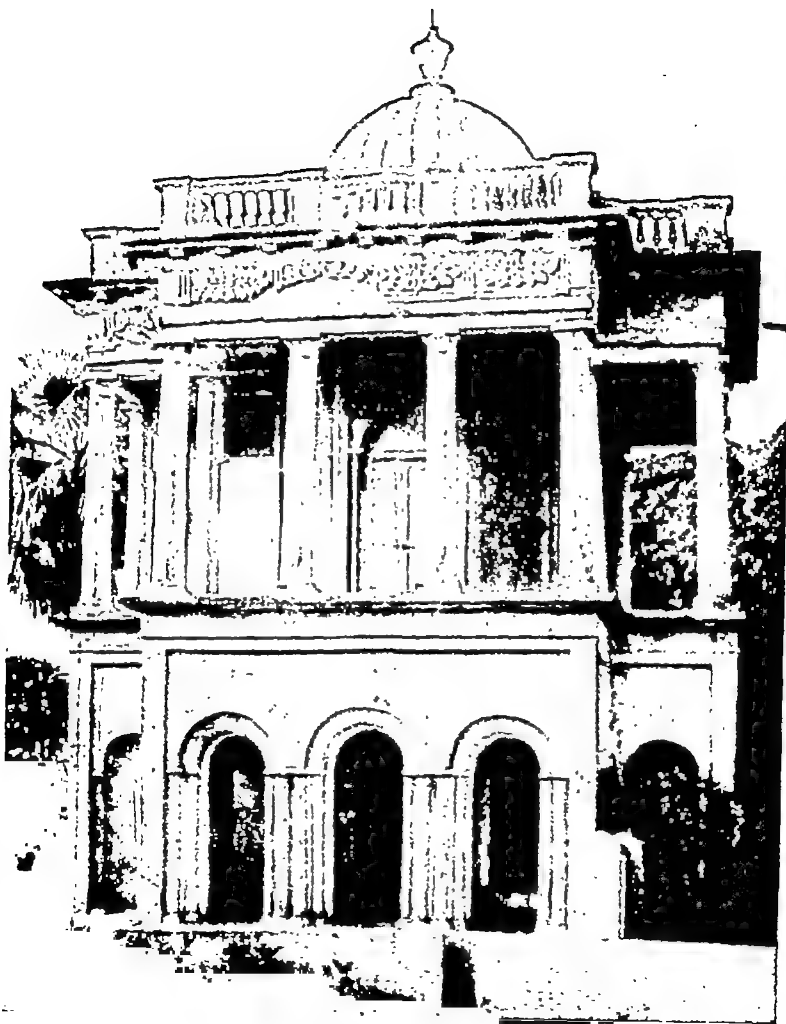
श्रीमाँ ने कहा, "अच्छा, इसी लिए तुम आयी हो?" इस प्रकार की बातचीत के बाद वे सो गयीं। श्रीकालीमाता बालिका का रूप धारण कर अपनी बीमार बहन को देखने आयी थीं!

दूसरे दिन रामचन्द्र ने देखा कि पुत्री का ज्वर उतर गया है। तब दोनों फिर आगे की ओर धीरे-धीरे बढ़ने लगे। कुछ दूर जाते ही सौभाग्य से एक पालकी मिल गयी। रास्ते में पुनः श्रीमाँ को ज्वर हो आया, किन्तु पिता से इसकी चर्चा करना उचित न समझ वे पालकी में चुपचाप बैठी रहीं।... क्रमशः सुदीर्घ मार्ग समाप्त हुआ। नाव से गंगाजी को पार कर वे सब दक्षिणेश्वर पहुँचे।

रात के लगभग नौ बजे दक्षिणेश्वर के घाट पर नाव के लगते ही श्रीरामकृष्ण के समीप उनके आगमन का समाचार पहुँचा। श्रीमाँ को नाव में ही उनकी आवाज सुनायी दी, वे हृदय से कह रहे थे, "अरे हृदू, अशुभ वेला तो नहीं है ? पहली बार आ रही है।" साथियों में से कुछ लोग नौबतखाने में और कुछ अन्यत्र चले गये। किन्तु श्रीमाँ सीधे श्रीरामकृष्ण के कमरे में पहुँचीं। घूंघट में पत्नी को देखते ही उल्लास के साथ वे कह उठे, "तुम आयी हो ? बड़ा अच्छा किया। अरे, चटाई बिछा दे।..." इन दो उक्तियों से ही श्रीमाँ का हृदय आनन्द से उद्वेलित हो उठा। उनके नेत्र डबडबा आये। कुछ खिन्नता के साथ श्रीरामकृष्ण बारम्बार कहने लगे, "तुम अब आयीं ? अब क्या मेरा सँझला-बाबू (दक्षिणेश्वर कालीमन्दिर की प्रतिष्ठात्री रानी रासमणि के जामाता, श्रीरामकृष्ण के प्रधान रसददार मथुरानाथ) जीवित है, जो तुम्हारी देख-भाल करेगा ? मेरा दाहिना हाथ टूट गया है। आज यदि सँझले-बाबू होते, तो वे तुम्हें महल में रखते।..."

पत्नी ज्वरग्रस्त होकर आयी है—यह सुनकर श्रीरामकृष्ण अत्यन्त उद्विग्न हो उठे। उसके सोने के लिए अपने कमरे में ही पृथक् व्यवस्था करने लगे। बहुत देर तक नाना प्रकार की बातें होती रहीं। जब श्रीमाँ ने नौबतखाने में अपनी सास के समीप जाने की इच्छा प्रकट की, तो श्रीरामकृष्ण ने बाधा देते हुए कहा, "नहीं, नहीं, वहाँ डाक्टर को दिखाने में असुविधा होगी; तुम यहीं रहो।" एक महिला के साथ श्रीमाँ वहीं सोयीं।

श्रीरामकृष्ण की देख-भाल, तत्परता और चिकित्सा के फलस्वरूप तीन-चार दिनों में ही श्रीमाँ स्वस्थ हो गयीं। उनके स्नेहपूर्ण आचरण से श्रीमाँ का हृदय पिघल उठा। अब तक मैं क्यों नहीं आयी—यह सोचकर वे स्वयं अपने ही ऊपर क्रोधित होने लगीं। उन्होंने यह अनुभव किया कि लोगों ने श्रीरामकृष्ण के बारे में जो अफवाहें फैलायी थीं,



दक्षिणेश्वर में नौबतखाना



उनमें सत्य का तनिक भी अंश न था। श्रीरामकृष्ण मुझे भूले नहीं हैं। इतना ही नहीं, वरन् मेरे प्रति उनका प्रेम भी बहुत है। वे पहले से कहीं अधिक प्रेममय हो गये हैं—मानो प्रेमरूपी भगवान ही हैं!—उच्छ्वसित-हृदय से श्रीमाँ इस प्रकार सोचने लगीं।

स्वस्थ होकर श्रीमाँ अपनी सास चन्द्रमणि देवी के समीप रहने नौवतखाने में चली गयीं और अत्यन्त आनन्द के साथ अपने पतिदेव एवं सास की सेवा में तत्पर हो गयीं। श्रीरामकृष्ण ने उस समय अपनी सहधर्मिणी के जीवन को अध्यात्म-सम्पद् से गौरवान्वित करने का निश्चय किया। उनके साथ वे तत्त्वालोचना किया करते और विभिन्न रूप से ध्यान-धारणा का उपदेश दिया करते थे। आत्मज्ञान में प्रतिष्ठित करने के लिए वे श्रीमाँ को साधना में लगाया करते थे। फिर साथ ही, घर के काम-काज, आत्मीयों के प्रति कर्तव्य-पालन इत्यादि संसार सम्बन्धी विभिन्न शिक्षाएँ भी उन्हें दिया करते थे।

श्रीरामकृष्ण ने स्वयं होकर पत्नी को नहीं बुलाया था। वे अपनी इच्छा से आयी थीं। अपने पतिदेव के साथ और भी घनिष्ठ रूप से परिचित होने तथा उनकी सेवा करके पत्नी के धर्म का पालन करने के उद्देश्य से वे स्वयं ही आयी थीं। स्वतः-प्रवृत्त हो जब श्रीमाँ दक्षिणेश्वर आयीं, तब श्रीरामकृष्ण को जगन्माता की इच्छा का पता चला। उन्होंने सोचा—उसके साथ मेरा जो सम्बन्ध है, वह दूर हटा रखने का तो नहीं है। उसे अलग रखकर मेरे जीवन की परिपूर्णता तो सम्भव नहीं है! उन्होंने अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया। उनके जीवन का एक और महान् दिव्यभाव क्रमशः स्पष्ट होने लगा। ब्रह्मवादी का यह वाक्य स्पष्ट हो उठा—"न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति, आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति।"

यह पहले ही कहा जा चुका है कि विवाह से पूर्व बालिका सारदामणि ने अपने भावी शिवतुल्य पतिदेव को स्वयं अपने हाथों से

संकेत करके वतलाया था। श्रीरामकृष्ण देव ने भी भावाविष्ट होकर अपनी भावी पत्नी के वारे में निर्देश किया था। उन्होंने सब कुछ जान-बूझकर ही कहा था। उनकी भावी पत्नी कौन हैं, उन दोनों में आपसी सम्बन्ध क्या है तथा उनके विवाह का प्रयोजन क्या है—यह सब भलीभाँति जानकर ही उन्होंने विवाह किया था। संसार में अगणित नर-नारी गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत कर रहे हैं। विशुद्ध दाम्पत्य-जीवन का आदर्श लोगों के समक्ष स्थापित करने के लिए ही उन दोनों का विवाह हुआ था एवं उस आदर्श की पूर्णता सम्पादन करने के निमित्त ही श्रीमाँ दक्षिणेश्वर आयी थीं। पुरुप और नारी में देह-सम्वन्धरहित केवल आत्माओं के मिलन से भी विमल और गम्भीर प्रेम हो सकता है, यह भी जगत् ने श्रीरामकृष्ण और सारदा देवी के जीवन से देखा। वास्तव में यही प्रेम परिपूर्ण प्रेम है, विरज-विशुद्ध प्रेम है। उसमें न तो उच्छ्वास है, न अवसाद और न अतृप्ति। इस प्रकार का दिव्य-प्रेम ही मनुष्य को पूर्णानन्द, प्रेमानन्द और आत्मानन्द में प्रतिष्ठित करता है तथा उसे देवत्व प्रदान करता है।

श्रीरामकृष्ण ने श्रीमाँ को नौवतखाने में भेजा, पर कुछ ही दिन वाद उन्होंने अपनी पत्नी को रात में अपने कमरे में ही रखने की इच्छा प्रकट की। इस समाचार से माता चन्द्रमणि के नेत्रों से आनन्दाश्रु प्रवाहित होने लगे।... दो खाटें पास-पास बिछायी गयीं। बड़ी खाट पर श्रीरामकृष्ण सोते थे और छोटी पर श्रीमाँ। इस प्रकार एक-दो दिन नहीं, पूरे आठ महीने वे दोनों एक साथ रहे।

श्रीरामकृष्ण स्वस्थ, सवल और पूर्ण युवक थे और सारदा देवी भी नवयुवती थीं। वे अत्यन्त घनिष्ठता के साथ आपस में मिल-जुलकर रह रहे थे। आनन्द के साथ उनके दिन व्यतीत हो रहे थे। ईश्वर-चर्चा में दोनों तन्मय हो जाते थे। फिर कभी-कभी श्रीरामकृष्ण अपनी पत्नी के साथ ऐसा हँसी-मजाक करते कि वे हँसते-हँसते लोट-पोट हो

जातीं। श्रीमाँ आनन्दपूर्वक अपने पतिदेव की सेवा में संलग्न रहतीं। वे उनके बिस्तर और कमरे को साफ कर देतीं, तेल मालिश कर उन्हें नहलातीं, रसोई बनाकर तथा समीप बैठकर इधर-उधर की बातें करती हुई उन्हें भोजन करातीं, फिर सोने के समय चरण-सेवा करतीं। उनके प्रत्येक कार्य में परम श्रद्धा और भक्ति-भाव छलकता रहता। श्रीमाँ के ये अधिकांश कार्यकलाप लोगों की दृष्टि से दूर रहते थे। इस प्रकार सारा दिन तो आनन्द से व्यतीत हो जाता, पर रात होते ही श्रीरामकृष्ण मानो आत्मविस्मृत हो उठते थे। रात जितनी अधिक होती, वे उतने ही भावाविष्ट होते जाते और उनकी समाधि भी गहरी होने लगती। कभी-कभी सारी रात समाधिस्थ रहकर वे देहातीत सत्ता में निमग्न रहते।

पहले दिनों एक दिन रात में श्रीरामकृष्ण ने एकान्त में अपनी पत्नी से पूछा, "क्या तुम मुझे संसार में खींचने के लिए आयी हो?"

मुक्त-कण्ठ से श्रीमाँ ने दृढ़ता से कहा, "नहीं तो, मैं तुमको संसार में भला क्यों खींचने चली? मैं तो तुमको इष्टप्राप्ति में सहयोग देने आयी हूँ।"

पुस्तकी-विद्या में अपटु तथा दूरस्थ गाँव से हाल ही में आयी हुई १९ वर्ष की युवती पत्नी का इस प्रकार का उत्तर वास्तव में एक अत्यन्त विस्मयप्रद और अमानवी बात थी। श्रीमाँ के उपर्युक्त कथन से हमें उनकी दैहिक तथा मानसिक स्थिति एवं उसकी परिणति का परिचय मिलता है और यह भी पता चलता है कि किस मनोवृत्ति को लेकर वे अपने पतिदेव के समीप दक्षिणेश्वर में आयी थीं।

श्रीरामकृष्ण तो सब प्रकार की साधनाओं में पूर्णता प्राप्त कर चुके थे। उनके जीवन में ऐसी कौनसी साधना अपूर्ण थी, जिसकी पूर्ति के लिए सारदा देवी का आगमन हुआ? हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि संसार के समक्ष ईश्वरीय दाम्पत्य-जीवन का आदर्श समुपस्थित

करना तब भी बाकी था। इसी लिए सारदा देवी का दक्षिणेश्वर में आगमन हुआ।

यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि क्या श्रीरामकृष्ण और सारदा देवी का गार्हस्थ्य-जीवन पूर्णांग हो पाया था? उनका जीवन तो संन्यासी एवं गृहस्थ दोनों के लिए आदर्शस्वरूप था, इसी लिए उनमें साधारण जीव-जैसा सम्बन्ध नहीं था। साथ ही, दैहिक-सम्बन्ध-रहित केवल आत्मिक मिलन से भी पुरुष और नारी में गहरा प्रेम हो सकता है— इसका महान् दृष्टान्त भी उनके जीवन से संसार के लोगों को देखने को मिला।

श्रीरामकृष्ण ने जिस प्रकार अपनी पत्नी से प्रश्न कर उनकी परीक्षा की थी, उसी प्रकार सारदा देवी भी एक दिन एकान्त में अपने पतिदेव की चरण-सेवा करते समय अकस्मात् पूछ बैठीं, "अच्छा, तुम मुझे किस दृष्टि से देखते हो?" श्रीरामकृष्ण ने निःसंकोच भाव से उत्तर दिया, "जो माँ मन्दिर में विद्यमान हैं, उन्हीं ने इस शरीर को जन्म दिया है और इस समय नौबतखाने में हैं; तथा वे ही अभी मेरे पैर दबा रही हैं। वास्तव में साक्षात् आनन्दमयी के रूप में तुम्हें देखता हूँ।" किस दृष्टिकोण को लेकर वे दोनों पति-पत्नी के रूप में मिलित हुए थे, इसका एक सुन्दर चित्र उपर्युक्त बातों द्वारा स्पष्ट हो उठता है। दैहिक-सम्बन्ध-रहित दो शुद्ध आत्माओं का यह अपार्थिव संयोग है, मानो यह शिव-शक्ति का सम्मिलन है। ईश्वरीय दाम्पत्य-जीवन का यह सर्वोत्तम आदर्श है।

एक रात श्रीमाँ श्रीरामकृष्ण के समीप गहरी नींद में सोयी हुई थीं। उस समय श्रीरामकृष्ण ने अपने मन से कहा, "रे मन! इसी का नाम नारी-शरीर है। लोगों की दृष्टि में यह परम उपादेय भोग्य-वस्तु है और इसे भोगने के लिए पुरुष सदा लालायित रहते हैं। पर इसे स्वीकार करने से देह में ही बँध जाना पड़ता है; सच्चिदानन्दघन ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। रे मन! अपनी भावनाओं को छिपाने का

प्रयत्न न कर, मन में एक और मुँह में दूसरा भाव न रख। सच-सच बता—तू इसे चाहता है, या भगवान को? यदि स्त्री-शरीर चाहता है, तो ले यह तेरे सामने है; ग्रहण कर।" इस प्रकार विचार करके ज्योंही उन्होंने अपनी पत्नी के शरीर को स्पर्श करने के लिए हाथ बढ़ाया, त्योंही उनका मन समाधिस्थ हो सच्चिदानन्द-सागर में लीन हो गया! फिर उस रात उनकी समाधि भंग नहीं हुई। दूसरे दिन बहुत देर तक भगवन्नाम सुनाने के पश्चात् तब कहीं उनका समाधिस्थ मन जागतिक भूमि में नीचे उतरा!

स्वस्थ-सबल श्रीरामकृष्ण अपनी नवयुवती पत्नी के साथ आठ महीने तक एक ही कमरे में रहे; पर उनके मन एवं शरीर में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं हुआ। इसी घटना को कोई-कोई श्रीरामकृष्ण-जीवन की 'अग्नि-परीक्षा' के नाम से पुकारते हैं। यदि श्रीरामकृष्ण साधारण साधक अथवा सिद्ध होते और सारदा देवी भी यदि उसी कोटि की महिला होतीं, तब तो बात दूसरी थी। पर श्रीरामकृष्ण जैसे देव-मानव थे, सारदा देवी भी उसी प्रकार नित्यसिद्धा महामानवी थीं। इसके सिवा स्त्रीमात्र के प्रति श्रीरामकृष्ण की मातृबुद्धि थी। सभी नारियों में उन्हें जगन्माता के दर्शन होते थे। 'स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु'—इस परमज्ञान में वे सुप्रतिष्ठित थे। हमें सारदा देवी के स्वरूप का परिचय क्रमशः प्राप्त होगा। उन दोनों में पारस्परिक शान्त समर्पण की भावना थी, दोनों पृथक् नहीं थे—शिव-शक्ति की भाँति दोनों मिलकर एक हो चुके थे।

श्रीरामकृष्ण ने किसी समय कहा था, "हम दोनों ही जगज्जननी की सहचरी हैं। अन्यथा पत्नी के साथ आठ महीने तक इस प्रकार रहना कैसे सम्भव होता?" दोनों ही महाशक्ति के अवतार थे, युग-धर्म संस्थापन के लिए एक दूसरे के पूरक थे, और उनका यह परिचय उनके एकत्र वास से मानो और भी प्रगाढ़ हुआ था।

श्रीरामकृष्ण ने स्वयं अपने को सामान्य वनाते हुए तथा श्रीमाँ के कामगन्धहीन चरित्र की प्रशंसा करते हुए किसी समय कहा था, "यदि वह (श्रीमाँ) इतनी भली न होती और विवेक खोकर मुझ पर जवरदस्ती करती, तो कौन कह सकता है कि मेरा संयम-वाँध टूटकर मुझमें देह-वुद्धि आती या नहीं ?"

आत्मस्थित, आत्माराम श्रीरामकृष्ण की अहंकार-शून्यता का यह एक और अनुपम दृष्टान्त है।

परम निर्विकार श्रीरामकृष्ण तथा विद्यारूपिणी सारदा देवी के इस ईश्वरीय दाम्पत्य-जीवन का अपूर्व परिचय हमें सारदा देवी की उक्ति में मिलता है। आगे चलकर उन्होंने स्त्री-भक्तों से कहा था, "वे (श्रीरामकृष्ण) ऐसे अपूर्व दिव्य भाव में डूवे रहते थे कि मैं उसका वर्णन नहीं कर सकती! भावाविष्ट होकर वे कितनी ही वातें किया करते। कभी हँसते, कभी रोते और कभी समाधि में निश्चल हो जाया करते थे! इस प्रकार सारी रात वीत जाती थी! वह कैसा अद्‌भुत आविर्भाव था—कैसा विलक्षण आवेश! देखकर भय से मेरा शरीर काँप उठता और मैं सोचती—कव सवेरा हो! भाव-समाधि के वारे में मैं उस समय कुछ भी नहीं जानती थी। किसी-किसी दिन उनकी दीर्घ-समाधि से व्याकुल होकर मुझे हृदय को वुलाना पड़ता था। वह आकर जव उनके कानों में भगवन्नाम सुनाता, तव कहीं उनकी समाधि टूटती थी। मुझे इस प्रकार भय से कष्ट पाते देखकर उन्होंने स्वयं सिखला दिया—इस-इस प्रकार का भाव देखने पर अमुक-अमुक नाम व वीजमन्त्र सुनाना। तव से मुझे पहले-जैसा भय नहीं होता था, उनके कथनानुसार नाम व वीजमन्त्र के सुनाने मात्र से वे सहजावस्था में आ जाया करते थे। †

---

† श्रीरामकृष्ण ने केवल वारह वर्ष ही नहीं; वरन् सारे जीवन विभिन्न देवियों की आराधना की थी तथा उनके दर्शन प्राप्त

फिर बहुत दिन इस प्रकार व्यतीत होने पर भी इस भय से कि कब उन्हें किस प्रकार का भावावेश हो जाय, मैं सारी रात जागती रहती थी। उन्हें जब इसका पता चला, तब उन्होंने नौबतखाने में मुझे अलग सोने के लिए कहा।"

नरलीला के अन्तिम दिन तक इसी प्रकार उनके गार्हस्थ्य-जीवन का अपूर्व मिलन तथा अविचल प्रगाढ़ प्रेम का क्रम बना रहा। इस आत्मिक मिलन के फलस्वरूप उनमें एक दूसरे के प्रति शान्त-समर्पण की भावना आयी थी। वे एक दूसरे की सुख-शान्ति के लिए सदा तत्पर रहते थे। जीवन में जो कुछ अमृतमय है, वह सब देकर भी मानो तृप्ति नहीं थी। मानो वे एक दूसरे के भीतर-बाहर व्याप्त होकर,

---

किये थे। श्रीमाँ को जीवों के उद्धार-कार्य में संलग्न करने से पूर्व श्रीरामकृष्ण ने उन्हें विभिन्न मन्त्रों तथा गुप्त साधन-तत्त्व के बारे में शिक्षाएँ प्रदान की थीं। श्रीमाँ ने भी तदनुसार साधना कर उनमें सिद्धि प्राप्त की थी। तभी तो उन्होंने मुक्त-हृदय से आध्यात्मिक शक्ति का वितरण किया था और लोगों को मुक्ति का मार्ग बतलाया था। किसी संन्यासी-सन्तान ने एक बार उनसे प्रश्न किया था कि वे इतने अधिक लोगों को मन्त्र-दीक्षा क्यों दे रही हैं? कारण, शिष्यों के कल्याण एवं अकल्याण का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना कोई साधारण बात नहीं है। माँ ने उत्तर दिया था, "ठाकुर ने तो कभी मुझे अधिक दीक्षा देने के लिए मना नहीं किया! ... फिर मैं जो मन्त्र देती हूँ, वे उनके ही दिये हुए मन्त्र हैं—सिद्ध-मन्त्र हैं—उनसे चैतन्य-शक्ति का संचार होगा।... मैं तो सब कुछ उन पर छोड़कर उनसे यही निवेदन करती हूँ—'मेरे बच्चे जहाँ कहीं भी हों, तुम उनका ध्यान रखना।...' उन्होंने मुझसे कहा था, 'जो भी तुम्हारे पास आयगा, उसके अन्तिम समय में स्वयं आकर उसे हाथ पकड़कर ले जाऊँगा'।"

परिपूर्ण होकर अवस्थित थे। दोनों आत्माएँ मिलकर एक हो गयी थीं। दो स्वर मिलकर एक सुमधुर संगीत सृष्ट कर रहे थे।

श्रीमाँ जिस समय दक्षिणेश्वर आयीं, तब उन्होंने उन्नीसवें वर्ष में पदार्पण किया था। लगभग ढाई महीने उन्हें अपने समीप रखने के बाद श्रीरामकृष्ण के मन में अपनी पत्नी की पूर्ण उपचार से षोड़शी अथवा त्रिपुरासुन्दरी के रूप में पूजा करने की अभिलाषा हुई। पर हाँ, इसका कहीं उल्लेख नहीं है कि इस प्रकार के पूजन के निमित्त श्रीरामकृष्ण को कोई दिव्य-प्रेरणा अथवा दिव्य-दर्शन प्राप्त हुआ था या नहीं। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीमाँ के स्वरूप के सम्बन्ध में उनको कोई विशेष दर्शन अवश्य मिला होगा, जिसके फलस्वरूप दस महाविद्याओं के अन्तर्गत और किसी रूप में उनकी पूजा न कर उन्होंने श्रीविद्या अथवा त्रिपुरासुन्दरी के रूप में उनकी पूजा की थी। शास्त्रों में भगवती के इस रूप का सर्वसौन्दर्यमयी तथा निखिल-कल्याण-दायिनी के रूप में ध्यान करने का विधान है। बाद में कहे हुए श्रीरामकृष्ण के एक-दो वाक्यों से हमारी इस धारणा की पुष्टि होती है। उन्होंने श्रीमाँ के सम्बन्ध में कहा था, "... रूप रहने से कहीं अशुद्ध मन से देखने पर लोगों का अकल्याण न हो, इसलिए इस बार रूप ढककर आना हुआ है।... वह सारदा है—ज्ञानदायिनी है। (संसार को) ज्ञान देने के लिए आयी है।" इत्यादि। किन्तु लौकिक दृष्टि से सारदा देवी उस समय भी तो अल्पवयस्का एक साधारण ग्रामीण रमणी मात्र थीं। फिर भी श्रीरामकृष्ण की सत्यदृष्टि के समक्ष उनका स्वरूप प्रकट हो चुका था, इसी लिए उन्होंने उनको देवी का गौरव प्रदान कर 'षोड़शी' के आसन पर अधिष्ठित किया था और सर्वत्र जगन्माता का दर्शन लाभ कर श्रीरामकृष्ण ने स्वयं पूजक बनकर भगवती की पूजा की थी।—"देवो भूत्वा देवं यजेत्।"

वँगला सन् १२७९ की ज्येष्ठ कृष्णा अमावस्या को फलहारिणी देवी के पूजन के दिन, श्रीरामकृष्ण ने षोड़शी-पूजा की थी।* श्रीरामकृष्ण के निर्देशानुसार उक्त रात्रि में देवी-पूजन का पूर्ण आयोजन उनके कमरे में ही किया गया था। वैसे तो विशेष पूजा का अनुष्ठान मन्दिर में यथारीति हुआ ही था।

श्रीरामकृष्ण ने पहले से ही अपनी पत्नी से इस पूजन का उल्लेख कर उन्हें यथासमय उनके कमरे में उपस्थित रहने के लिए कह रखा था। तदनुसार वे श्रीरामकृष्ण के कमरे में उपस्थित हुईं। पूजन-स्थल पर और कोई भी व्यक्ति नहीं था। श्रीमाँ के आते ही कमरे का दरवाजा वन्द कर दिया गया। रात के नौ वजे के वाद श्रीरामकृष्ण

---

* षोड़शी-पूजा के समय के सम्वन्ध में, स्वामी सारदानन्दजी रचित "श्रीश्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग" (हिन्दी में 'श्रीरामकृष्णलीलामृत') नामक ग्रन्थ में इस प्रकार का उल्लेख है कि वँगला सन् १२८० के ज्येष्ठ मास में श्रीरामकृष्ण ने षोड़शी-पूजा की थी। अर्थात् श्रीमाँ के प्रथम वार दक्षिणेश्वर-आगमन के चौदह-पन्द्रह महीने वाद यह पूजन हुआ था। "श्रीश्रीमाँ की वाणी" नामक वँगला ग्रन्थ के द्वितीय भाग के १२८ वें पृष्ठ में वर्णित है—"...दक्षिणेश्वर में डेढ़ महीने रहने के वाद ही उन्होंने षोड़शी-पूजा की।... इसके वाद में लगभग एक वर्ष दक्षिणेश्वर में रही।... अन्त में वीमार होकर देश गयी।" इत्यादि। श्रीरामकृष्ण देव और श्रीमाँ के जीवन की वहुतसी घटनाओं की पूर्वापरता और सामंजस्य की ओर ध्यान रखकर विचार करने से तथा "लीलाप्रसंग" के समकालीन "श्रीरामकृष्णकथामृत" एवं श्रीशशीभूषण घोष रचित "श्रीरामकृष्ण देव" (इस ग्रन्थ में श्रीमाँ के दक्षिणेश्वर-आगमन के तीन महीने के अन्दर ही षोड़शी-पूजन का उल्लेख है) इत्यादि ग्रन्थों के अनुशीलन से श्रीमाँ का कथन ही हमें समीचीन प्रतीत होता है।

पूजन-कार्य में संलग्न हुए। उनके संकेतानुसार श्रीमाँ पूजन के सुचित्रित पीठासन पर जा विराजीं। अनन्तर पूजन प्रारम्भ हुआ। श्रीरामकृष्ण ने साक्षात् देवीबुद्धि से उनके अंगों में विधिपूर्वक मन्त्रन्यास किया। पूर्ण षोड्शोपचार से पूजन करते समय श्रीमाँ क्रमशः प्रगाढ़ समाधि में निमग्न हो गयीं। श्रीरामकृष्ण ने उनके चरणों में महावर और भाल पर सिन्दूर लगाया, उन्हें पान-मिठाई खिलायी, उनको वस्त्र पहनाया। अर्ध-बाह्य अवस्था में मन्त्रोच्चारण करते हुए श्रीरामकृष्ण का मन भी गम्भीर समाधि में लीन हो गया। समाधिमग्न पूजक समाधिस्थ देवी के साथ आत्मस्वरूप में मिलकर एक हो गये !

धीरे-धीरे रात्रि का दूसरा प्रहर व्यतीत हुआ। श्रीरामकृष्ण का मन शनैः-शनैः अर्धबाह्य-दशा को प्राप्त हुआ। उन्होंने देवी के चरणों में आत्मनिवेदन किया। सम्पूर्ण साधनाओं के फल के साथ जप-माला इत्यादि देवी के पादपद्मों में समर्पित कर उन्हें प्रणाम करते हुए वे मन्त्रोच्चारण करने लगे —" सर्व-मंगल-मांगल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके। शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोऽस्तु ते।"

पूजन समाप्त हुआ। सारदा देवी अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हुईं। जगज्जननी के रूप में उनका विकास हुआ। उनमें विश्व-मातृत्व की अकुण्ठित चेतना जागृत हुई। पूजन समाप्त होने के बाद जब उनमें चेतना का संचार हुआ, तब मन-ही-मन श्रीरामकृष्ण को प्रणाम कर वे नौबतखाने में चली गयीं।

श्रीरामकृष्ण और श्रीमाँ के दाम्पत्य-जीवन का यही परिपूर्ण रूप एवं पूर्ण परिचय है। फिर भी लीलामयी ने पत्नी-रूप से जो लीलाएँ की हैं, वे भी कम मधुर नहीं हैं। पति-सेवा एवं पति-साहचर्य में उन्हें परम उल्लास और अनुपम तृप्ति का अनुभव होता था। सेवा, क्षमा, लज्जा, तुष्टि, पुष्टि एवं शान्ति-रूप से वे अपने त्यागमूर्ति, शिव-जैसे पतिदेव की सेवा में तन्मय रहती थीं।

श्रीमाँ ने बाद में श्रीरामकृष्ण की भतीजी लक्ष्मीमणि से उक्त पूजन के सम्बन्ध में कहा था। तब लक्ष्मीमणि ने हँसते-हँसते उनसे पूछा, "तुम तो इतनी लज्जावती हो, भला उन्होंने तुमको वस्त्र कैसे पहनाया ?" उन्होंने सरल भाव से उत्तर दिया, "मैं उस समय मानो कैसी-कैसी हो गयी थी।"

श्रीरामकृष्ण के द्वारा श्रीमाँ का पूजन पाश्चात्य देशों में प्रचलित नारी-जाति के प्रति सम्मान व श्रद्धा-प्रदर्शन जैसी घटना नहीं है। यह तो पूर्ण उपचारों के साथ भगवती की पूजा है!

उक्त षोड़शी-पूजन के बारे में कुछ गम्भीर विचार करने से मन में कुछ प्रश्नों का उठना स्वाभाविक है। जैसे — लौकिक दृष्टि के अनुसार रामकृष्ण देव और सारदा देवी का पति-पत्नी-सम्बन्ध। बिलकुल छुटपन में ही सारदा देवी का श्रीरामकृष्ण द्वारा पत्नी-रूप से ग्रहण। तेरह वर्ष तक विभिन्न परिस्थितियों में सारदा देवी का अपने पतिदेवमें देव-मानवत्व का अनुभव। अपने पतिदेव के अलौकिक जीवन के सम्बन्ध में उनका बहुत-कुछ सुनना। उनकी भाव-समाधि और महाभाव। प्रसिद्ध साधकों द्वारा श्रीरामकृष्ण को भगवान का अवतार घोषित करना,— इत्यादि-इत्यादि।

हिन्दू-धर्म के अनुसार नारियों को सबसे पहले यही शिक्षा दी जाती है कि पतिदेव ही परमगुरु अर्थात् श्रीभगवान के जीवित प्रतीक हैं। श्रीरामकृष्ण एवं सारदा देवी का जन्म सद्ब्राह्मण कुल में हुआ था। ब्राह्मणोचित गुणों का श्रेष्ठ विकास भी उन दोनों के जीवन में हुआ था। बचपन से ही पति-भक्ति एवं पति-परायणता का परिचय सारदा देवी के जीवन में हमें देखने को मिला है। साथ ही वे वीर, स्थिर, गम्भीर और तीक्ष्ण बुद्धिसम्पन्ना थीं। इतने पर भी उन्होंने निर्विकार और अति सहज रूप से अपने महामानव पतिदेव की पूर्ण उपचारों के साथ पूजा को कैसे स्वीकार किया ?

सम्मान को पचाना बहुत ही कठिन बात है। पूजा ग्रहण करना उससे भी कहीं कठिन है। फिर भी इतनी बड़ी घटना के उपरान्त हम देखते हैं कि सारदा देवी में किसी प्रकार के गर्व का उदय नहीं हुआ। पति-पत्नी रूप से किये जानेवाले उनके व्यवहारों में भी कोई अन्तर नहीं पड़ा। पहली ही जैसी निष्ठा के साथ वे अपने पतिदेव और सास की सेवा में संलग्न थीं। इतनी बड़ी घटना भी उन पर कुछ भी प्रभाव न डाल सकी। उनके लिए मानो वह एक साधारण-सी घटना थी।

माना कि श्रीरामकृष्ण उनकी पूजा कर सकते थे; क्योंकि नारीमात्र के प्रति उनकी देवी-भावना थी। वे मातृभाव-साधना की सिद्धि के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ हो चुके थे। किन्तु सारदा देवी ने — देवी की भाँति — उनकी पूजा को कैसे ग्रहण किया? हम तो समझते हैं कि सीता तथा अन्यान्य अवतारों की शक्ति की तरह जातिस्मरत्व के कारण श्रीमाँ को अपने स्वरूप के सम्बन्ध में सम्यक् ज्ञान था। वे कौन हैं, क्यों उन्होंने शरीर-धारण किया है, श्रीरामकृष्ण के साथ उनका क्या सम्बन्ध है, इत्यादि बातों को वे पूर्ण रूप से जानती थीं। सारदा देवी के जीवन-वृत्त की आलोचना से हमारी यह धारणा और भी अधिक पुष्ट होती है।

बहुत दिन बाद की एक घटना है। श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग पार्षद लाटू महाराज (स्वामी अद्भुतानन्दजी) हृदय में तीव्र वैराग्य ले श्रीरामकृष्ण के श्रीचरणों में उपस्थित हुए। एक दिन वे दक्षिणेश्वर में पंचवटी के नीचे बैठकर निश्चल भाव से ध्यान कर रहे थे। श्रीरामकृष्ण ने यह देखकर कहा, "अरे लाटू, तू जिसका ध्यान कर रहा है, वह तो नौबतखाने में बैठकर रोटी बेल रही है!"

श्रीरामकृष्ण ने लाटू के ज्ञाननेत्र खोल दिये। यही कारण था कि

वे श्रीमाँ को पहचानने में समर्थ हुए और सदा के लिए उनके सेवक बन गये। लाटू महाराज ने आगे चलकर अनुरागी भक्तों से कहा था, "माँ को पहचानना क्या साधारण बात है? ठाकुर ने उनकी पूजा की थी! इसी से समझ लो! माँ कौन हैं — यह तो एकमात्र ठाकुर ने ही पहचाना था। और कुछ-कुछ स्वामीजी (विवेकानन्द) ने जाना था। वे स्वयं लक्ष्मी हैं। उनकी करुणा को समझने के लिए बहुत तपस्या की आवश्यकता है।"—"सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये।"

षोड़शी-पूजन के बाद भी श्रीमाँ लगभग एक वर्ष तक दक्षिणेश्वर में रहीं। पूरे मन-प्राण से वे अपने पतिदेव और सास की सेवा में तत्पर रहती थीं। सर्वदा उच्च आध्यात्मिक भाव-भूमि में अधिरूढ़, बालस्वभाव श्रीरामकृष्ण, तथा चलने में असमर्थ, अत्यन्त वृद्धा उनकी जननी की ओर श्रीमाँ की सदैव सतर्क दृष्टि रहती थी। दोनों ही उनकी आन्तरिक सेवा से विमुग्ध थे और बहुत से विषयों में उन पर निर्भर रहा करते थे। उनकी सास नौबतखाने में रहती थीं। चाहे रात हो अथवा दिन, जब कभी उनकी सास उन्हें बुलातीं, वे उसी समय दौड़कर उनके समीप उपस्थित हो जाती थीं। जब कोई उनसे कहता कि इस प्रकार दौड़कर नीचे से ऊपर जाने में चौखट से सिर टकरा जाने का डर है (क्योंकि दरवाजा छोटा था), तो वे उत्तर देतीं, "भले ही टकराये, वे मेरे लिए गुरु हैं, माँ हैं। वे बूढ़ी हो गयी हैं! यदि मैं झटपट न जाऊँ, तो उनको असुविधा हो सकती है। इसी लिए मैं दौड़कर जाती हूँ।"

पति के प्रति श्रीमाँ का अत्यधिक आकर्षण और भक्ति देखकर श्रीरामकृष्ण के भानजे हृदयराम ने कुछ विनोद करते हुए अपनी मामी से कहा था, "सब कोई तो मामा को 'बाबा' कहते हैं, क्या तुम भी उनको 'बाबा' कह सकती हो?"

आवेग के साथ उन्होंने उत्तर दिया, "हृदय, यह तुम क्या कह रहे हो ? मेरे लिए तो वे बाबा, माँ, मित्र, बान्धव — सब कुछ हैं।"

उत्तर सुनकर हृदयराम स्तब्ध हो गये। उनसे और कोई जवाब न बना। श्रीरामकृष्ण तो वास्तव में श्रीमाँ की अन्तरात्मा के सारे सम्बन्धों के घनीभूत विग्रहस्वरूप थे।

* * * *

तंग स्थान में रहने और अत्यधिक परिश्रम के फलस्वरूप श्रीमाँ का सुन्दर स्वास्थ्य क्रमशः खराब होने लगा। तबियत बहुत बिगड़ जाने के कारण वे श्रीरामकृष्ण के निर्देशानुसार कामारपुकुर और जयरामबाटी गयीं। (यह घटना सम्भवतः बँगला सन् १२८० के श्रावण महीने की है।)

इसी वर्ष चैत्र की १४ वीं तिथि को श्रीमाँ के पिताजी का देहान्त हो गया। रामगतप्राण श्रीरामचन्द्र मुखर्जी शुभ रामनवमी के दिन अपने इष्टदेव का ध्यान करते हुए परलोक सिधारे। वे एक आदर्श पुरुष और आदर्श पिता थे। पिता के स्नेह से लालित-पालित उनकी बड़ी पुत्री श्रीमाँ को इससे कितना मार्मिक कष्ट हुआ होगा, यह हम सहज ही अनुमान कर सकते हैं। रामचन्द्र ही उस बड़े निर्धन परिवार के एकमात्र कर्णधार थे। अब सारा भार उनकी पत्नी श्यामासुन्दरी पर आ पड़ा। पति-वियोग का दारुण शोक हृदय में ले श्यामासुन्दरी को अपनी सन्तानों के पालन-पोषण के निमित्त कठोर परिश्रम में संलग्न होना पड़ा। दूसरों के धान कूटकर तथा अन्यान्य श्रम-साध्य कार्य करती हुई वे किसी प्रकार अपने परिवार का पालन करने लगीं। उन्होंने एक बार कहा था, "एक साथ सोलह-सोलह पक्के चूल्हे जलते रहते थे और मुझे उन पर रसोई बनानी पड़ती थी! इतना सब किस लिए?—एक हण्डी भात और एक टोकनी चावल के लिए!"

इधर अपनी अनुपस्थिति से श्रीरामकृष्ण और उनकी माता की सेवा-शुश्रूषा में असुविधा होने के कारण, पितृशोकातुरा श्रीमाँ को अपने पिता की मृत्यु के एक महीने बाद ही दक्षिणेश्वर लौटना पड़ा। दक्षिणेश्वर में नौबतखाने की तंग कोठरी में रहने और दूषित जल में नहाने इत्यादि के कारण कुछ दिनों में ही वे पुनः अस्वस्थ हो गयीं। उन्हें पेचिश की शिकायत हो गयी। फिर भी उन्होंने उस ओर ध्यान नहीं दिया। पति-सेवा और पति-परायणता ही उनका परम-पुरुषार्थ था। चिकित्सा होने लगी, रोग कभी घट जाता था और कभी बढ़ जाता, किन्तु उनकी एकनिष्ठ सेवा-साधना एक समान चलती रही। इस प्रकार लगभग एक वर्ष दक्षिणेश्वर में रहने के बाद श्रीरामकृष्ण ने ही उन्हें पुनः जयरामबाटी भेज दिया। यह सम्भवतः बँगला सन् १२८२ के आश्विन मास की घटना है।

वहाँ पहुँचने के कुछ दिन बाद ही श्रीमाँ पुनः पेचिश से पीड़ित हो गयीं। उनका शरीर इतना दुर्बल हो गया कि बार-बार उठकर शौच जाने की शक्ति उनमें न रही। इसलिए उन्हें बाध्य होकर पोखर के किनारे ही पड़ा रहना पड़ता था। एक दिन पोखर के जल में अपने अस्थिमात्र शरीर की परछाईं देखकर, वितृष्ण हो इस अनित्य शरीर को त्यागने का संकल्प करती हुई श्रीमाँ मन-ही-मन सोचने लगीं, "अरे राम, यही तो देह है! अब और क्यों रहना? देह को यहीं रहने दिया जाय, देह छोड़ देना ही उचित है।" किन्तु उनका जन्म तो दैवी-कार्य के निमित्त हुआ था।

कैसी अचिन्तनीय दैवी घटना के द्वारा श्रीमाँ उस कठिन रोग से मुक्त हुई थीं, इसका पता उन्हीं के कथन से चलता है, "... सारा शरीर सूज गया था — नाक-कान से पानी बहता था। उमेश (उनके छोटे भाई) ने कहा, 'दीदी, यहाँ पर सिंहवाहिनी देवी हैं, उनके सामने धरना दोगी?' उसी ने मुझे धरना देने के लिए राजी किया

और मुझे सहारा देते हुए वहाँ तक ले गया। पूर्णिमा की रात भी उस समय मेरे लिए अमावस्या की रात-जैसी थी—आँखों से दिखाई न देता था, लगातार पानी बहते-बहते आँख ही नष्ट हो गयी थी। वहाँ पहुँचकर मन्दिर के मण्डप में पड़ी रही। फिर से पेचिश का दौरा आया, रात में तीन-चार बार मुझे शौच जाना पड़ा। मेरी एक धर्म-माता थीं, वहीं पास ही उनका घर था। वे बीच-बीच में खाँसती रहती थीं, ताकि मैं न डरूँ। मैं वहीं पड़ी रही। कुछ ही क्षण बाद देवी, राधू की उमर की (बारह-तेरह वर्ष की) एक लड़की के रूप में, जो देखने में एक लोहार की लड़की-जैसी दिखाई देती थी, मेरी माँ के पास जाकर बोलीं, 'जाओ, जाओ, जल्दी उसे वहाँ से उठा लाओ। वह इतनी बीमार है, उसे क्या इस प्रकार छोड़ देना चाहिए? जाओ, अभी उसे ले आओ। यह दवा देना, इससे अच्छी हो जायगी।' इधर मुझे आदेश हुआ, 'लौकी के फूल के साथ नमक मिलाकर उसका रस आँखों में बूँद-बूँद करके डालना, आँखें ठीक हो जायँगी।' इसके बाद माँ को जो दवा मिली थी, वही मैं लेने लगी और आँखों में लौकी के फूल का रस डालती रही। उससे आँखों का मैल आँसू के साथ बाहर निकलने लगा। उसी दिन आँखें ठीक हो गयीं। दवा लेने से शरीर की सूजन भी घटने लगी। धीरे-धीरे शरीर की जड़ता दूर हुई और मैं ठीक हो गयी। लोगों के यह पूछने पर कि मैं कैसे स्वस्थ हुई, मैं कहा करती थी, 'माँ (सिंहवाहिनी) ने दवा दी है।' तभी से माँ के माहात्म्य का प्रचार होने लगा। मुझे भी दवा मिली और संसार भी धन्य हुआ। इसके आगे माँ को लोग उतना अधिक नहीं जानते थे।..."

दैवी-शक्ति अमोघ है—जगद्वासियों को इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिला। कल्याणमयी की करुण प्रार्थना से श्रीसिंहवाहिनी जगत् के कल्याण के निमित्त जाग्रत् हो उठीं—जिस प्रकार श्रीरामकृष्ण के आवाहन से दक्षिणेश्वर में भवतारिणी देवी जाग्रत् हो उठी थीं।



माता श्यामासुन्दरी

जयरामवाटी के उस अप्रसिद्ध देवी-मन्दिर में रोग-मुक्ति के लिए दूर-दूर से लोग आने लगे। उस देवी के स्थान की मिट्टी के सेवन से कठिन रोगाक्रान्त, यहाँ तक कि विषैले साँप के काटे हुए लोग भी अच्छे होने लगे। श्रीमाँ की भी सिंहवाहिनी के प्रति असीम भक्ति थी। वे प्रति-दिन उस मन्दिर की थोड़ीसी मृत्तिका देवी के प्रसाद के रूप में ग्रहण करती थीं।

श्रीमाँ की मातृ-भक्ति असाधारण थी। उनकी माता श्यामा-सुन्दरी भी अत्यन्त धर्मपरायणा और श्रद्धा-भक्ति की अधिकारिणी थीं। तभी तो देवी को गर्भ में धारण करने का उन्हें सौभाग्य प्राप्त हुआ था। श्रीमाँ का जन्म-रहस्य उनसे छिपा हुआ नहीं था; वे यह जानती थीं कि बहुत सौभाग्य के फलस्वरूप उन्हें सारदा कन्या-रूप से मिली है। श्रीमाँ अपनी इच्छानुसार पिता की सेवा नहीं कर पायी थीं। उनके हृदय में वह दुःख विशेष रूप से बना हुआ था। इसलिए जब तक उनकी माता जीवित थीं, उन्होंने प्राणपण से उनकी सेवा की थी।

श्यामासुन्दरी इतनी भक्तिमती थीं कि देवी जगद्धात्री ने उन्हें अयाचित वरदान देकर उनकी पूजा को स्वीकार किया था। पीछे श्रीमाँ ने भक्तों को इस बारे में कहा था, "... (सम्भवतः बँगला सन् १२८२ की बात है।) एक बार गाँव की काली-पूजा के समय नव मुखर्जी ने आपसी कलह के कारण हमारे यहाँ का पूजा के लिए रखा हुआ चावल नहीं लिया — उसे वापस कर दिया। मेरी माँ ने पूजा के लिए चावल तैयार करके रखा था। इस पर माँ रात-भर रोती रहीं और कहने लगीं, 'काली-माँ की पूजा के लिए मैंने चावल तैयार किया, मेरा चावल नहीं लिया! अब इस चावल का क्या होगा, कौन खायगा। यह काली का चावल है, इसे तो कोई खा नहीं सकता!' उसके बाद रात में क्या देखती हैं कि जगद्धात्री देवी, जिनके शरीर का रंग लाल है, दरवाजे के पास पाँव-पर-पाँव रखे बैठी हैं। उन्होंने मेरी

माँ को थपथपाकर जगाया। जगाकर कहा, 'तुम रो क्यों रही हो? काली का चावल मैं खाऊँगी। तुम्हें चिन्ता क्या है?' माँ ने पूछा, 'तुम कौन हो?' उन्होंने उत्तर दिया, 'मैं जगदम्बा हूँ, जगद्धात्री के रूप से तुम्हारी पूजा स्वीकार करूँगी।'

"दूसरे दिन माँ ने मुझसे पूछा, 'सारदा, बता तो, वह लाल रंगवाली, पाँव-पर-पाँव दिये हुए कौनसी देवी है?' मैंने कहा, 'वह तो जगद्धात्री है!' वे बोलीं, 'मैं जगद्धात्री-पूजा करूँगी।' जगद्धात्री-पूजा करने के लिए वे अस्थिर-सी हो गयीं। विश्वास के घर से उन्होंने लगभग तेरह मन धान मँगाया? उस समय लगातार वर्षा हो रही थी। ऐसा एक भी दिन नहीं जाता था, जिस दिन वर्षा न हो। माँ बोलीं, 'माँ, तुम्हारी पूजा कैसे होगी? मैं तो धान ही सुखा न सकी।' अन्त में जगद्धात्री देवी की कृपा से ऐसा हुआ कि चारों ओर तो वर्षा हो रही थी, पर माँ ने जिस चटाई पर धान सूखने डाला था, उस पर अच्छी धूप छायी रही। लकड़ी जलाकर जगद्धात्री देवी की मूर्ति को सुखाया गया और उस पर रंग चढ़ाया गया।... इस प्रकार जगद्धात्री-पूजन सम्पन्न हुआ।"

श्यामासुन्दरी ने पूजा के उपलक्ष में जमाई को लिवा लाने के लिए अपने पुत्र प्रसन्न को दक्षिणेश्वर भेजा। श्रीरामकृष्ण ने सब सुनने के बाद प्रसन्न से कहा, "माँ आयेंगी, माँ आयेंगी! अच्छा, अच्छा। पर तुम लोगों की स्थिति तो बड़ी खराब थी।" प्रसन्न बोले, "आप चलिए, मैं आपको ले चलने के लिए आया हूँ।" कुछ देर तक मौन रहने के बाद श्रीरामकृष्ण ने कहा, "ठीक है, यही मेरा जाना हो गया; तू जा और पूजा कर। अच्छी बात है, इससे तुम लोगों का कल्याण होगा।"

बड़े समारोह के साथ जगद्धात्री-पूजन सम्पन्न हुआ। गाँव के सभी लोगों को निमन्त्रित किया गया। सभी ने देवी का प्रसाद पाया। प्रतिमा-विसर्जन के समय श्यामासुन्दरी जगद्धात्री के कान के पास मुँह

ले जाकर वोलीं, " माँ जगाई, अगले वर्ष फिर आना। मैं तुम्हारे लिए साल भर सव इन्तजाम करती रहूँगी।"

दूसरे वर्ष श्यामासुन्दरी ने श्रीमाँ से कहा, " देखो, तुम भी कुछ देना; मेरी जगाई का पूजन होगा।" कुछ असन्तोष के साथ श्रीमाँ ने उत्तर दिया, " एक वार तो पूजन हो ही चुका है, फिर वार-वार क्या आवश्यकता है? कोई जरूरत नहीं, मुझसे कुछ न होगा।" रात में श्रीमाँ ने स्वप्न देखा कि तीन देवियाँ——जगद्धात्री एवं उनकी दो सहेलियाँ जया और विजया——एक साथ आयी हैं और करुण-स्वर से कह रही हैं, " तो फिर हम जायें ?" श्रीमाँ ने पूछा, " तुम लोग कौन हो ?" देवी ने उत्तर दिया, " मैं जगद्धात्री हूँ।" यह सुनते ही घव-राती हुई श्रीमाँ वोलीं, " नहीं, तुम लोग कहाँ जाओगी? नहीं, नहीं, तुम कहाँ जाओगी? यहीं रहो, मैंने जाने के लिए तो नहीं कहा।"

तव से जयरामवाटी में प्रतिवर्ष जगद्धात्री-पूजन होता रहा। श्रीमाँ जव तक स्थूल शरीर में रहीं, तव तक प्रायः प्रतिवर्ष स्वयं जयरामवाटी में उपस्थित होकर उक्त पूजन का आयोजन करती थीं।

अपनी जननी की धार्मिक भावनाओं के सम्वन्ध में श्रीमाँ कहती थीं, " मेरी माँ साक्षात् लक्ष्मी-जैसी थीं।... वे कहा करती थीं, 'जव तक मैं हूँ, तव तक ब्रह्मा, विष्णु, जगदम्वा, महादेव आदि सव कोई विद्यमान हैं। जव मैं चल दूँगी, तव ये लोग भी मेरे साथ-साथ चल देंगे। (अपनी वहुओं की ओर संकेत कर) क्या तुम लोगों से इनका आदर-सत्कार हो सकता है? मेरा संसार तो भक्त और भगवान का संसार है'।" समस्त देवी-देवताओं के प्रति उनका दैवी वात्सल्य-भाव और अपत्य-स्नेह था। वे सव मानो उनकी दृष्टि में आत्मीय-स्वजन थे——एक ही परिवार के थे। देवी-देवताओं के प्रति उनका कैसा सहज और सरल व्यवहार था!

जगद्धात्री-पूजा के कुछ महीनों वाद (सम्भवतः वँगला सन् १२८३

के चैत्र अथवा १२८४ के वैशाख में) श्रीमाँ कुछ स्वस्थ होकर पुनः पति-सेवा के लिए दक्षिणेश्वर पहुँचीं। तब तक श्रीरामकृष्ण की माता चन्द्रमणि देवी का स्वर्गवास हो चुका था। (बँगला सन् १२८२ के फाल्गुन महीने की १६ वीं तिथि को उनका परलोकवास हुआ था।) माता की मृत्यु से श्रीरामकृष्ण बालक की भाँति रोये थे। उन्होंने शास्त्रानुसार संन्यास ग्रहण किया था। संन्यासियों को श्राद्ध-कर्मादि करने का अधिकार नहीं है। फिर भी श्रीरामकृष्ण व्याकुल होकर गंगा-जल से तर्पण करने को प्रस्तुत हुए। किन्तु उनसे तर्पण न हो सका; उँगलियों के बीच में से होकर अंजलि का सारा पानी बह गया। (इस प्रकार की अवस्था को शास्त्रों में 'गलित-कर्म' कहा गया है।) इसलिए श्रीरामकृष्ण ने गंगाजी में खड़े होकर रोते हुए आँसुओं के द्वारा तर्पण कर पुत्र के कर्तव्य का पालन किया था।

चन्द्रमणि का अन्तिम काल उपस्थित होने पर उनको गंगाजी के तट पर लाकर शास्त्रीय प्रथा के अनुसार उनके शरीर को गंगा-स्पर्श कराया गया। श्रीरामकृष्ण ने फूल, चन्दन और तुलसीदल से अपनी माता के चरणों की पूजा की।

श्रीदुर्गा-सप्तशती में कहा गया है—'या देवी सर्वभूतेषु मातृ-रूपेण संस्थिता'। जो सर्वभूतों में चिन्मयी-रूप से विद्यमान हैं, उनकी स्थिति मातृ-रूप से भी है। श्रीरामकृष्ण की माता चन्द्रमणि देवी जब से (१८६५ ई. में) दक्षिणेश्वर आयी थीं, तब से श्रीरामकृष्ण प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर सर्वप्रथम अपनी माता की चरण-वन्दना करते थे। तदनन्तर वे मन्दिर में जाते थे। जननी जगज्जननी का ही एक दूसरा रूप है—स्थूल प्रकाश है।

'मातृदेवो भव'। चन्द्रमणि भी देवी थीं। श्रीरामकृष्ण की मातृ-भक्ति असाधारण थी। माता को कहीं दुःख न हो इसलिए उन्होंने उनसे छिपाकर संन्यास ग्रहण किया था। वे उनके लिए रोती

रहेंगी — यह सोचकर वृन्दावन जाकर वहाँ श्रीरामकृष्ण नहीं रह सके। यहाँ पर हमें आदर्श मानव — आदर्श पुत्र के रूप में श्रीरामकृष्ण का परिचय मिलता है। मोह से अतीत अवस्था में प्रतिष्ठित होकर भी उनमें सांसारिक उत्तरदायित्व एवं स्नेह-ममता की कमी नहीं थी।

चन्द्रमणि आदर्श रमणी थीं। देव, द्विज एवं आर्तजनों की सेवा में अपना सारा जीवन उत्सर्ग कर अन्त में वे गंगातट पर उपस्थित हुईं। लगभग १२ वर्ष तक पवित्र गंगातट-स्थित देवी-मन्दिर में निवास करने के वाद १८७६ ई. की २७ फरवरी को उन्होंने महाप्रयाण किया।

वे सरलता की प्रतिमूर्ति थीं। भगवान को छोड़कर और किसी भी वस्तु की ओर उनका आकर्षण नहीं था। सांसारिक वैभवों से वे सदा उदासीन थीं। मथुरवावू श्रीरामकृष्ण को 'वावा' कहते थे। चन्द्रमणि देवी जव से दक्षिणेश्वर पधारीं, तभी से वे उनको 'दादी' कहा करते थे। मथुरवावू श्रीरामकृष्ण को कुछ भी नहीं दे पाये थे। एक वार उन्होंने श्रीरामकृष्ण के नाम एक जमींदारी लिख देनी चाही थी, इस पर उन्हें काफी भर्त्सना सुननी पड़ी थी। अतः उनके मन में वहुत ही खेद था। मथुरवावू ने एक दिन 'दादी' से कहा, "तुम यदि मुझे पराया न समझो, तो जो इच्छा हो, मुझसे माँग लो।" वहुत देर तक सोच-विचार करने के वाद भी वृद्धा को किसी वस्तु का अभाव प्रतीत नहीं हुआ। अकस्मात् उन्हें ख्याल हुआ कि उनके खाने का तमाकू खतम हो आया है। तव वे हँसती हुई वोलीं, "अव मुझे याद आया। यदि तुम कुछ देना ही चाहते हो, तो एक आने का खाने का तमाकू मँगवा देना।" उनकी वातें सुनकर मथुरवावू के नेत्र सजल हो उठे। आवेश के साथ उन्होंने 'दादी' को प्रणाम किया और मन-ही-मन सोचने लगे, "माँ अगर ऐसी न हो, तो क्या इस प्रकार त्यागी पुत्र हो सकता है?"

सास की मृत्यु से श्रीमाँ भी अत्यन्त शोकातुरा हुईं। अवकी वार दक्षिणेश्वर आकर नौवतखाने के सीमित स्थान में उन्हें प्रायः अकेली ही रहना पड़ता था। उनके रहने की असुविधा को दूर करने के निमित्त श्रीरामकृष्ण से अनुमति लेकर उनके एक भक्त-सेवक शम्भुनाथ मल्लिक ने पहले ही से काली-मन्दिर के समीप एक टुकड़ा जमीन खरीदकर वहाँ श्रीमाँ के रहने के लिए एक झोपड़ी वनवा रखी थी। (उक्त जमीन की लिखा-पढ़ी ११ अप्रैल, १८७६ ई. को हुई थी।) अवकी वार दक्षिणेश्वर आने के वाद श्रीरामकृष्ण की व्यवस्थानुसार हृदयराम की धर्मपत्नी तथा एक परिचारिका के साथ श्रीमाँ उसी झोपड़ी में रहने लगीं।

शम्भुनाथ और उनकी पुण्यवती धर्मपत्नी देवता-बुद्धि से जिस प्रकार श्रीरामकृष्ण पर श्रद्धा करते थे, उसी प्रकार श्रीमाँ के प्रति भी उनकी अचला भक्ति थी। प्रत्येक "जय मंगलवार" के दिन श्रीमाँ को अपने घर लाकर वे देवी-भाव से षोड़शोपचार के साथ उनकी चरण-पूजा किया करते थे।

यद्यपि श्रीमाँ को श्रीरामकृष्ण के कमरे से कुछ दूरी पर रहना पड़ता था, फिर भी प्रतिदिन श्रीरामकृष्ण की रुचि एवं आवश्यकता-नुसार रसोई वनाकर वे दोपहर में मन्दिर जाकर, उनके समीप वैठकर उन्हें भोजन करा आया करती थीं तथा उनकी अन्यान्य सेवा आदि भी किया करती थीं। श्रीरामकृष्ण रात में स्वल्पाहार करते थे। काली की प्रसादी वस्तु थोड़ासा ले वे जल पी लेते थे। इसलिए रात में भोजन कराने के लिए श्रीमाँ को श्रीरामकृष्ण के समीप जाने की आवश्यकता नहीं होती थी।

किसी-किसी दिन श्रीरामकृष्ण अपराह्न में श्रीमाँ की देख-भाल के लिए झोपड़ी में पधारते थे, पर वह भी थोड़े समय के लिए। इसी प्रकार एक दिन वर्षाकाल में श्रीरामकृष्ण झोपड़ी में आये ही थे कि

मूसलाधार वर्षा होने लगी। काफी रात तक वर्षा का क्रम न टूटा। उस रात अपने कमरे में लौटना श्रीरामकृष्ण के लिए सम्भव न हो सका, अतः बाध्य होकर उन्हें रात वहीं बितानी पड़ी। श्रीमाँ ने उनके लिए सामान्य कुछ बना दिया। भोजन करते समय परिहास के साथ श्रीरामकृष्ण बोले, "काली-माँ के पुजारी रात में घर जाते हैं न? मैं भी उसी प्रकार आज यहाँ आया हूँ।" यह सुनकर सबका हृदय अपनेपन के रस से परिपूर्ण हो उठा।

श्रीमाँ को उस झोपड़ी में रहते कुछ ही दिन हुए थे कि श्रीरामकृष्ण को कठिन पेचिश की बीमारी हो गयी। क्रमशः वे इतने दुर्बल हो गये कि बार-बार झाऊ के नीचे शौच जाना उनके लिए असम्भव हो उठा। उनके कमरे के बरामदे को घेरकर वहीं एक परई (मिट्टी का बड़ा कसौरा) रख दी गयी। उसी में वे शौच जाते थे। श्रीमाँ ही उनकी सेवा-शुश्रूषा करती थीं। टट्टी साफ करना, आवश्यकतानुसार पथ्य की भी व्यवस्था करना, इत्यादि सभी कार्य उन्हें करने पड़ते थे। किन्तु रात्रि में उनकी सेवा की बड़ी असुविधा होने लगी। ऐसे समय दैवी इच्छा से काशी की एक पुरानी साधिका दक्षिणेश्वर आयीं। श्रीरामकृष्ण की अवस्था देखकर स्वतः-प्रवृत्त हो उन्होंने स्वयं उनकी सेवा का भार ग्रहण किया। उन्होंने एक दिन श्रीमाँ से कहा, "माँ, वे इतने बीमार हैं और तुम अलग रहती हो?"

श्रीमाँ ने उत्तर दिया, "क्या करूँ, माताजी, भानजे की बहू को मैं अकेली कैसे छोड़ दूँ? हृदय तो उनके पास है।"

महिला साधिका ने कहा, "भले ही वह अकेली रहे, उसके लिए वे लोग उचित व्यवस्था कर देंगे। उन्हें छोड़कर इस समय अलग रहना क्या तुम्हारे लिए उचित है?"

श्रीमाँ झोपड़ी से नौबतखाने चली आयीं और सारे समय श्रीरामकृष्ण की सेवा में तत्पर हुई।

यद्यपि इतनी छोटी अवस्था में श्रीरामकृष्ण के साथ श्रीमाँ का विवाह हुआ था तथा सत्रह-अठारह वर्षों से पतिदेव के साथ उनका घनिष्ठ परिचय था, फिर भी वे घूँघट के अन्दर से ही अपने पतिदेव के साथ बातें किया करती थीं। वे स्वभाव से ही बड़ी लज्जाशीला थीं। इसके सिवा उस समय बंगाल के गाँवों में प्रायः उसी प्रकार की प्रथा प्रचलित थी। (इसमें सन्देह नहीं कि ऐसी प्रथा तथा पति-पत्नी के बीच इस प्रकार का आचरण आजकल के प्रगतिवादियों की दृष्टि में विशेष कौतुकप्रद है।) इसी समय की बात है, एक दिन रात्रि में काशी की साधिका ने श्रीरामकृष्ण के सामने श्रीमाँ का घूँघट खोल दिया। आत्माराम श्रीरामकृष्ण उस समय भावावेश में नाना ईश्वरीय प्रसंग में तन्मय हो गये। दोनों महिलाएँ भी उस भगवत्-प्रसंग में इस प्रकार विमुग्ध हो गयीं कि देश-काल की सीमा को उल्लंघन कर उनके मन दिव्य लोक में विचरण करने लगे। आश्चर्य-वक्ता और अवाक्-श्रोता! सारी रात उसी तन्मयता में व्यतीत हो गयी। जब उनमें चेतना लौटी, उस समय प्रातःकालीन अरुण-आभा चारों ओर फैल चुकी थी।

इसके बाद श्रीमाँ कब जयरामबाटी गयी थीं, इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। किन्तु चौथी बार अपने दक्षिणेश्वर-आगमन के सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं कहा था, "उसके बाद माँ, लक्ष्मी तथा अन्य कुछ लोगों के साथ मैं दक्षिणेश्वर आयी। आते समय तारकेश्वर में अपना केश-नख देती आयी, क्योंकि गत बीमारी में मैंने ऐसी ही मानता की थी। साथ में अपने भाई प्रसन्न के रहने के कारण कलकत्ते में पहले उसके यहाँ जाना पड़ा था। यह फागुन या चैत की बात है।"

इसी समय कलकत्ते में एक मजेदार घटना हुई थी। श्रीमाँ बड़े आनन्दपूर्वक अपने भक्तों से इसका उल्लेख करती थीं, "पहले जब मैं

कलकत्ता आयी, उसके पहले मैंने कभी नल नहीं देखा था। जब मैं नलघर में गयी, तो मुझे साँप की-सी फुफकार सुनाई पड़ी। मैं डरकर भागती हुई घर की स्त्रियों के पास पहुँचकर कहने लगी, 'चलो, जल्दी चलो, देखो, नल के अन्दर कोई साँप बैठा हुआ है और फुफकार रहा है।' मेरी बातें सुनकर हँसती हुई वे बोलीं, 'नहीं, नहीं, वह साँप नहीं है। पानी आने से पहले नल में वैसी आवाज होती है।' तब तो मैं भी हँसती हुई लोट-पोट हो गयी।" और यह कहकर वे खूब हँसती थीं। श्रीमाँ की सरलता देखकर सुननेवाले भी हँसने लगते।

कलकत्ते से दूसरे दिन सब लोग दक्षिणेश्वर पहुँचे। उन लोगों के पहुँचते ही पता नहीं हृदयराम क्या सोचकर कहने लगे, "तुम लोग क्यों आये? यहाँ आने का क्या मतलब है?"—ऐसा कहकर उन लोगों के प्रति बड़ी उपेक्षा प्रदर्शित की। श्यामासुन्दरी ने उनकी बातों का कोई जवाब नहीं दिया। उन्होंने केवल इतना ही कहा, "चलो, घर लौट चलें। यहाँ किसके पास बेटी को छोड़ जाऊँ?" बालक-स्वभाव श्रीरामकृष्ण सब कुछ देख रहे थे; पर हृदयराम के डर से वे कुछ भी नहीं बोले। वे लोग उसी दिन चले गये। श्रीराम-कृष्ण के भतीजे रामलाल ने नदी पार होने के लिए नाव की व्यवस्था कर दी। नाव पर चढ़ते समय श्रीमाँ की आँखें सजल हो उठीं और उन्होंने मन-ही-मन काली माता को प्रणाम कर यह प्रार्थना की, "माँ, अब तो जब तुम स्वयं बुलाओगी, तभी आऊँगी।"

श्रीरामकृष्ण के दक्षिणेश्वर-आगमन के समय से ही हृदयराम बराबर उनके सेवक और साथी रहे। श्रीरामकृष्ण के जीवन की बहुतेरी अलौकिक घटनाओं को स्वयं देखने के कारण वे उनका सम्मान किया करते थे तथा उनसे डरते भी थे। उन्हें ऐसा प्रतीत होता था कि उनके मामाजी मानव नहीं हैं। पर योगमाया के विलक्षण प्रभाव से उनकी सारी भावनाएँ कभी-कभी गायब हो जाती थीं। किन्तु

श्रीमाँ तो उनकी दृष्टि में केवल मामी ही थीं, इससे अधिक और कुछ नहीं। इसलिए श्रीमाँ के प्रति हृदयराम का व्यवहार इस प्रकार का था, मानो वे उनकी दया की पात्री हैं।

हृदयराम की उद्धतता उस समय चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। अहंकार के मद में वे चूर हो उठे थे। उनकी ऐसी धारणा बन गयी थी कि उनके बिना श्रीरामकृष्ण का एक दिन भी काम नहीं चल सकता। कौन उनकी सेवा और देख-भाल करेगा? श्रीमाँ के प्रति उनका एक प्रकार की उपेक्षा का भाव था। श्रीरामकृष्ण आत्माराम और सदा क्षमाशील थे। वे हृदयराम के दुर्व्यवहारों को सहन कर लेते थे। उनकी दृष्टि में हृदयराम का आचरण भी 'माँ' का एक खेल-जैसा ही था! किन्तु श्रीमाँ के प्रति हृदयराम के अनुचित व्यवहार को देखकर भानजे के महान् अकल्याण की चिन्ता से वे विचलित हो उठते थे। उन्हें सावधान करते हुए कहते थे, "हृदू, (अपने शरीर को दिखाकर) इसकी अवज्ञा करके भले ही कुछ भी कह, पर उससे (श्रीमाँ से) फिर कभी ऐसी बातें न कहना। इसके भीतर जो है, वह यदि फुफकारे, तो शायद रक्षा हो भी सकती है, पर उसके अन्दर जो है, उसके फुफकारने से ब्रह्मा, विष्णु, महेश कोई भी तेरी रक्षा नहीं कर सकते, यहाँ तक कि मुझसे भी तेरी रक्षा न हो सकेगी।" किन्तु हृदयराम के लिए उनकी बातों के गुरुत्व को समझना कठिन था और न वे उसे समझना ही चाहते थे। विधाता के अलक्षित हस्त उनकी जीवन-धारा को दूसरी ही ओर मोड़ रहे थे।

हृदय में गहरी वेदना ले श्रीमाँ के दक्षिणेश्वर से चले जाने के कुछ ही दिन पश्चात् एक बड़े अपराध के फलस्वरूप मन्दिर के संचालकों ने दीर्घ २५ वर्ष के बाद हृदयराम को मन्दिर से सदा के लिए निकाल दिया।

इस समय श्रीरामकृष्ण का मन सर्वदा एक दिव्य आवेश में तन्मय रहता था। बारम्बार उन्हें भाव-समाधि होती थी। कभी-कभी

घण्टों तक वे प्रगाढ़ समाधि में निमग्न रहते थे। इस देहातीत अवस्था में शरीर-धारण के उपयोगी भोजनादि करना भी उनके लिए सम्भव नहीं था। अतः इस ब्रह्मविलास की देह की रक्षा के लिए सारे समय एक उपयुक्त सेवक की आवश्यकता थी। श्रीरामकृष्ण की लीला-संगिनी श्रीसारदा देवी योगमाया द्वारा जिस प्रकार उनके चित्त को जागतिक सत्ता पर उतार सकती थीं, दूसरों के द्वारा उस प्रकार होना सम्भव नहीं था। जीव-कल्याण के लिए आविर्भूत श्रीरामकृष्ण के दैवी-शरीर की रक्षा के निमित्त ही मानो श्रीमाँ का दक्षिणेश्वर-आगमन हुआ था। वे नाना प्रकार से, विविध यत्न करके एवं समयानुसार भोजनादि कराकर उन लोकोत्तर महापुरुष के शरीर की रक्षा किया करती थीं। हृदयराम के कठोर व्यवहार के फलस्वरूप जब उन्हें मायके लौट जाना पड़ा एवं जगदम्बा की इच्छा से जब हृदयराम भी मन्दिर से निकाल दिये गये, उस समय आवश्यक सेवा-यत्न के अभाव में श्रीरामकृष्ण का शरीर थोड़े ही दिनों में विशेष अस्वस्थ हो उठा। तब बाध्य होकर कामारपुकुर के लक्ष्मण पाईन के द्वारा उन्होंने जयरामवाटी में समाचार भेजा — "यहाँ पर मुझे तकलीफ हो रही है। मन्दिर का पुजारी हो जाने से अब रामलाल मेरी कोई खबर नहीं लेता है।... तुम अवश्य चली आना।" इस समाचार के पाते ही श्रीमाँ ने और विलम्ब नहीं किया। वे तुरन्त दक्षिणेश्वर आ पहुँचीं। (यह घटना सम्भवतः बंगला सन् १२८८ के माघ या फाल्गुन मास की होगी।)

तब से लेकर श्रीरामकृष्ण के देहावसान तक यद्यपि श्रीमाँ उनके निर्देशानुसार तीन बार कामारपुकुर और जयरामवाटी गयी थीं, पर उनका अधिकांश समय श्रीरामकृष्ण के दिव्य साहचर्य में ही व्यतीत हुआ — लज्जा, तुष्टि, पुष्टि, क्षमा और शान्ति के रूप से, पूजनकालीन प्रदीप्त दीप-शिखा की भाँति दीप्तिमयी और वराभय रूप से।

३

खिले हुए सुगन्धित फूल की भाँति श्रीमाँ जब दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर में पधारीं, उस समय उन्होंने १९ वें वर्ष में पदार्पण किया था। तभी से उनका दाम्पत्य-जीवन और साधन-भजन प्रारम्भ हुए थे। सांसारिक दृष्टि से श्रीरामकृष्ण और श्रीमाँ पति-पत्नी थे। किन्तु इतने से ही उनके सम्पूर्ण जीवन का परिचय नहीं मिलता! यह तो एक बाहरी सम्बन्ध मात्र था। क्रमशः हमें उनके वास्तविक आध्यात्मिक जीवन का परिचय प्राप्त होगा।

श्रीरामकृष्ण देव के साधन-जीवन का धारावाहिक इतिहास साधारणतया प्राप्य है। किन्तु श्रीमाँ के जीवन की बहुतसी घटनाओं की तरह उनके साधन-जीवन का इतिहास भी अज्ञात है। उनकी अधिकांश साधनाएँ लोगों की दृष्टि से दूर अनुष्ठित हुई थीं।

साधारणतया साधक और मुमुक्षुजन अपनी ही मुक्ति के लिए साधनानुष्ठान करते हैं, तथा आधिकारिक पुरुषों की साधना आदर्श-स्थापन और जीव-कल्याण के लिए होती है। जहाँ तक साधना का सम्बन्ध है, इन दोनों श्रेणियों के पुरुषों की साधनाओं में बाह्य-दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है, किन्तु ध्येय और प्रयोजन सर्वथा भिन्न हैं। श्रीमाँ के अन्तिम-जीवन की एक घटना है। एक दिन कलकत्ते के बागबाजार-आश्रम में किसी ब्रह्मचारी ने अधोमुख हो श्रीमाँ को साधन-भजन सम्बन्धी अपनी अक्षमता बतलाते हुए उनकी कृपा-प्राप्ति के लिए अत्यन्त अनुनय-विनय किया। करुणार्द्र हो श्रीमाँ उसे अभय देती हुई बोलीं, "हाँ बेटा, मेरे करने से ही (तुम्हारा) होगा।"

जीवों के कल्याण के निमित्त ही उनका साधनानुष्ठान था। अन्यथा उनके लिए साधना की कोई आवश्यकता नहीं थी। जो स्वयं नित्यसिद्धा हैं, उनके लिए साधना का प्रयोजन ही क्या ?

दिनांक १२-८-२० को बेलुड़ मठ से स्वामी शिवानन्दजी (श्रीरामकृष्ण देव के अन्तरंग त्यागी पार्षद) ने श्रीमाँ के सम्बन्ध में किसी भक्त को लिखा था — "... वे साधारण मानवी नहीं हैं; न तो वे साधिका ही हैं और न सिद्ध। वे नित्यसिद्धा हैं — उस आद्याशक्ति की ही अंशस्वरूपा हैं। जिस प्रकार काली, तारा, षोड़शी, भुवनेश्वरी इत्यादि हैं, उसी तरह। सर्वभूतों की अन्तरात्मारूपिणी उस कुण्डलिनी शक्ति — जगज्जननी ने निर्हेतुक स्नेहवश जिस भक्त को एक बार अपने श्रीकरकमलों से स्पर्श किया है, उसमें अवश्यमेव चेतना का संचार हुआ है; यदि न हुआ हो, तो आगे चलकर अवश्य होगा — यह मेरा पूर्ण विश्वास है।"

जयरामवाटी में अपने अन्तिम दिनों में श्रीमाँ ने किसी मुमुक्षु भक्त से यह सार बात कही थी, "आप होकर माया के हाथ से मुक्त होने की सामर्थ्य मनुष्य में कहाँ है ? इसी लिए तो ठाकुर ने इतनी साधनाएँ कीं और उनका सारा फल जीवों के उद्धार के लिए दे गये।" जीवों के कल्याणार्थ ही श्रीरामकृष्ण ने इतनी दीर्घ एवं तीव्र तपस्याएँ की थीं। श्रीमाँ ने भी जीवोद्धार के ही लिए इतना साधन-भजन, जप-तप आदि किया था।

श्रीमाँ के बाल्य-जीवन में साधनानुष्ठान, आध्यात्मिक अनुभूति अथवा भाव-समाधि विषयक कोई विवरण हमें ज्ञात नहीं है। दक्षिणेश्वर में षोड़शी-पूजा की रात्रि में वे सर्वप्रथम समाधिस्थ हुई थीं। किन्तु उनका इस प्रकार समाधिस्थ होना क्या योगाभ्यास अथवा तपश्चर्या का फल था ? उनका तो ग्रामीण वातावरण में लालन-पालन हुआ था तथा उसी वातावरण में वे निबद्ध थीं। तब

फिर इतने विशाल आध्यात्मिक जीवन का विकास उनमें कब और कैसे हुआ ?

साधन-मार्ग में चलनेवाले सभी पथिकों को यह विदित है कि दीर्घकालीन साधना एवं भगवदनुग्रह के बिना समाधि-दशा की प्राप्ति सम्भव नहीं है। किसी के भी जीवन में उसका अकस्मात् उदय होना असम्भव है। यदि कदाचित् उच्च आध्यात्मिक शक्तिसम्पन्न पुरुष द्वारा शक्ति-संचार के फलस्वरूप किसी को वह दशा प्राप्त भी हो, तो भी उसका स्थायित्व साधक की आध्यात्मिक जीवनचर्या पर पूर्णतया अवलम्बित करता है।

षोड़शी-पूजा की रात्रि में ही मानो श्रीमाँ के आध्यात्मिक जीवन का प्रथम उन्मेष हुआ था। तभी से उन्होंने निष्ठा के साथ साधन-भजन का नियमित अनुष्ठान किया। भगवद्-ध्यान में पूरी रात व्यतीत हो जाती थी। श्रीमाँ की साधनाओं के विषय में न किसी को कुछ पता है और न आगे ही होगा। उन्हीं की एक-दो उक्तियों से जो कुछ प्रकट हुआ है, उसी से हमें सन्तुष्ट होना पड़ेगा। प्रतिदिन रात के तीन बजे उठकर रात्रि की निस्तब्धता में नौबतखाने के पश्चिम की ओर के बरामदे में बैठकर गंगा की ओर मुँह कर वे ध्यान किया करती थीं। महाकाली महाकाल के ध्यान में निमग्न रहती थीं। उस नियम का कभी भी व्यतिक्रम नहीं हुआ। जप करने में भी वे बहुत ही निपुण थीं। विभिन्न कार्यों के बीच भी सर्वदा तैलधारा की भाँति अखण्ड-रूप से उनका जप चलता रहता था। किसी समय उन्होंने अपनी भतीजी नलिनी देवी से कहा था, "मैं जब तेरी इतनी थी, तब मैंने कितना (काम) किया है! ... इतना सब करके भी रोज एक लाख जप करती थी।"

उनकी यह साधना अपनी मुक्ति के लिए नहीं थी। उसका एकमात्र लक्ष्य था — जगत् का कल्याण। अत्युग्र तपस्या के द्वारा ब्रह्म-कुण्डलिनी को जागृत कर उन्होंने समग्र जगत् में सद्धर्म की पूर्णता

सम्पादित की थी, तथा आत्मस्थ होकर वे आत्मानन्द का उपभोग करती रहतीं। "स्वयं आचरण करके ही धर्म की शिक्षा दी जाती है।"

किसी समय श्रीमाँ ने भक्तों से कहा था, "परिश्रम करने की आवश्यकता है, बिना परिश्रम के कुछ भी नहीं होता। सांसारिक काम-काजों के बीच भी समय बना लेना पड़ता है। मैं अपनी बात क्या कहूँ? उस समय दक्षिणेश्वर में रात के तीन बजे उठकर मैं जप करने बैठती थी — मुझे कुछ भी होश नहीं रहता था। एक दिन चाँदनी रात में नौबतखाने की सीढ़ियों के पास बैठकर मैं जप कर रही थी, चारों ओर निस्तब्धता छायी हुई थी। किस समय ठाकुर शौच के लिए झाऊ की झाड़ियों की ओर गये — इसका मुझे कोई पता न लगा। और दिन उनके जूतों की आहट से पता लग जाता था। ध्यान गहरा लगा था। उस समय मेरा चेहरा और प्रकार का था — मैं गहने और लाल किनार की साड़ी पहने हुए थी। हवा के कारण वस्त्र शरीर से खिसक जाता था। मुझे उसका कुछ भी ध्यान न था। बेटा योगेन (स्वामी योगानन्द) ने उस दिन ठाकुर को पानी का लोटा देने के लिए जाते समय मुझे उस हालत में देखा था। अहा, वे दिन कितने आनन्द के थे! चाँदनी रात में चन्द्रमा की ओर देखती हुई हाथ जोड़कर मैं प्रार्थना किया करती — 'अपनी चाँदनी की तरह तुम मेरे अन्तःकरण को निर्मल बना दो।' . . . अहा, उस समय मेरे मन की गति कितनी अच्छी थी! एक दिन वृन्दा (महरी) ने मेरे सामने एक काँसे की रकाबी लुढ़का दी। ऐसा लगा, मानो मेरे हृदय से टकरा गयी।" श्रीमाँ उस समय गम्भीर ध्यान में निमग्न थीं। अकस्मात् उस शब्द से उनके हृदय में ऐसी चोट लगी कि वे रो उठीं। अपनी अमृतमयी स्निग्ध किरणों का चारों ओर विस्तार करते हुए आकाश में पूर्णचन्द्र का उदय हुआ है। श्रीमाँ रो-रोकर प्रार्थना कर रही हैं, "हे भगवन्, चन्द्रमा में भी कलंक है, पर प्रभो, मेरे मन में किसी प्रकार की कालिमा न रहे।"

श्रीरामकृष्ण की अन्तरंग भक्त-महिला योगीन्द्रमोहिनी वहुवा श्रीभगवान का पवित्र संग एवं सान्निव्य प्राप्त करने के हेतु पुण्यभूमि दक्षिणेश्वर में आया करती थीं। रात में वे सन्तापहारिणी श्रीमाँ के समीप नौवतखाने में रहती थीं। यद्यपि वे अलग विस्तर पर सोना चाहतीं, फिर भी श्रीमाँ अपना पुण्य-स्पर्श प्रदान करने के निमित्त उक्त भक्त-महिला को अपने ही विस्तर पर खींच लेती थीं। एक दिन गम्भीर रात्रि में कोई वंशी वजा रहा था। उस वंशी-ध्वनि को सुनकर श्रीमाँ भावाविष्ट हो गयीं। भावावेश में वे वीच-वीच में हँसने लगीं। इस दृश्य को देखकर वे भक्त-महिला संकुचित हो विस्तर के एक कोने में खिसक आयीं और मन-ही-मन सोचने लगीं, "मैं संसारी हूँ, इस समय उन्हें स्पर्श करना मुझे उचित नहीं।" वहुत देर वाद वह भावावेश दूर हुआ था।

क्या उस वंशी-ध्वनि के श्रवण से उनमें वंशीधारी की उद्दीपना हुई थी? श्रीमाँ ने एक वार किसी भक्त की प्रार्थना के उत्तर में कहा था, "तुम मुझे रावा के रूप में भी सोच सकते हो।"

"जो राम थे, जो कृष्ण थे, वे ही इस समय रामकृष्ण के रूप में" आये थे; और जो सीता थीं, जो रावा थीं, वे ही इस समय सारदा हैं।

श्रीरामकृष्ण यदि वाणी हैं, तो सारदा देवी रूप हैं। यदि वे चन्द्रमा हैं, तो सारदा देवी स्निग्ध ज्योति हैं; और यदि वे सम्वोधि हैं, तो सारदा देवी सम्पूर्ति हैं।

* * * *

श्रीमाँ अत्यन्त साधारण कारणों से ही भावाविष्ट और समाविस्थ हो जाती थीं, पर उसका वाह्य-प्रकाश वहुत ही कम होता था। वहुतेरे समय वे ध्यानमग्न हो आनन्दमय लोक में विचरण किया करती थीं, किन्तु लौकिक दृष्टि में मानो वे जीवभूमि पर ही रहती थीं। श्रीराम-कृष्ण के अन्तरंग ईश्वर-कोटि पार्षद स्वामी प्रेमानन्दजी ने एक वार

आवेगपूर्वक कहा था, "...वे (श्रीमाँ) शक्तिस्वरूपिणी हैं न, इसी लिए उनमें छिपाने की शक्ति भी असीम है। श्रीरामकृष्ण प्रयत्न करने पर भी (छिपाने में) सफल नहीं होते थे, उनकी आन्तरिक दशा का बाह्य-प्रकाश हो ही जाता था। पर माँ जब भावाविष्ट होती हैं, उस समय क्या किसी को कुछ पता लगता है?" उनकी स्वरूप में स्थिति—भावराज्य में विलास बिलकुल सहज रूप से होता था। फिर नित्य और लीला में आना-जाना भी उनके लिए अत्यन्त सहज था।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि बँगला सन् १२७८ (मार्च, १८७२ ई.) में श्रीमाँ का दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण के समीप सर्व-प्रथम आगमन हुआ था। तब से लगाकर बंगाब्द १२९३, श्रावण की ३१ वीं तिथि (१५ अगस्त, १८८६ ई.) तक, अर्थात् श्रीरामकृष्ण के देहावसान तक के १५ वर्षों को श्रीमाँ के जीवन का कठोर साधना-काल कहा जा सकता है। उस समय श्रीरामकृष्ण की सेवा ही उनके लिए सबसे अधिक तीव्र साधना थी। इसके समक्ष उनकी बाद की, वृन्दावन तथा बेलुड़ में अनुष्ठित, पंचतपा प्रभृति साधनाएँ भी मानो म्लान हो जाती हैं। उक्त साधना-काल में विश्व-मातृत्व के विकास के लिए आविर्भूत श्रीमाँ को हम एक आदर्श पत्नी के रूप में देखते हैं। * श्रीरामकृष्ण आदर्श पति थे। सेवा को माध्यम बनाकर उन दोनों का नित्य-मिलन हुआ था एवं उसी साधना के द्वारा उनमें अभेद-ज्ञान का विकास हुआ था। श्रीमाँ ने आगे चलकर अपने शरीर की ओर संकेत करते हुए कहा था, "इसके अन्दर सूक्ष्म शरीर से वे ही विद्यमान हैं। ठाकुर ने स्वयं कहा है, 'मैं तुम्हारे अन्दर सूक्ष्म शरीर से रहूँगा'।"—वे दोनों स्वरूपतः एक जो हैं!

दीर्घ द्वादश वर्ष पर्यन्त विभिन्न धर्मों और मतों के अनुसार

* श्रीमाँ ने स्वयं कहा था, "संसार में मातृ-भाव के विकास के लिए ही वे मुझे अबकी बार छोड़ गये हैं।"

कठोर साधना करने के पश्चात् श्रीरामकृष्ण ने एकत्व की प्रतिष्ठा की थी। उनकी साधना एवं सिद्धि का एकमात्र उद्देश्य संसार के समक्ष एक आदर्श स्थापित करना था। उन सर्वभावमय, सर्वदेव-देवीस्वरूप श्रीरामकृष्ण को आदर्श रूप में स्वीकार कर श्रीमाँ उन्हीं के निर्धारित मार्ग पर अग्रसर हो रही थीं। उन्होंने स्वयं कोई नवीन साधन-मार्ग नहीं अपनाया था। उनके लिए तो "ठाकुर ही गुरु, इष्ट, पुरुष, प्रकृति — सब कुछ थे।" उनकी यह अनुभूति थी कि "ठाकुर में ही सारे देवी-देवता थे, यहाँ तक कि शीतला, मनसा आदि तक।" फिर वे श्रीरामकृष्ण को सब देवी-देवताओं के साथ अभिन्न रूप से देखती थीं। बहुत दिन बाद की एक घटना है: श्रीमाँ उस समय उद्बोधन-कार्यालय में थीं। संन्यासी पुजारी दो अलग-अलग पात्रों में श्रीसिद्धेश्वरी देवी तथा श्रीठाकुर के चरणामृत लेकर आये। देखते ही श्रीमाँ ने पूछा, "दो अलग-अलग किसका?"

पुजारीजी ने कहा, "एक में ठाकुर का और दूसरे में माँ-सिद्धेश्वरी का है।"

श्रीमाँ ने आदेश दिया, "दोनों एक ही हैं। मिला दो।"

पुजारीजी बोले, "अच्छी बात है, कल से ऐसा ही करूँगा।"

श्रीमाँ ने पुनः कहा, "नहीं, अभी मेरे सामने ही मिला दो।"

दोनों देवताओं का चरणामृत एक साथ मिलाकर श्रीमाँ ने ग्रहण किया।

*　　*　　*　　*

श्रीमाँ का जन्म गाँव के उन्मुक्त वातावरण में हुआ था, किन्तु दक्षिणेश्वर में उन्हें नौबतखाने के अत्यन्त सीमित स्थान में रहना पड़ता था। उतने में ही रसोई, भोजन और रहने की सारी व्यवस्था थी। श्रीरामकृष्ण के लिए रसोई, बाद में भक्तों की संख्या बढ़ने पर उन लोगों के लिए भी रसोई, बरतन-भाँड़े, अन्यान्य आवश्यक

सामान, अँगीठी, छीके, विस्तर, कपड़े-लत्ते — इन सवके लिए वही एकमात्र जगह थी। उस छोटीसी तंग कोठरी में इस प्रकार वर्षों तक रहकर उन्होंने अपने परमप्रिय देवता की सेवा की थी। रात के तीन वजे शौचादि के वाद गंगा-स्नान कर वे उस कोठरी में प्रविष्ट होती थीं। उसके वाद शौचादि के निमित्त भी वहाँ से निकलना उनके लिए सम्मव न होता था।

दक्षिणेश्वर में श्रीमाँ की कठोर एवं तितिक्षापूर्ण जीवन-चर्या का कुछ परिचय उनके इस कथन से भी मिलता है — "रात रहते चार वजे में नहाती थी। दिन के तीसरे पहर सीढ़ियों पर जव कुछ धूप आती थी, तव मैं वहाँ वैठकर अपने केश सुखाती थी। (नौवतखाने की सीढ़ी के चारों ओर टट्टे के परदे लगे हुए थे।) तव सिर में केश वहुत थे।" एक दिन रात रहते श्रीमाँ नौवतखाने के समीप वकुलतला-घाट पर नहाने गयीं। उनका पैर एक घड़ियाल से लगते-लगते वच गया। घाट की सीढ़ी पर वह लेटा हुआ था। दैव-कृपा से वे वच गयीं। उनके पैरों की आहट से घवड़ाकर वह पानी में कूद पड़ा। तंव से लालटेन लिये विना वे कभी अँधेरे में गंगाजी में नहाने नहीं जाती थीं।

श्रीमाँ ने यह भी कहा था, "नौवतखाने में शौच जाने और नहाने की सवसे अधिक असुविधा थी। शौच रोकने के कारण अन्त में मुझे पेट की वीमारी हो गयी थी। . . . दिन में हाजत होने पर भी न जा पाती थी, रात के अँधेरे में गंगा के किनारे जाना पड़ता था। मैं केवल कहती थी — हरि, हरि, एक वार शौच जा सकती! फिर भी मुझे कोई कष्ट का अनुभव नहीं होता था। . . . उनकी सेवा के निमित्त मुझे किसी प्रकार का कष्ट नहीं मालूम पड़ता था। आनन्द से मेरे दिन वीत जाते थे।"

गाँव के उन्मुक्त वातावरण को त्यागकर उन्होंने स्वयं इच्छापूर्वक

इस अवरुद्धता को अंगीकार किया था। पति-सेवा — पति-साहचर्य ही उनका परम पुरुषार्थ था। अपने देवतुल्य पतिदेव के सान्निध्य में उनका सम्पूर्ण दुःख मानो आनन्द में परिणत हो चुका था। श्रीमाँ को इस प्रकार वन्दिनी-जीवन आनन्दपूर्वक स्वीकार करते हुए देखकर हमारी आँखों के सम्मुख जनकनन्दिनी के वन-गमन का दृश्य सजीव हो उठता है। बारह वर्ष के लिए श्रीरामचन्द्र वन में जा रहे थे। विदा लेने को वे जानकी के समीप उपस्थित हुए। रामगतप्राणा सीता ने उनके साथ चलने का आग्रह किया। हिंस्र पशु, राक्षस तथा वन के विविध दुःखों का उल्लेख कर रामचन्द्र ने उन्हें अपने संकल्प से मोड़ना चाहा, किन्तु अपने संकल्प में दृढ़ रहनेवाली सीता बोलीं —

स्वर्गेऽपि च विना वासो भविता यदि राघव।
त्वया विना नरव्याघ्र नाहं तदपि रोचये॥
यस्त्वया सह स स्वर्गो निरयो यस्त्वया विना।
इति जानन् परां प्रीतिं गच्छ राम मया सह॥
(वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, २७।२१ व ३०।१८).

—'हे राघव, हे नरशार्दूल, आपको छोड़ स्वर्ग में भी रहने की मेरी अभिलाषा नहीं है। ...आपका सान्निध्य ही मेरे लिए स्वर्ग है और आपका विरह नरक। इस प्रकार मेरे निश्चय का अनुभव कर आप मुझे अपने साथ ले चलें।'

बहुत पीछे श्रीमाँ ने बागबाजार में एक सधवा भक्त-महिला से कहा था, "बेटी, अपने पति के साथ वृक्ष का तला भी राजमहल है।" पत्नी के प्रति उदासीन किसी भक्त-सन्तान से उन्होंने कहा था, "पति-पत्नी को एक साथ रहना चाहिए। दोनों जहाँ भी रहोगे, वहीं रामराज्य है।" श्रीजनकनन्दिनी की उक्ति से एकनिष्ठ, एकरति — दाम्पत्य-जीवन के सर्वोत्तम आदर्श — का सुस्पष्ट परिचय हमें मिलता है। साथ ही दाम्पत्य-जीवन का कितना महान् आदर्श स्थापित

करने के लिए श्रीमाँ आप होकर दक्षिणेश्वर आयी थीं, यह भी उनकी इन दो उक्तियों से स्पष्ट है।

दक्षिणेश्वर के जीवन के सारे दुःख-कष्टों को जानकर भी स्वतः-प्रवृत्त हो कल्याणरूपिणी श्रीमाँ दक्षिणेश्वर में सदाशिव के समीप उपस्थित हुई थीं। वहाँ पर कभी-कभी दीर्घकाल तक उनके दर्शन भी उन्हें नहीं मिलते थे। फिर भी उन्हें किसी प्रकार का क्षोभ नहीं था। मूर्तिमती सहिष्णुता की भाँति वे उनके दर्शन की प्रतीक्षा किया करती थीं। उस समय का एक अस्पष्ट चित्र उनके कथन से मिलता है — "कभी-कभी दो-दो महीने तक उनके दर्शन भी मुझे नहीं मिलते थे। तब अपने मन को यह कहकर समझाती थी, 'अरे मन, तेरा ऐसा सौभाग्य कहाँ है कि तुझे रोज उनके दर्शन प्राप्त हो सकें।' (परदे की ओट में) खड़ी-खड़ी मैं उनका कीर्तन सुना करती थी। इसी से (बाद में) मेरे पैर में गठिया हो गया।"

दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर के एक छोटे-से तंग कमरे में रहना! जरा सोच देखिए। वहाँ दिन-रात यात्रियों का समागम होता रहता था। साधु-सन्त और भिक्षुकों का मेला-सा लगा रहता था। भक्तों और विभिन्न प्रकार के लोगों का सर्वदा ताँता लगा रहता था। लज्जारूपिणी श्रीमाँ अपने को इतनी बचाकर चलती थीं कि कोई उनकी छाया तक नहीं देख पाता था। उनके वहाँ कुछ वर्ष रहने के उपरान्त मन्दिर के खजांची ने एक दिन कहा था, "मैंने सुना है कि वे यहीं रहती हैं, पर उन्हें कभी देखा नहीं।" श्रीराम-कृष्ण भी एक दिन बड़े विस्मित हो अपने भानजे हृदयराम से बोले, "अरे हृदू, मुझे बड़ी चिन्ता थी कि तेरी मामी गाँव की रहनेवाली है, पता नहीं किस दिन कहाँ शौच के लिए बैठ जाय और लोग निन्दा करने लगें; तब बड़ा लज्जित होना पड़ता। पर वह तो ऐसी निकली कि कब वह क्या करती है इसका किसी को पता तक नहीं

चलता है; मैंने भी उसे कभी वाहर निकलती हुई नहीं देखा है।" श्रीरामकृष्ण ने श्रीमाँ की लज्जाशीलता और शालीनता की प्रशंसा करते हुए ही ये वातें कही थीं, पर उनकी इस वात को सुनकर श्रीमाँ वड़ी चिन्तित हो विचारने लगीं — "वे जो कुछ चाहते हैं, माता (जगज्जननी) उन्हें वही दिखा देती है; तव तो अव जव कभी मैं वाहर निकलूँगी, मैं अवश्य उनकी नजर में पड़ूँगी, दिखता है।" अतः विचलित हो वे जगन्माता से प्रार्थना करने लगीं, "माँ, मेरी लाज रखना।" सो माता ने भी अपना स्नेहांचल फैलाकर सदा उनकी रक्षा की। दीर्घकाल तक दक्षिणेश्वर में निवास करने पर भी वे कभी किसी के दृष्टिगोचर नहीं हुईं।

लोगों की दृष्टि से दूर रहकर नित्यसिद्धा श्रीमाँ श्रीरामकृष्ण की सेवा में संलग्न रहती थीं। वाद में भक्तों की देख-भाल भी वे आनन्दपूर्वक किया करती थीं। उन्हें प्रतिदिन तीन-साढ़ेतीन सेर आटे की रोटियाँ वनानी पड़ती थीं, फिर भी वे सदा आनन्दमग्न रहती थीं। अपने वारे में उन्होंने किसी समय कहा था, "... तो फिर क्या मेरे लिए सव कुछ अलौकिक था? किसी भी परिस्थिति में मुझे अशान्ति नहीं मालूम पड़ी! रहा इष्टदेव का दर्शन — वह तो मेरी मुट्ठी के अन्दर है; जव भी वैठूँ, तभी दर्शन मिल जाते हैं।... दक्षिणेश्वर में जो नौवतखाना है न, वहीं मैं रहती थी। जव मैं पहले-पहल आयी, तव आते-जाते चौखट से मेरा सिर वहुधा टकरा जाता था। एक दिन तो सिर फूट ही गया। वाद में आदत हो गयी थी। दरवाजे के सामने जाते ही सिर अपने आप झुक जाता था। कलकत्ते से मोटी-मोटी स्त्रियाँ मुझे देखने आतीं और दरवाजे की चौखट पर हाथ रखे खड़ी होकर कहतीं, 'हाय, कैसी कोठरी में हमारी सीता-लक्ष्मी हैं, मानो वनवास है।'..." ऐसे संकीर्ण स्थान में दीर्घकाल पिंजरावद्ध रहने के फलस्वरूप उनके पैरों में गठिया हो गया, जिसके कारण उन्हें जीवन-भर कष्ट उठाना पड़ा था।

श्रीमाँ का शरीर तो नौवतखाने में रहता था, पर उनका सारा मन-प्राण, सारी इन्द्रियाँ, सारी चेतना श्रीरामकृष्ण में पड़ी थी। उसी कोठरी में बैठकर वे निर्निमेष नेत्रों से उनके दर्शन करतीं और अवाध-रूप से उनकी वातें सुना करती थीं। अपने कमरे में बैठकर श्रीरामकृष्ण वालक-भक्त सारदाप्रसन्न से कह रहे हैं, "नौवतखाने में जाकर गाड़ी के किराये के लिए चार पैसे माँग ला।" सारदाप्रसन्न आकर देखते हैं कि सीढ़ी पर पहले से ही चार पैसे रखे हुए हैं। श्रीमाँ वाद में कहती थीं, "...नौवतखाने में भले ही मेरे लिए हजारों काम हों, पर मेरा मन सदा ठाकुर के पास पड़ा रहता था। उतनी दूरी से भी उनकी सारी वातों को, चाहे वे कितने ही धीमे स्वर से क्यों न कहें, मैं सुन लेती थी।" दिन-रात श्रीरामकृष्ण पर उनकी सतर्क दृष्टि रहती थी। वे उनकी आत्मवत् — अभेद-ज्ञान से सेवा में तल्लीन रहती थीं। आनन्दमयी जिस प्रकार सेवा-रूप से श्रीरामकृष्ण को तृप्ति और आनन्द प्रदान करती थीं, उसी प्रकार भक्तों के हृदयों में भी कल्याणी एवं शान्ति रूप से उनका प्रकाश होता था। उस परमानन्दरूपिणी के मन्दिर में श्रीमाँ अपने स्वरूप को आच्छादित कर चेतना, करुणा और शान्ति के रूप से निवास करती थीं।

यद्यपि श्रीमाँ प्रतिदिन श्रीरामकृष्ण के समीप उपस्थित नहीं हो पाती थीं, फिर भी पत्नी की सुख-स्वच्छन्दता की ओर श्रीरामकृष्ण की सतर्क दृष्टि थी। उनकी भतीजी लक्ष्मीमणि भी कभी-कभी श्रीमाँ के साथ नौवतखाने में रहती थी। श्रीरामकृष्ण परिहासपूर्वक उन दोनों को तोता-मैना कहा करते थे। मन्दिर से काली-माता के प्रसादी फल तथा मिठाई आदि आने पर अपने भतीजे रामलाल को वुलाकर वे कहते, "अरे, पिंजरे में तोता-मैना हैं; उन्हें भी कुछ फल-मूल, चना-वना दे आ।" उनके इस संकेत को सव कोई नहीं

समझ पाते थे। वे समझते कि सचमुच पोसे हुए तोता-मैना हैं।

श्रीरामकृष्ण का सुमधुर कीर्तन सुनने तथा उनका भावमय मनोहर नृत्य देखने के लिए श्रीमाँ सदा उत्सुक रहती थीं। श्रीरामकृष्ण को भी यह विदित था। इसी लिए जब कभी कीर्तन होता, वे अपने कमरे के उत्तर-ओर के दरवाजे खोलकर रखते थे। परदे की ओट में खड़ी हो श्रीमाँ हाथ जोड़े हुए घण्टों तक परम तन्मयता के साथ वह स्वर्गीय कीर्तन सुनती रहतीं। परदे में उँगली बराबर एक छोटासा छेद था। उसी में से वे अतृप्त नेत्रों से उस देवदुर्लभ — आनन्दमय देवमानव को देखा करती थीं। उस छेद को क्रमशः बढ़ते हुए देखकर श्रीरामकृष्ण ने एक दिन कुछ परिहास के साथ रामलाल से कहा, "अरे रामलाल, तेरी चाची के परदे का छेद तो बढ़ता ही जा रहा है!" यह सुनकर श्रीमाँ के अधरों पर सलज्ज हँसी खेल उठी।

यद्यपि श्रीमाँ सदा आन्तरिक आनन्द में विभोर रहती थीं तथा शारीरिक कष्ट उन्हें स्पर्श तक नहीं कर पाता, फिर भी श्रीरामकृष्ण उनके लिए सदा चिन्तित रहते थे। वे कहा करते, "वन का पक्षी रात-दिन पिंजरे में रहने से पंगु हो जाता है। बीच-बीच में पड़ोस में टहलने चली जाना।" इतना कहकर ही वे शान्त नहीं होते थे। दोपहर के बाद जब पंचवटी की ओर लोगों का आना-जाना बन्द हो जाता, तब वे नौबतखाने में आकर पत्नी से कहते, "अब उस ओर कोई नहीं है, मैं खड़ा हूँ। तुम पड़ोस में थोड़ी देर टहल आओ।" श्रीमाँ पिछले दरवाजे से पड़ोस में चली जातीं और समीपवर्ती पाँड़ेजी के घर कुछ देर बैठकर बातचीत करके सायंकाल के अँधेरे में लौट आती थीं। तब तक मन्दिर में सन्ध्या-आरती प्रारम्भ हो जाती थी, मन्दिर का बगीचा भी प्रायः जन-शून्य हो जाता था।

दोनों प्राण मानो एक ही स्वर में बँधे हुए थे। एक तन्त्री के

सामान्य मात्र स्पर्श से उसका झंकार दोनों तन्त्रियों में गूँज उठता था। अन्तःकरण की गहराई में मानो दोनों एक ही थे। उस देव-दम्पति का प्रेम-प्रवाह दोनों कगारों को छूता हुआ वहता था। एक दूसरे के प्रति कितना आन्तरिक आकर्षण था — कितनी गहरी प्रीति थी! उस ईश्वरीय प्रेम की तुलना संसार के श्रेष्ठ प्रेमिक और प्रेमिका में भी मिलना सम्भव नहीं है। श्रीरामकृष्ण की एक महिला-भक्त ने उनके प्रेम की गहराई के सम्बन्ध में कहा था, "वे दोनों पचास हाथ की दूरी पर रहकर भी कभी-कभी दो-दो महीनों में शायद एक ही दिन मिल पाते थे, फिर भी दोनों में कितनी प्रीति थी! एक वार श्रीमाँ को सिर-दर्द हुआ। यह सुनकर ठाकुर वड़े उद्विग्न हो उठे। वारम्वार रुँधे-स्वर से रामलाल-दादा से पूछने लगे, 'अरे रामलाल, सिर-दर्द क्यों हुआ रे'?" और इधर देखिए तो श्रीरामकृष्ण देहातीत-भूमि में विचरण किया करते थे!

श्रीरामकृष्ण और सारदा देवी के दिव्य दाम्पत्य-जीवन के द्वारा, देह-स्पर्श-रहित केवल दो आत्माओं के मिलन से प्रीति में कितनी गहराई हो सकती है, इसका अत्युज्ज्वल दृष्टान्त जगद्वासियों को देखने को मिला। उस प्रगाढ़ आवेश का कुछ आभास श्रीमाँ के इस कथन से मिलता है, "अहा, मेरे साथ उनका आचरण कितना सुन्दर था! उन्होंने एक दिन भी ऐसी कोई वात नहीं कही, जिससे मेरे हृदय को चोट पहुँचे। उन्होंने मुझे कभी फूल से भी नहीं मारा।"

एक दिन दक्षिणेश्वर में श्रीमाँ ने सूजी की खीर और एक प्रकार की मिठाई तैयार की। यह जानकर कि श्रीरामकृष्ण के कमरे में उस समय और कोई नहीं है, वे उन चीजों को लेकर वहाँ गयीं। श्रीरामकृष्ण उस समय अन्यमनस्क हो आँखें मूँदकर विस्तर पर लेटे हुए थे। चीजें यथास्थान रख, उन्हें ढककर श्रीमाँ दवे-पैरों वापस लौटने लगीं। श्रीरामकृष्ण ने यह समझकर कि लक्ष्मीमणि भोजन-सामग्री रखकर

जा रही है, कहा, "किवाड़ लगाती जा।" यह सुनकर श्रीमाँ बोलीं, "हाँ, किवाड़ लगा दिया है।" उनकी आवाज सुनते ही श्रीरामकृष्ण एकदम चौंक उठे और संकुचित स्वर से कहने लगे, "अरे, तुम हो! मुझे पता नहीं था। समझा था कि लक्ष्मी होगी। कुछ बुरा न मानना।" श्रीमाँ ने कहा, "इसमें बुरा मानने की क्या बात है?"

अनजान में 'लगाती जा' कहने के कारण श्रीरामकृष्ण इतने कुण्ठित हो उठे! दूसरे दिन प्रातःकाल नौबतखाने के सम्मुख उपस्थित हो दुःख प्रकट करते हुए वे कहने लगे, "देखो, कल रात-भर मुझे नींद नहीं आयी। यही सोचता रहा कि ऐसे कड़े शब्द मैंने क्यों कहे।"

इस अतीत घटना का स्मरण कर बुढ़ापे में श्रीमाँ ने अपने कुटुम्ब की किसी महिला से कहा था, "मेरे पतिदेव ऐसे थे कि उन्होंने कभी 'तू' कहकर भी मुझे नहीं पुकारा। मुझे प्रसन्न रखने के लिए वे सदा तत्पर रहते थे।" यह कहते समय उनके कण्ठ-स्वर में मानो किशोरी का गर्व झलक उठा।

श्रीरामकृष्ण कहते थे, "वह सारदा — सरस्वती है।... वह शृंगार करना पसन्द करती है।" वे स्वयं कांचन का स्पर्श नहीं कर सकते थे, किन्तु पत्नी के लिए उन्होंने यत्नपूर्वक सोने के आभूषण बनवा दिये। दास्य-भाव के अनुसार साधना करते समय उन्हें प्रेम, दुःख, करुणा और सहिष्णुता की अपूर्व लावण्यमयी मूर्ति जनकनन्दिनी श्रीसीता देवी के दर्शन प्राप्त हुए थे। सीता देवी के हाथों में जैसे आभूषण थे, उन्होंने श्रीमाँ के लिए भी उसी प्रकार के आभूषण बनवा दिये। इतना ही नहीं, उस समय अन्यान्य जो गहने प्रचलित थे, वह सब भी बनवा दिये। फिर लाल चौड़े किनार की साड़ी, किसी वस्तु की कमी नहीं थी, देख-भाल में तनिक भी त्रुटि नहीं थी।

उनको गहने पहनाकर परिहास करते हुए श्रीरामकृष्ण ने कहा

था, "अरे, मेरे साथ उसका यही सम्बन्ध है।" श्रीरामकृष्ण की महिला-भक्त योगीन्द्रमोहिनी के कथन से पता चलता है—"उस समय नौबतखाने में माँ श्रीसीता की भाँति रहती थीं। चौड़े लाल किनार की साड़ी, सिन्दूर से सुशोभित माँग, घुटने तक झूलते हुए कृष्णवर्ण घने केश, गले में सोने का हार, नाक में बड़ी नथ, कानों में बालियाँ तथा हाथों में चूड़ियों की अपूर्व शोभा थी। (मधुर-भाव की साधना के समय श्रीरामकृष्ण के लिए मथुरबाबू ने जो चूड़ियाँ बनवा दी थीं, श्रीमाँ के हाथों में वे ही चूड़िया थीं।)"

दूसरी ओर अपनी पत्नी के जीवन को सर्वांग-सुन्दर और सर्व-वैभवमय बनाने के लिए उनकी चेष्टा की कमी नहीं थी। साधन-भजन की सहायता से उच्च आध्यात्मिक अनुभूतियों की ओर श्रीमाँ के जीवन को संचालित करते हुए, जागतिक जीवन के लिए आवश्यक लोक-व्यवहारादि की शिक्षा के प्रति भी श्रीरामकृष्ण का पूरा-पूरा ध्यान था तथा उस कर्तव्य को उन्होंने स्वयं अपने ऊपर ले रखा था। श्रीरामकृष्ण कर्ममय जीवन पसन्द करते थे। श्रीमाँ से वे कहा करते, "काम-काज करते रहना चाहिए, चुपचाप बैठे रहना अच्छा नहीं है। बैठे रहने से नाना प्रकार के फालतू विचार—खराब विचार मन में आते हैं।" श्रीरामकृष्ण के इस उपदेश को श्रीमाँ ने अपने जीवन के अन्तिम दिन तक पूरी तरह निबाहा था। एक ओर निरन्तर भगवच्चिन्तन और भाव-समाधि में, तथा साथ ही दूसरी ओर जीव-सेवारूप कार्य में श्रीमाँ का जीवन जिस प्रकार व्यतीत हुआ, ऐसा सामंजस्य-पूर्ण जीवन कदाचित् ही देखने को मिलता है।

प्रसंगवश एक दिन की घटना का उल्लेख कर श्रीमाँ ने कहा था, "(ठाकुर) एक दिन कुछ पटसन लाकर मुझे देते हुए बोले, 'इससे एक छीका बना दो। मैं उसमें (भक्त-बालकों के लिए) मिठाई रखूँगा।' मैंने छीका बना दिया, और उसके बचे हुए अंशों से, थान

का कपड़ा फाड़कर, एक तकिया वना लिया। वोरी पर चटाई विछा-कर उस तकिये को सिरहाने देकर में सोती थी। उस समय उस पर मुझे जैसी नींद आती थी, आज इस सव (गद्दी आदि) पर सोकर भी वैसी ही नींद आती है। मुझे तो कोई अन्तर नहीं मालूम होता।"

नौवतखाने में रहते समय श्रीमाँ के दैनिक जीवन का आंशिक चित्र योगीन्द्रमोहिनी के कथन से प्राप्त होता हैं। उक्त भक्त-महिला ने श्रीरामकृष्ण और श्रीमाँ के पुण्य सत्संग से अपने जीवन को धन्य वनाया था। उन्होंने कहा था, "श्रीमाँ सवेरे चार वजने से पहले ही शौच-स्नानादि से निपटकर ध्यान करने वैठ जातीं। फिर अन्यान्य काम-काज करने के वाद पूजा करने वैठतीं। पूजा, जप और ध्यान में वहुत समय वीत जाता था। उसके वाद सीढ़ी के नीचे रसोई वनाने वैठतीं। रसोई वनाने के पश्चात् जिस दिन उन्हें अवकाश मिलता, उस दिन वे स्वयं अपने हाथों से ठाकुर को नहाने के पहले तेल-मालिश कर देती थीं। साढ़ेदस-ग्यारह के वीच ठाकुर भोजन करते थे। वे जव नहाने जाते, उस समय माँ झटपट ठाकुर के लिए पान लगाकर उनके गंगा से लौटने की वाट देखा करती थीं। नहाकर उनके अपने कमरे में आते ही माँ जल और आसन लेकर वहाँ पहुँच जातीं और उसके वाद भोजन की थाली लाकर उनके सम्मुख रख, उन्हें भोजन के लिए विठा-कर नाना प्रकार की वातें किया करतीं, जिससे भोजन करते समय भाव-समावि के आवेश में किसी प्रकार का विघ्न न उपस्थित हो। एकमात्र माँ ही भोजन के समय उनको भाव-समाधि से दूर रखने में समर्थ थीं। अन्य किसी में यह शक्ति नहीं थी। ठाकुर के भोजन के वाद माँ थोड़ासा कुछ खाकर पानी पी लेती थीं। फिर वे पान लगाने वैठतीं। पान लगा लेने के वाद धीमे स्वर से गुनगुनाती रहतीं; वह भी वहुत सावधानी से, ताकि किसी को सुनाई न दे। उसके वाद जव एक वजे मिल का भोंपू वजता (जिसे ठाकुर की माता 'वृन्दावन में कृष्ण की

वंशी' कहा करती थीं), तव वे भोजन करने वैठतीं। इस प्रकार डेढ़-दो वजे से पहले किसी भी दिन माँ का भोजन नहीं हो पाता था। भोजन के उपरान्त नाम मात्र विश्राम करने के वाद वे लगभग तीन वजे सीढ़ी पर वैठकर अपने केश सुखाया करती थीं। तदनन्तर लालटेन आदि ठीक करके, मुँह धो, सन्ध्या के लिए तैयार होती थीं। फिर सायं-काल वत्ती जलाकर श्रीठाकुरजी के सम्मुख धूप-धूना प्रज्वलित कर वे ध्यान करने वैठतीं। तत्पश्चात् रात की रसोई वनाकर सवको भोजन कराने के वाद भोजन करतीं और कुछ देर विश्राम करके सो जाया करती थीं।"

श्रीरामकृष्ण रात के तीन वजे उठकर झाऊ के झुरमुटों में शौच के लिए जाते समय नौवतखाने के समीप खड़े होकर आवाज देते थे, "अरी लक्ष्मी, उठ। अपनी चाची को जगा दे। और कव तक सोती रहेगी ? रात वीत चली। गंगाजल से मुँह धोकर 'माँ' का नाम ले, जप-ध्यान शुरू कर दे।" श्रीमाँ की आँखें उसके पहले ही खुल जाती थीं। श्रीरामकृष्ण की आवाज सुनते ही वे जप-ध्यान करने वैठ जातीं।

श्रीरामकृष्ण की शिक्षा-प्रणाली निराली थी। और उससे भी अधिक आश्चर्यजनक थी आध्यात्मिक शक्ति-संचार करने की उनकी अद्भुत रीति। "मानव-गुरु मन्त्र दे कान में, जगद्गुरु मन्त्र दें प्राण में।" श्रीरामकृष्ण भी भक्तों के प्राणों में अपनी आध्यात्मिक शक्ति का संचार कर, उनकी कुण्डलिनी-शक्ति को जागृत कर देते थे। शिष्यों की सुप्त आध्यात्मिक चेतना को वे उद्‌वुद्ध कर देते थे। अधिकारी-भेद से वे किसी के हृदय, जिह्वा या शरीर के अन्य किसी अंगविशेष का भावावेश में स्पर्श करते थे। कभी किसी की जिह्वा पर विशेष कोई वीजमन्त्र लिख देते थे। उनके उस शक्तिपूर्ण स्पर्श से साधकों के चित्त संयत और अन्तर्मुखी हो जाते थे तथा उनका सुप्त ईश्वरीय भाव जागृत हो उठता था। फलस्वरूप किसी-किसी को

दिव्य-ज्योति अथवा देवी-देवताओं का ज्योतिर्मय दर्शन मिलता था और कोई-कोई गम्भीर ध्यान एवं अभूतपूर्व आनन्द की अनुभूति में निमग्न हो जाते थे। किसी-किसी में ईश्वर-प्राप्ति की तीव्र व्याकुलता जग जाती थी और कोई दिव्य-भाव में आविष्ट या गहरी समाधि में लीन हो जाता था।

दक्षिणेश्वर में भावाविष्ट होकर एक दिन श्रीरामकृष्ण नें श्रीमाँ की जिह्वा पर कोई मन्त्र लिख दिया। श्रीमाँ दूसरे दिन (श्रीरामकृष्ण की भतीजी) लक्ष्मीमणि से कहने लगीं, " कल उन्होंने मेरी जीभ पर कुछ लिख दिया, तू भी जा न।" यह सुनकर लक्ष्मीमणि श्रीरामकृष्ण के समीप पहुँची। उन्होंने लक्ष्मीमणि की जीभ पर राधा-कृष्ण का वीज और नाम लिखकर उसमें शक्ति-संचार कर दिया। लक्ष्मी इससे पूर्व शक्ति-मन्त्र ले चुकी थी। यह जानकर भी श्रीरामकृष्ण ने कहा, " कोई हर्ज नहीं, मैंने ठीक ही दिया है।"

हम लोगों ने श्रीमाँ को कितनी ही वार समाधिस्थ और गहरे ध्यान में मग्न देखा है। वे कितने सामान्य कारण से ही ध्यान में डूब जाती थीं, इसका भी परिचय हमें मिला है। फिर भी मानो उन्हें तृप्ति नहीं थी। वे और भी गम्भीर रूप से अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाना चाहती थीं। श्रीरामकृष्ण के दिव्य-संग तथा उनके अमोघ स्पर्श से भक्तों का ध्यानानन्द में निमग्न होना श्रीमाँ ने स्वयं देखा और सुना था। फलस्वरूप उनके भी हृदय में सम्भवतः आत्मानन्द की गहराई में डूवे रहने की प्रवल व्याकुलता दिनोंदिन वढ़ती चली थी। एक दिन उन्होंने महिला-भक्त योगीन्द्रमोहिनी से कहा, " उनसे कहना, जिससे मैं भी थोड़ा-वहुत भावाविष्ट हो सकूं। सदा लोगों से उनके घिरे रहने के कारण मुझे स्वयं उनसे यह कहने का अवसर नहीं मिलता है।" भक्त-महिला ने श्रीमाँ के इस कथन को साधारण रूप से ही ग्रहण किया। श्रीरामकृष्ण और श्रीमाँ

के बीच जो अध्यात्म-सम्बन्ध था, उसका पता उन्हें भला कैसे चलता? अतः उन्होंने सोचा, "ठीक है, माँ ने जब कहा है, तब ठाकुर को यह अनुरोध अवश्य बताऊँगी।"

दूसरे दिन प्रातःकाल श्रीरामकृष्ण को अकेले तख्त पर बैठे हुए देखकर उक्त भक्त-महिला ने उनको प्रणाम कर श्रीमाँ की बातें उनसे निवेदित कीं। उन्होंने सब कुछ सुना, पर कोई उत्तर नहीं दिया। चुपचाप गम्भीर होकर बैठे रहे। ऐसी स्थिति में कोई भी उनसे कुछ कहने का साहस नहीं करता था। अतः उनसे बिना कुछ कहे ही पुनः उनको प्रणाम कर भक्त-रमणी लौट आयीं।

नौबतखाने में वापस आकर उन्होंने देखा कि श्रीमाँ पूजा करने बैठी हैं। दरवाजा थोड़ासा खुला हुआ था, उसमें से झाँककर उन्होंने देखा कि श्रीमाँ भावाविष्ट होकर कभी तो खूब हँस रही हैं और थोड़ी ही देर बाद रो रही हैं — दोनों नेत्रों से जलधारा बही जा रही है। धीरे-धीरे वे गहरी समाधि में लीन हो गयीं। यह दृश्य देख वे दरवाजा बन्द करके चली गयीं। बहुत देर बाद श्रीमाँ की समाधि टूटने पर, जब वे महिला उनके समीप उपस्थित हुईं, तब श्रीमाँ ने उनसे पूछा, "(ठाकुर के पास से) अब लौट रही हो?" तब योगीन्द्र-मोहिनी ने अवसर पाकर कहा, "माँ, तुम तो कह रही थीं कि तुम्हें भावावेश नहीं होता?" यह सुनकर श्रीमाँ के सलज्ज मुखमण्डल पर मृदु हास्य की रक्तिम आभा विकसित हो उठी। श्रीरामकृष्ण के दैवी-संग और दिव्य-शक्ति ने श्रीमाँ को सहज ही देवीत्व में — उनके अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित कर दिया था।

श्रीरामकृष्ण ने एक दिन कहा था, "(जो लोग अन्तरंग और लीला-पार्षद हैं) उनको दो बातें जानने से ही हुआ। पहली तो यह कि मैं (अपनी ओर दिखाकर) कौन हूँ और दूसरी यह कि वे कौन हैं, मेरे साथ (उनका) क्या सम्बन्ध है?" दक्षिणेश्वर में दीर्घ

समय तक के एकत्र वास से श्रीमाँ को इसी का ज्ञान करा देने के लिए श्रीरामकृष्ण सदा प्रयत्नशील थे। वे कौन हैं तथा सारदा देवी कौन हैं? उन दोनों के आविर्भाव का क्या कारण है? उक्त पारस्परिक सम्वन्ध का परिचय प्राप्त होते ही उनका (श्रीरामकृष्ण का) कार्य समाप्त हो गया। सारदा देवी भी धीरे-धीरे अपने मातृत्व के आसन पर अधिष्ठित हो गयीं। वे केवल भक्तों की ही नहीं, मानवमात्र — प्राणीमात्र की सन्तापहारिणी 'माँ' वन गयीं।

वहुत दिन वाद की एक घटना है। सन् १९०७ ई. में एक दिन जयरामवाटी में एक भक्त ने श्रीमाँ से प्रश्न किया, "क्या तुम सवकी माँ हो?"

माताजी ने उत्तर दिया, "हाँ।"

अत्यन्त विस्मित हो उस भक्त ने पुनः पूछा, "जितने भी इतर प्राणी — जीव-जन्तु हैं, सभी की?"

श्रीमाँ ने विना किसी हिचकिचाहट के जवाव दिया, "हाँ, उनकी भी।"

श्रीमाँ के जीवन को माध्यम वनाकर श्रीरामकृष्ण ने विश्व के सम्मुख नारीत्व का नवीन आदर्श और मातृत्व का अनुपम विकास स्थापित किया।

नारी-हृदय में मातृत्व की आकांक्षा एक चिरन्तन अभिलाषा है। मातृत्व के विकास में ही मानो नारी-जीवन की पूर्णता है। मातृ-भाव के प्रचार के निमित्त युगावतार की संगिनी के रूप से जिन विश्व-जननी का आविर्भाव हुआ था, उनके हृदय में भी एक दिन 'माँ' वनने की अभिलाषा का उदय होना कोई आश्चर्यजनक वात नहीं है। किन्तु उनके हृदय में वह मातृत्व की कामना देह-सुख के छल को लेकर उपस्थित नहीं हुई थी, जीवन की परिपूर्णता के सौरभ-रूप से ही उसका आविर्भाव हुआ था। अव हम उसी की चर्चा करेंगे।

श्रीमाँ जब जयरामवाटी जाती थीं, तब उनके पड़ोस की महिलाएँ उन्हें सुना-सुनाकर कहा करतीं कि विवाहित जीवन में सन्तान का न होना महान् अशुभ का लक्षण है। उनकी माता भी दुःखित होकर प्रायः कहतीं, "ऐसे पागल के साथ मैंने सारदा का विवाह किया, जिसने न तो घर-गृहस्थी की, न बाल-बच्चे ही हुए! बेचारी को 'माँ' सुनने तक का सौभाग्य न मिला!" श्यामासुन्दरी की इस खेदोक्ति को सुनकर एक दिन श्रीरामकृष्ण ने उनसे कहा, "सासजी, इसके लिए आप दुःख न करें। देखेंगी, आपकी लड़की के इतनी सन्तानें होंगी कि वह अन्त में 'माँ-माँ' की पुकार से घबड़ा उठेगी।"

श्रीमाँ के हृदय में 'माँ' बनने की अभिलाषा का कैसे उदय हुआ था, इसका विवरण स्वयं उनके ही कथन से स्पष्ट है— "कामारपुकुर और यहाँ (जयरामवाटी) की स्त्रियाँ हरदम कहा करती थीं — माँ बने बिना स्त्री कोई भी काम नहीं कर सकती। बाँझ स्त्रियों को किसी भी शुभ-कर्म में अधिकार नहीं है। उस समय मैं बालिका थी। उनकी बातों को सुनकर मुझे दुःख होता था और मैं सोचती थी कि क्या मेरे एक भी सन्तान न होगी? दक्षिणेश्वर में एक दिन मुझे यह बात याद आयी। जिस दिन मेरे मन में यह बात उठी, मैंने किसी से कुछ भी नहीं कहा था, ठाकुर आप होकर बोले, 'तुम चिन्ता क्यों कर रही हो? तुमको मैं ऐसे पुत्र-रत्न दे जाऊँगा, जो सिर काटकर तपस्या करने पर भी लोगों को नहीं मिलते। बाद में देखोगी, इतने लड़के तुम्हें 'माँ' 'माँ' कहकर पुकारेंगे कि तुम्हारा सँभालना मुश्किल हो जायगा'।"

श्रीरामकृष्ण की यह भविष्य-वाणी किस प्रकार अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई थी, श्रीमाँ का जीवन ही उसका परिपूर्ण विवरण है।

क्रमशः भक्तों का समागम अधिक होने लगा। श्रीरामकृष्ण के

लीला-पार्षद तथा अन्तरंग त्यागी भक्त दक्षिणेश्वर में उनके श्रीपाद-पद्मों के समीप एकत्र होने लगे। और भी अनेक भक्त स्त्री-पुरुष संसार-ताप से दग्ध और विविध दु:ख-कष्टों से पीड़ित हो, धूल-कीचड़ से सने हुए, पापनाशन के श्रीचरणों में उपस्थित होने लगे। श्रीमाँ एक ओर सेवा-रूप से श्रीरामकृष्ण को जिस प्रकार तृप्ति और आनन्द प्रदान करती थीं, उसी प्रकार दूसरी ओर घूँघट के अन्दर अलक्षित रहकर भी वे भक्तों की सुख-सुविधाओं का भी विशेष रूप से ध्यान रखती थीं। उनकी स्नेह-कोमल अभय गोद विशेषकर स्त्री-भक्तों के लिए एकमात्र शान्ति का स्थान थी। श्रीमाँ भी अपना स्नेहांचल फैलाकर उसकी शान्तिपूर्ण छाया से सबके तप्त अन्त:करण को शीतल बना देतीं। यह सौभाग्य केवल गौरदासी को ही प्राप्त नहीं हुआ था, वरन् गोलापसुन्दरी, योगीन्द्रमोहिनी तथा और भी अनेक महिलाएँ श्रीमाँ का स्नेह-स्पर्श पाकर धन्य हुई थीं।

गोलापसुन्दरी ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुई थीं और बड़े घर की बहू थीं। उनकी एकमात्र पुत्री चण्डी का विवाह एक बहुत बड़े घराने में हुआ था। चण्डी जब पित्रालय आती, तब उसके साथ बहुतसे सन्तरी-सिपाही आते, मानो कोई महारानी हो। विवाह के अल्प काल बाद उसका देहान्त हो गया। अपनी एकमात्र पुत्री, आँखों की निधि को खोकर गोलापसुन्दरी पागल-जैसी हो गयीं। आहार-निद्रा परित्याग कर वे शोकहरण के चरणों में आ गिरीं। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें आश्रय दिया और उनके हृदय का शोक दूर कर दिया। श्रीमाँ से श्रीरामकृष्ण ने कहा, "तुम उसे भर-पेट खिलाना, पेट में अन्न पड़ने से शोक बहुत-कुछ घट जाता है।" एक दिन पुन: उनसे कहा, "तुम इस ब्राह्मण-महिला का विशेष ध्यान रखना; यह बराबर तुम्हारे साथ रहेगी।" गोलापसुन्दरी तो वास्तव में भगवती की सखी 'जया' थीं। जगन्माता की अन्तरंग संगिनी के रूप में

मायिक देह का अवलम्बन कर उनका आविर्भाव हुआ था। श्रीमाँ के अन्तिम दिन तक वे उनके पास-पास देह-रक्षिका के रूप में वनी रहीं। पहली नजर में ही श्रीमाँ ने उनको पहचान लिया—स्नेहपूर्ण व्यवहार के द्वारा उन्हें अपना वना लिया। भक्तगण उन्हें 'गोलाप-माँ' कहकर पुकारते थे।

वहुत दिन वाद की घटना है, श्रीमाँ उस समय वागवाजार के मठ में रहती थीं। गोलाप-माँ सख्त वीमार थीं। उनके वचने की कोई आशा न थी। सव कोई निराश हो चुके थे। श्रीमाँ रोती हुई श्रीरामकृष्ण से प्रार्थना करने लगीं—'गोलाप-योगेन के विना मैं रह न सकूँगी। उनके चले जाने से मैं कैसे रहूँगी?' इसके वाद गोलाप-माँ क्रमशः स्वस्थ होने लगीं।

शोकातुरा उस ब्राह्मणी के घर में कृपामय श्रीरामकृष्ण ने एक वार पदार्पण किया था। (यह घटना १८८५ ई. के जुलाई मास की है।) भगवान के शुभागमन से अत्यधिक आनन्द-विह्वल होकर गोलाप-सुन्दरी उच्च स्वर से कहने लगीं, "अहो, इतने आनन्द को मैं सह नहीं पा रही हूँ। अव मुझे चण्डी का भी कोई दुःख नहीं रहा।... सुनते हैं, लाटरी में एक मजदूर को एक लाख रुपये मिले। उस आनन्द के झटके में वह मर गया! अजी, आज मेरी भी वही दशा है। तुम सव मुझे आशीर्वाद दो, नहीं तो इस आनन्द के झटके में मैं भी मर जाऊँगी।"

श्रीमाँ कहा करती थीं, "गोलाप जप-सिद्धा है।"

योगीन्द्रमोहिनी को श्रीमाँ प्रेम से 'योगेन' कहा करती थीं। श्रीरामकृष्ण देव की भक्तमण्डली में वे 'योगीन-माँ' के नाम से परिचित थीं। वड़े घर की लड़की थीं। सम्भ्रान्त घराने में उनका विवाह हुआ था। किन्तु 'संसार-सुख' क्या वस्तु है, जीवन में उन्हें उसका अनुभव नहीं हो पाया। भग्न-हृदय से, वाध्य हो, उन्हें मायके का आश्रय लेना

पड़ा। ताप-दग्ध हो जिस दिन वे दक्षिणेश्वर आयीं, श्रीरामकृष्ण ने पहले ही दिन अपनी दिव्य-दृष्टि से उन्हें पहचान लिया। उन्होंने उनको केवल आश्रय ही नहीं दिया, अपितु नौवतखाने में जगज्जननी के समीप उनकी इस अन्तरंग सखी को भेज दिया। प्रथम दर्शन मात्र से श्रीमाँ के साथ योगीन्द्रमोहिनी का अपूर्व प्रेम-बन्धन स्थापित हो गया। उसके कुछ दिन बाद श्रीमाँ जिस दिन भतीजे रामलाल के विवाहोपलक्ष में दक्षिणेश्वर से कामारपुकुर गयीं, उस दिन उनकी विरह-वेदना से व्याकुल हो, नौवतखाने में उनके ध्यान करने के स्थान पर बैठकर योगीन्द्रमोहिनी इतने जोर से रोयीं कि श्रीरामकृष्ण को भी वह रुदन-ध्वनि सुनाई दी। उन्हें अपने समीप बुलाकर श्रीरामकृष्ण अत्यन्त स्नेहपूर्वक पूछने लगे, "क्या उसके चले जाने से तुम्हें इतना दुःख हुआ है ?" नाना प्रकार की बातें करके उन्होंने उनकी विरह-वेदना दूर कर दी। कामारपुकुर से श्रीमाँ के लौटते ही श्रीरामकृष्ण उनसे कहने लगे, "वह जो बड़ी आँखवाली स्त्री यहाँ आया करती है न, उसको तुमसे बहुत प्रेम है। तुम्हारे जाने के दिन नौवतखाने में बैठकर वह खूब रोयी थी।" श्रीमाँ ने कहा, "हाँ, उसका नाम योगेन है।"

उनसे चोटी कराना श्रीमाँ को बहुत पसन्द था। तीन-चार दिन तक वे चोटी नहीं खोलती थीं, कहतीं, "नहीं, उसकी गूँथी हुई चोटी है, वह जिस दिन आयगी, उसी दिन इसे खोलूँगी।"

उस समय से योगीन्द्रमोहिनी श्रीमाँ की सेविका बनकर उनके जीवन के अन्तिम दिन तक उनके साथ रहीं। योगीन-माँ के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण ने कहा था, "योगीन साधारण स्त्री नहीं है—सहस्र-दल पद्म की कली है, जो जल्दी नहीं सूखती, धीरे-धीरे खिलकर चारों ओर सौरभ बिखेरती है।"

श्रीमाँ नाना प्रकार से, स्नेह-ममता के अमिय-स्पर्श से सबके हृदय को अमृतमय बनाने लगीं। क्रमशः वे 'भक्त-जननी' बनीं।

श्रीरामकृष्ण की ओर आकृष्ट होकर उनसे आध्यात्मिक-चेतना प्राप्त करने के लिए भक्तगण आते थे। उसके साथ-ही-साथ नौबतखाने से भी उन्हें ऐसी कुछ अपार्थिव वस्तु मिलने लगी, जिसके फलस्वरूप 'नौबतखाना-वासिनी' दैवी-मातृत्व पर प्रतिष्ठित हो गयीं। और उस समय से दिखने लगा कि श्रीसारदा देवी मानो अपने स्वरूप को धीरे-धीरे प्रकाशित कर रही हैं। वे भी श्रीभगवती के रूप में श्रीभगवान के पास आ खड़ी हुई।

धीरे-धीरे अपने स्नेह और ममता से वे सबको आकर्षित करने लगीं। एक दिन नौबतखाने में बैठकर श्रीमाँ पान लगा रही थीं। योगीन-माँ उस समय वहाँ उपस्थित थीं; उन्होंने देखा कि माँ ने कुछ पान विविध मसाला देकर तैयार किये और कुछ को यों ही चूना-सुपारी डालकर तैयार किया। विस्मित होकर उन्होंने पूछा, "इनमें तुमने मसाला-इलायची क्यों नहीं दी? ये पान किसके लिए हैं और वे किसके लिए?" श्रीमाँ ने हँसकर उत्तर दिया, "योगेन, ये मसालेदार पान भक्तों के लिए हैं; क्योंकि उन्हें स्नेहपूर्वक अपना बना लेना है। और बाकी पान उनके (ठाकुर के) लिए हैं। वे तो अपने हैं ही।"

दक्षिणेश्वर में नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) आये हुए थे। श्रीरामकृष्ण के आनन्द का कोई ठिकाना नहीं था। नरेन्द्र के लिए क्या करूँ, उसे क्या खिलाऊँ—इसी सोच में पड़ गये। अन्त में बोले, "तू आज यहीं रह जा।" श्रीरामकृष्ण का कण्ठ-स्वर श्रीमाँ के कानों तक पहुँचा। तत्क्षण ही उन्होंने चूल्हे पर चने की दाल चढ़ा दी और आटा गूँधने लगीं। नरेन्द्र को मोटी रोटी तथा चने की गाढ़ी दाल बहुत प्रिय थी। नरेन्द्र के भोजन की बात कहने के लिए श्रीरामकृष्ण जब नौबतखाने में गये, तो देखा कि रसोई पहले से ही चढ़ चुकी है।

राखाल (स्वामी ब्रह्मानन्द) खिचड़ी बहुत पसन्द करते थे। उनके आने पर श्रीमाँ उनके लिए खिचड़ी बनाती थीं। भक्त राम दत्त,

सुरेन मित्र इत्यादि सभी की अलग-अलग रुचि थी। तदनुसार उनकी रसोई भी अलग बनती थी। सेवारूपिणी श्रीमाँ आनन्दपूर्वक श्रीरामकृष्ण और भक्तों की सेवा में निमग्न रहती थीं। इधर श्रीरामकृष्ण को केन्द्रित कर दिन-भर कीर्तन, नृत्य और भाव-समाधि का क्रम चलता रहता था। श्रीमाँ भी भाव-विह्वल होकर सुनतीं--अतृप्त नयनों से उन दृश्यों को देखतीं। उनके हृदय में अमृतमयी शान्ति छा जाती थी।

बीते दिनों की आनन्द-स्मृति में विभोर हो किसी भक्त-महिला से श्रीमाँ ने कहा था, "कैसे अद्भुत महापुरुष थे वे (ठाकुर)। कहाँ तक कहूँ ? कितने ही लोग उनसे ज्ञान प्राप्त कर कृतार्थ हो गये। कैसे सदानन्दी पुरुष थे ! चौबीसों घण्टे हँसी, कीर्तन, विविध प्रसंग, गाना आदि चलता ही रहता था। अपनी समझ में तो मैंने कभी उन्हें निरानन्द नहीं देखा।"

एक दिन बागबाजार मठ में किसी ब्रह्मचारी ने श्रीमाँ से पूछा, "माँ, ठाकुर के शरीर का रंग कैसा था ?" उल्लसित होकर उन्होंने उत्तर दिया, "उनका रंग हरताल की तरह था। सोने के ताबीज के साथ शरीर का रंग मिल-सा जाता था। जब मैं तेल की मालिश करती, तब देखती थी कि उनके सारे शरीर से मानो ज्योति निकल रही है।...जब वे काली-माता के मन्दिर के लिए निकलते थे, तब लोग खड़े होकर उन्हें देखा करते और कहते, 'देखो, देखो, वे जा रहे हैं'।" श्रीरामकृष्ण की बात निकलते ही श्रीमाँ मानो दूसरी ही व्यक्ति हो गयीं।

बाद में त्यागी भक्तों में से कोई-कोई दक्षिणेश्वर में नियमित रूप से रहने लगे। श्रीरामकृष्ण उनके जीवन को बड़ी सावधानी के साथ संचालित कर रहे थे। उनके आहार-विहार, साधन-भजन इत्यादि सभी बातों पर उनकी सतर्क दृष्टि थी। यहाँ तक कि कौन कितना आहार करेगा, इसका निर्देश भी वे स्वयं नौबतखाने में जाकर कर आते

थे । अधिक भोजन करने से साधना में विघ्न होने की सम्भावना से ही वे इतने सतर्क थे ।

बाबूराम (स्वामी प्रेमानन्द). के लिए चार तथा राखाल के लिए छः रोटियों का निर्देश था । औरों के लिए भी इसी प्रकार की व्यवस्था थी । नौबतखाने से भोजन करके वापस आने पर श्रीरामकृष्ण प्रत्येक से पूछते कि उसने कितनी रोटियाँ खायी हैं । एक दिन राखाल से पूछने पर उन्हें विदित हुआ कि उसने सात रोटियाँ खायी हैं । यह सुनकर श्रीरामकृष्ण एकदम चुप हो गये; क्योंकि उसके छः रोटियाँ खाने की बात थी । दूसरे दिन उन्होंने बाबूराम से पूछा, "अरे, आज तूने कितनी रोटियाँ खायीं ?"

बाबूराम बोले, "छः ।"

श्रीरामकृष्ण ने गम्भीर स्वर से पूछा, "इतनी क्यों खायीं ?"

बाबूराम ने उत्तर दिया, "मैं क्या करूँ ! माँ ने दीं ।"

यह सुनकर श्रीरामकृष्ण विचलित हो उठे । चट्टी पहनकर सीधे नौबतखाने में जा उपस्थित हुए और कुछ उलाहना देते हुए बोले, "तुम लड़कों को मनुष्य नहीं बनने देना चाहतीं ! उनको साधु होना है ! इस उमर में इतना ज्यादा खाने से कैसे बनेगा ?"

बच्चों के भोजन के बारे में इस प्रकार का मन्तव्य सुनकर माँ के हृदय को चोट लगी । वे वेदना-भरे स्वर से बोलीं, "एक दिन दो रोटियाँ अधिक दे दीं इसलिए इतना सुना रहे हो ! उनके लिए तुम्हें इतना सोचने की जरूरत नहीं । (अबसे) उनके भविष्य की देख-भाल मैं स्वयं करूँगी । खाने-पीने के बारे में तुम बच्चों से कुछ कहना मत ।" आश्वासन पाकर, प्रसन्न हो, मुस्कराते हुए श्रीरामकृष्ण अपने कमरे में लौट आये । श्रीमाँ धीरे-धीरे अपने कर्मक्षेत्र में अवतीर्ण हो रही हैं यह देखकर श्रीरामकृष्ण मन-ही-मन विशेष आनन्दित हुए । अन्त तक श्रीमाँ को सभी लड़कों की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेनी पड़ी थी ।

दूसरे समय की घटना है। श्रीमाँ ने कहा था, "एक दिन मैंने बाबूराम को थोड़ासा मिश्री का शरबत दिया। उस समय उसे पेट की बीमारी थी। ठाकुर ने यह देख लिया। एक दिन मुझसे बोले, 'तुमने बाबूराम को क्या दिया था?' मैंने कहा, 'मिश्री का शरबत।' सुनते ही वे कहने लगे, 'उनको तो साधु होना है। तुम यह क्या आदत डाल रही हो?'"

इसी भाँति त्यागियों की शिक्षा-दीक्षा चल रही थी। एक ओर था श्रीरामकृष्ण का कठोर अनुशासन, और दूसरी ओर था श्रीमाँ का कोमल स्नेहावरण।

श्रीरामकृष्ण की माता चन्द्रमणि देवी जब तक जीवित थीं, तब तक श्रीरामकृष्ण नौबतखाने में ही भोजन करने जाते थे, किन्तु उनकी मृत्यु के बाद वे अपने कमरे में ही भोजन करते थे। श्रीमाँ नौबतखाने में रसोई बनाकर यथासमय उसे थाली में परोसकर श्रीरामकृष्ण के कमरे में ले जाती थीं। उस समय अन्यान्य भक्तों को कमरे से हटा दिया जाता था। उनके समीप बैठकर विभिन्न प्रकार की बातचीत में उनके मन को लगाकर श्रीमाँ बड़े यत्न से उन्हें भोजन कराती थीं। रात्रि की व्यवस्था भी इसी प्रकार की थी।

एक दिन श्रीमाँ भोजन की थाली लेकर श्रीरामकृष्ण के कमरे के बरामदे में आयी ही थीं कि एक महिला-भक्त वहाँ आकर बड़े आग्रहपूर्वक कहने लगी, "माताजी, लाइए थाली मुझे दीजिए।" श्रीरामकृष्ण की थोड़ीसी भी सेवा करने का अवसर मिलने पर भक्तजन अपना अहोभाग्य समझते थे। उसका आग्रह देखकर श्रीमाँ ने निषेध नहीं किया। माँ के हाथ से थाली लेकर स्त्री-भक्त उसे श्रीरामकृष्ण के सम्मुख रखकर चली गयी।

श्रीरामकृष्ण आसन पर विराजे। श्रीमाँ उनके समीप ही बैठी हुई थीं। किन्तु आश्चर्य! श्रीरामकृष्ण उस भोजन-सामग्री को स्पर्श

न कर सके ! श्रीमाँ की ओर देखकर अनुयोग के स्वर में बोले, "यह तुमने क्या किया ? क्या तुम उसे नहीं जानतीं ?... उसकी छुई हुई चीज कैसे खाऊँ ?"

श्रीमाँ कुण्ठित हो बोलीं, "जानती हूँ। आज खा लो।"

फिर भी श्रीरामकृष्ण उसे स्पर्श नहीं कर पा रहे थे। श्रीमाँ की करुण प्रार्थना से कुछ नरम होकर बोले, "कहो, फिर कभी तुम किसी को भोजन की थाली तो नहीं दोगी ?"

हाथ जोड़कर श्रीमाँ ने उत्तर दिया, "मुझसे ऐसा न हो सकेगा, देव ! तुम्हारे भोजन की थाली प्रतिदिन मैं स्वयं लाऊँगी; पर यदि कोई मुझे 'माँ' कहकर मुझसे थाली माँगे, तो मैं उसे 'ना' न कह सकूँगी ? तुम तो अकेले मेरे नहीं हो, देव !—तुम तो सभी के हो।"

श्रीमाँ की यह बात सुनकर श्रीरामकृष्ण प्रसन्न हो भोजन करने बैठे।

सन्तानों की तृप्ति ही माँ की तृप्ति है। संसार के विविध तापों से दग्ध होकर शान्तिमय के चरणों में शीतल होने की कामना से सन्तानों का आगमन होने लगा। कोई-कोई तो जीवन-मरुभूमि के अन्तिम प्रान्त में पदार्पण कर कण्ठ में शुष्कता लिये हुए आने लगे। अहा, उन्हें भी कुछ शान्ति प्राप्त हो, श्रीरामकृष्ण की सेवा का सौभाग्य प्राप्त कर वे भी धन्य हों — इसी भावना से प्रेरित हो श्रीमाँ उनके हाथों में भोजन की थाली दे देती थीं। श्रीरामकृष्ण के समीप बैठकर उनकी अमृतमयी वाणी को श्रवण करने का सुअवसर उन्हें भी प्राप्त हो, इसकी व्यवस्था करने में वे कोई कसर नहीं उठा रखती थीं। माताजी सोचा करती थीं कि वे (श्रीरामकृष्ण) तो अपने हैं ही; जो लोग उत्कण्ठित होकर यहाँ आते हैं, वे भी उनकी सेवा और सत्संग करके उन्हें अपना लें—उन्हें अपना ही जन समझना सीखें।

सन्तानों के पाप-पंकिल देह-मन को श्रीमाँ शुद्ध-शुचि बना देना चाहती थीं। उसी में उन्हें अपूर्व आनन्द मिलता था। यद्यपि श्रीरामकृष्ण की सेवा-शुश्रूषा ही उनके जीवन की एकमात्र काम्य-वस्तु थी, फिर भी माँ होने के नाते सन्तानों के लिए वे अपने को उस सेवा-सुख से वंचित करने में तनिक भी नहीं हिचकती थीं।

शोकातुरा गोलापसुन्दरी के हृदय में श्रीरामकृष्ण की कुछ सेवा करने की तीव्र आकांक्षा थी। इसलिए वे ही श्रीरामकृष्ण की भोजन की थाली प्रतिदिन ले जाने लगीं। फलस्वरूप भोजन के समय श्रीरामकृष्ण का दर्शन तथा उनसे कुछ वार्तालाप करने का जो अवसर श्रीमाँ को प्राप्त होता था, वह भी वन्द हो गया। फिर भी वे दुःखित न हुईं।

पर श्रीरामकृष्ण इस वात को समझते थे। एक दिन उन्होंने गोलाप-माँ से इस सम्वन्ध में चर्चा भी की। किन्तु गोलाप वोलीं, "नहीं, माँ तो मुझे वहुत ही प्यार करती हैं, लड़की की तरह नाम लेकर पुकारती हैं।"

श्रीमाँ की इस प्रकार की उदारता तथा सांसारिक सम्वन्धरहित सेवा को समझना सावारण लोगों की शक्ति से वाहर की वात है। श्रीमाँ तो निःस्वार्थ प्रेमिका थीं, और सर्वोपरि, वे थीं सन्तानवत्सला करुणामयी माँ।

श्रीमाँ दान करने में वहुत ही मुक्त-हस्त थीं। लोगों को देना-वाँटना, खिलाना-पिलाना और उनकी देख-रेख करना उन्हें सदा से प्रिय था। उस समय श्रीरामकृष्ण के लिए भक्त लोग वहुतसी फल-मिठाई आदि लाते थे। श्रीमाँ उनमें से श्रीरामकृष्ण के लिए थोड़ासा रखकर शेष सवको वालक एवं महिला-भक्तों तथा पड़ोसियों में वाँट देती थीं। एक दिन इस प्रकार उनको सव फल-मिठाई वाँट देते हुए देख गोपाल की माँ † उनसे कहने लगीं, "वहू, मेरे गोपाल (श्रीरामकृष्ण) के लिए

---

† प्रौढ़ा साधिका अघोरमणि देवी। ये भक्त-समाज में 'गोपाल

तुमने कुछ नहीं रखा ?" यह सुन श्रीमाँ लज्जा से मानो गड़-सी गयीं। ठीक उसी समय एक महिला-भक्त फिटन में एक टोकरी मिठाई लिये आयी और नौबतखाने में उपस्थित हुई। जगज्जननी ने श्रीमाँ की लाज रख ली।

श्रीरामकृष्ण श्रीमाँ के स्वभाव को जानते थे। इसलिए कुछ असन्तोष के साथ एक दिन उन्हें उलाहना देते हुए वे बोले, "इतना अधिक खर्च करने से काम कैसे चलेगा ?" यह सुन श्रीमाँ कुछ भी न बोलती हुई दुःखित हो नौबतखाने में चली गयीं। उनको इस प्रकार मुँह फेरकर जाती हुई देख श्रीरामकृष्ण बहुत विचलित हो उठे और तत्काल रामलाल को बुलाकर कहने लगे, "अरे रामलाल, जल्दी जाकर अपनी चाची को शान्त कर। उसके क्रोध करने से (अपने को दिखाते हुए) इसका सब कुछ नष्ट हो जायगा।" श्रीरामकृष्ण और श्रीमाँ का सम्बन्ध बहुत ही रहस्यमय था। बाह्य-दृष्टि से दोनों पति-पत्नी थे, किन्तु श्रीरामकृष्ण को श्रीमाँ का असली स्वरूप भलीभाँति विदित था। अपने स्वरूप को आच्छादित कर महामाया आविर्भूत हुई थीं। इसी लिए वे इतनी सावधानी के साथ — इतना सँभलकर चलते थे।

की माँ' के नाम से प्रसिद्ध थीं। वे बालगोपाल-मन्त्र की साधिका थीं। बाद में श्रीरामकृष्ण देव में श्रीकृष्ण के दर्शन पाकर उन्हें सिद्धि-लाभ हुआ था। इसी लिए वे श्रीरामकृष्ण को 'गोपाल' कहकर पुकारती थीं और उन्हें गोपाल-रूप से देखती थीं।

४

जगत्पूज्य श्रीरामचन्द्र जब इस नरलोक में विद्यमान थे, तब उन्हें भगवद्‌रूप से अनुभव करने का सौभाग्य कितने व्यक्तियों को प्राप्त हुआ था ? श्रीरामकृष्ण देव ने मानो अपनी ओर संकेत करते हुए एक दिन कहा था, " अवतार का जब आविर्भाव होता है, साधारण लोग उन्हें पहचान नहीं पाते — उनका आगमन गुप्त रूप से होता है, कुछ अन्तरंग भक्तों को ही उसका पता चलता है। राम पूर्णब्रह्म— पूर्णावतार हैं यह केवल बारह ऋषि ही जानते थे। . . . भरद्वाज आदि ऋषियों ने उनकी स्तुति की थी और कहा था, 'हे राम, तुम्हीं वह अखण्ड सच्चिदानन्द हो, हमारे समक्ष मनुष्य-रूप से अवतीर्ण हुए हो। वास्तव में तुमने अपनी माया का आश्रय लिया है, इसलिए तुम मनुष्य-जैसे दिखते हो।' . . . (अन्यान्य) ऋषियों ने रामचन्द्रजी से कहा, 'हे राम, हम जानते हैं कि तुम दशरथ के पुत्र हो। भरद्वाज आदि ऋषि भले ही अवतार-बुद्धि से तुम्हारी पूजा करें, हम तो अखण्ड सच्चिदानन्द को चाहते हैं।' इन बातों को सुनकर श्रीरामचन्द्र हँसते हुए चल दिये।"

" छद्म-वेश में जमींदार जिस प्रकार कभी-कभी अपनी जमींदारी देखने जाता है, उसी प्रकार" श्रीरामकृष्ण का आगमन हुआ था। अबकी बार पूर्ण सात्त्विक-भाव का आविर्भाव हुआ था। रूप, विद्या, वैभव एवं विभूति का कोई प्रकाश नहीं था। केवल पराविद्या, परा-भक्ति एवं परमज्ञान की अभिव्यक्ति थी। अपूर्व त्याग, ज्वलन्त वैराग्य, उच्छलित ईश्वरपरायणता, विश्वप्लावी प्रेम — ये श्रीरामकृष्ण अवतार

के मुख्य ऐश्वर्य थे। भाग्यवान व्यक्ति ही इस आच्छादित स्वरूप को पहचान पाये थे। जिनका यह आखिरी जन्म है, वे ही इस सर्व-भावमय के भाव को समझ सकते हैं।

श्रीमाँ भी अपने स्वरूप को ढककर बड़े गुप्त-रूप से अवतीर्ण हुई थीं। घूँघट के अन्दर रहनेवाली कुलवधू के रूप में उनका आविर्भाव हुआ था। घूँघट को यवनिका बनाकर अपने को वे इस प्रकार छिपाये रखती थीं कि श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में उनके विशेष भक्तों में से भी अधिकांश लोग (उनकी त्यागी सन्तानों को छोड़कर) 'देवी'-रूप से उन्हें पहचानने में असमर्थ रहे। उनके लिए वे गुरुपत्नी थीं, बस इतना ही उनका सर्वश्रेष्ठ परिचय था। श्रीरामकृष्ण के देहावसान के बाद भी, जब तक श्रीमाँ ने अपने को गुप्त रखा था, तब तक अधिकांश भक्तों के हृदय में उनके सम्बन्ध में कोई विशेष धारणा नहीं थी।

बाद में श्रीरामकृष्ण के ईश्वरकोटि-पार्षद स्वामी प्रेमानन्दजी ने लिखा था, "श्रीमाँ को भला कौन पहचान सकता है? उनमें ऐश्वर्य का तनिक भी प्रकाश नहीं है। ठाकुर में तो विद्या का ऐश्वर्य था; पर माँ में तो उसका लेशमात्र भी नहीं है। कैसी अपूर्व महाशक्ति है! जय हो, माँ, तुम्हारी जय हो!! महाशक्तिस्वरूपिणी, तुम्हारी जय हो!!! जिस विष को हम स्वयं पचा नहीं सकते, उसे माँ के पास भेज देते हैं। और माँ सबको अपनी गोद में खींच लेती हैं। अनन्त शक्ति — अपार करुणा! जय हो, माँ की जय हो! हम लोगों की बात तो रहने दे, स्वयं ठाकुर को भी ऐसा करते नहीं देखा। वे भी कितना 'ठोक-पीटकर, देख-सुनकर' शिष्य बनाते थे। पर यहाँ— माँ के पास क्या देखता है? यहाँ की बात ही निराली है। सब अद्भुत व्यापार है। वे सबको आश्रय दे रही हैं, सभी की वस्तुओं को ग्रहण कर रही हैं, और सब कुछ पचा जा रही हैं। जय! जय! जय हो, माँ!!"

संसार ने यह जो जगज्जननी को सर्ववैभवहीन एक साधारण मानवी-रूप से पाया था, यह जगत् के आध्यात्मिक इतिहास की एक बहुत ही गुरुत्वपूर्ण घटना है। युग-प्रयोजन की सिद्धि के लिए युगावतार का आविर्भाव होता है। सारदा देवी के जीवन में संसार को भविष्य का संकेत—भविष्य की सूचना मिल रही है। वर्तमान समय में मातृ-भाव के विकास की विशेष प्रयोजनीयता है। यद्यपि ऊपरी दृष्टि से हम देखते हैं कि पाश्चात्य देशों में नारी अपने सहज-स्वभाव को बदलने की व्यर्थ चेष्टा में संलग्न है, तो भी युगावतार के जीवन-दृष्टिकोण से देखने पर हमें विदित होता है कि नारी को जननी में रूपान्तरित होना पड़ेगा —स्नेहमयी सेवा, प्रेम, आनन्दमयी, लज्जा-पुष्टि-तुष्टि और दयामयी तथा क्षमा और अमृतमयी के रूप में उसका विकास होना पड़ेगा। हम अपने हृदय में इसी सार्थक आशा का पोषण करते हैं। इसी लिए तो 'गुहाहित-प्रत्यगात्मा' का अबकी बार आदर्श-जननी के रूप में प्रकाश हुआ है।

श्रीमाँ के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण ने एक बार कहा था, "वह क्या ऐसी-वैसी है ? वह तो ज्ञानदायिनी है। वह मेरी शक्ति है।"

दक्षिणेश्वर में लगभग चौदह वर्ष तक के एकत्र वास में से श्रीरामकृष्ण अपनी लीला-सहचरी को उक्त व्रतपालन के लिए प्रस्तुत कर रहे थे। श्रीमाँ अपने को सदैव छिपाये रखना चाहती थीं। वे तो लीलामयी थीं, परन्तु श्रीरामकृष्ण भी उन्हें छोड़ देनेवाले नहीं थे। एक दिन श्रीमाँ की ओर संकेत कर एक गाना गाने के बाद श्रीरामकृष्ण बोले, "क्या सारा उत्तरदायित्व मुझी पर है, तुम पर नहीं ?" जीवोद्धार का उत्तरदायित्व अकेला मेरा नहीं है, तुम्हें भी हाथ बँटाना होगा — यही उनका तात्पर्य था।

लीलाभूमि-दक्षिणेश्वर में किसी अन्तरंग लीला-पार्षद को स्वयं दीक्षा न देकर श्रीरामकृष्ण ने उसे मन्त्र लेने के लिए नौबतखाने

में भेजा। उस समय तक श्रीमाँ लज्जावती वधू के रूप में ही परिचित थीं। एकमात्र श्रीरामकृष्ण को छोड़कर उनके देवीत्व का परिचय और किसी को भी नहीं था। अपने प्रिय पार्षद के हृदय में विश्वास उत्पन्न करने के लिए अपनी लीला-सहचरी की ओर संकेत करते हुए श्रीरामकृष्ण ने उसे एक गाना सुनाया। गाने का आशय यह था कि "कोटि कृष्ण और कोटि राम आविर्भूत एवं अन्तर्हित होते रहते हैं। श्रीराधा की माया असीम है, उसका वर्णन सम्भव नहीं है।"

इस नवीन युग में जीवोद्धार के निमित्त युगावतार के साथ उन्हीं राधा का आविर्भाव हुआ है। यही इस गाने का मर्मार्थ था। श्रीरामकृष्ण अपने अन्तरंग पार्षदों के सम्मुख श्रीमाँ के स्वरूप को क्रमशः इस प्रकार से प्रकट करने लगे। परम कुशल श्रीरामकृष्ण की कार्यप्रणाली ही निराली थी। वे ऐसी अद्‌भुत शैली और नवीन परिपाटी से अपना कार्य सम्पन्न करते थे कि विचार करने पर मन चकित रह जाता है।

अपने पारिवारिक किसी महान् अनर्थ के प्रतिकारार्थ एक महिला एक समय दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण से कोई मन्त्र अथवा औषधि देने के लिए विशेष अनुरोध करने लगी। श्रीमाँ की ईश्वरीय-शक्ति के विकास के लिए उस समय श्रीरामकृष्ण उन्हें प्रेरणा देने लगे। उस स्त्री को स्वयं कुछ न देकर नौबतखाने की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा, "वहाँ एक महिला रहती हैं, उनसे सब कुछ कहने पर तुमको दवा मिल सकती है। इस सब मन्त्र और दवा का उन्हें पूरा ज्ञान है; उनकी शक्ति मुझसे भी कहीं अधिक है।" 'श्रीरामकृष्ण-पोथी' में इस घटना का ऐसा वर्णन है — "उनसे जाकर तुम निवेदन करो, तभी तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण हो सकती है। मैं भला क्या जानता हूँ, वे तो मुझसे कहीं बढ़कर हैं।" उस समय श्रीमाँ पूजा करने बैठी थीं। उनका हृदय करुणा से भरा हुआ था। उस महिला

की प्रार्थना सुनते ही वे समझ गयीं कि यह सब श्रीरामकृष्ण की लीला है। इसलिए वे बोलीं, "अरी, मैं भला क्या जानूं; वे ही तो दवा जानते हैं — तुम उन्हीं के पास जाओ।" यह कहकर उन्होंने उसे श्रीरामकृष्ण के समीप भेज दिया। पर श्रीरामकृष्ण भी हटनेवाले नहीं थे। उन्होंने पुनः नौबतखाने की ओर संकेत किया। इस प्रकार तीन बार उसके आने-जाने के बाद करुणार्द्र हो श्रीमाँ ने ही उसके प्रतिकार का उपाय बता दिया। उक्त 'श्रीरामकृष्ण-पोथी' में वर्णन है—"बेलपत्र देकर श्रीमाँ ने उससे कहा, 'इसे घर ले जाओ, इसी से तुम्हारी कामना पूरी होगी'।" इस घटना के सहारे श्रीरामकृष्ण ने श्रीमाँ के कृपाहस्त उन्मुक्त कर दिये।

महिला-भक्त योगीन्द्रमोहिनी उस समय सात-आठ दिन के अन्तर से श्रीरामकृष्ण देव के पुनीत दर्शनार्थ दक्षिणेश्वर में उपस्थित होती थीं। लौटते समय शिव-पूजन के लिए वहाँ से वे बेलपत्र साथ ले जाती थीं। उन बेलपत्तों के सूख जाने पर भी वे उन्हीं से शिव-पूजा करती थीं। एक दिन श्रीमाँ ने उनसे पूछा, "योगेन, क्या तुम सूखे बेलपत्तों से पूजा करती हो?"

उनको उत्तर देना पड़ा, "हाँ, माँ।" फिर उन्होंने माँ से पूछा, "तुमको यह कैसे मालूम हुआ?" श्रीमाँ हँसती हुई बोलीं, "आज सवेरे ध्यान करते समय मुझे दिखाई दिया कि तुम सूखे बेलपत्तों से मे—(इतना कहकर अपने को सँभालकर कहा) पूजा कर रही हो।"

विस्मय से हतबुद्धि हो योगीन्द्रमोहिनी सोचने लगीं — माँ तो सब कुछ जानती हैं, सब कुछ देख लेती हैं!

गौरदासी † का दक्षिणेश्वर में आना-जाना आरम्भ हुआ।

---

† श्रीरामकृष्ण देव की पार्षद-भक्त। भक्तों में वे 'गौरी-माँ' के नाम से परिचित थीं। बाद में उन्होंने संन्यास ग्रहण किया था। एक

श्रीरामकृष्ण ने उन्हें आश्रय दिया और उन पर विशेष कृपा की। फिर भी श्रीमाँ का सान्निध्य उनके लिए स्नेह का नीड़ था, इसलिए प्रायः वे नौबतखाने में श्रीमाँ के समीप रहा करती थीं। माताजी भी उनको पुत्री की तरह प्यार करती थीं और बड़े दुलार से 'गौरदासी' कहकर पुकारतीं। श्रीरामकृष्ण ने देखा कि गौरी के साथ श्रीमाँ का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ होता जा रहा है। इससे उन्हें बहुत प्रसन्नता हुई। एक दिन नौबतखाने में आकर उन्होंने विनोद करते हुए गौरदासी से पूछा, "अच्छा बताओ तो, तुम किसे अधिक प्यार करती हो ?" इसका कोई सीधा उत्तर न दे गौरी ने कौतुक करते हुए एक गाना गाया, जिसका आशय यह था — "हे बाँकेविहारी, वंसीधारी, तुम राधा से बड़े नहीं हो। लोग विपत्ति में पड़ने पर 'मधुसूदन' कहकर तुम्हें पुकारते हैं, पर तुम विपत्ति में पड़ने पर वंसी से 'राधाकिशोरी' को बुलाते हो।"

गाना सुनकर लज्जा से श्रीमाँ का मुखमण्डल आरक्तिम हो उठा। गौरदासी को चुप कराने के लिए उन्होंने जल्दी से उनका हाथ पकड़ लिया। श्रीरामकृष्ण के अधरों पर मृदु-मन्द हँसी खेलने लगी।

* * * *

श्रीरामकृष्ण का जीवन प्रज्वलित अग्नि-परीक्षा से समुज्ज्वल था। 'त्याग' ही उनके जीवन का मूलमन्त्र था। त्याग की कसौटी पर ही धर्म-जीवन की परीक्षा होती है। अपने अनुगामियों को उन्होंने त्याग-मन्त्र में दीक्षित एवं त्याग-धर्म में अभिषिक्त किया था। उनकी लीला-सहचरी भी उस शिक्षा से वंचित नहीं थीं। श्रीरामकृष्ण की

दिन दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण ने उनसे कहा था, "गौरी, मैं पानी डालता हूँ, तू मिट्टी सानं डाल।" श्रीरामकृष्ण के इस निर्देश को शिरोधार्य कर, उन्होंने अपने जीवन के शेष चालीस वर्ष स्त्री-शिक्षा के लिए उत्सर्ग कर दिये थे।

सेवा के लिए उनके मारवाड़ी-भक्त लक्ष्मीनारायण ने दस हजार रुपये देने की अभिलाषा प्रकट की। सुनते ही श्रीरामकृष्ण व्याकुल होकर इस प्रकार आर्तनाद कर उठे, मानो उनके मस्तक पर से किसी ने आरी चला दी हो। जगज्जननी से अनुयोग के स्वर में कहने लगे, "माँ, माँ, इतने दिनों बाद फिर से प्रलोभन दिखाने लगी?" भक्त के प्रति कड़े शब्दों का प्रयोग कर, दृढ़ता के साथ उन्होंने रुपये ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया। तब लक्ष्मीनारायण ने श्रीमाँ के नाम से उसे जमा कर देने का प्रस्ताव किया। तब श्रीमाँ की परीक्षा के निमित्त श्रीरामकृष्ण ने उन्हें बुलवाकर कहा, "देखो, यह रुपया देना चाहता है। मेरे मना करने पर अब यह तुम्हारे नाम से जमा करना चाहता है। तुम उसे ले लो न? तुम्हारा क्या कहना है?"

सुनते ही श्रीमाँ बोलीं, "यह कैसे होगा? रुपया नहीं लिया जा सकता। मेरे लेने से, तुम्हारा ही लेना हुआ; क्योंकि उन रुपयों को लेने पर तुम्हारी सेवा और अन्यान्य आवश्यक कार्यों में खर्च किये बिना मैं नहीं रह सकती। इसलिए वह तुम्हारा ही लेना हुआ। त्याग के लिए लोग तुम्हारी श्रद्धा-भक्ति करते हैं, इसलिए यह रुपया किसी हालत में नहीं लिया जा सकता।" श्रीमाँ की यह बात सुनकर श्रीरामकृष्ण निश्चिन्त हुए।

बड़े निर्धन ब्राह्मण-परिवार में श्रीमाँ का जन्म हुआ था। दूसरों के धान कूटकर, जनेऊ कातकर तथा और भी विविध प्रकार के कष्ट-साध्य कार्यों के द्वारा बहुधा इस परिवार को अपना पालन-पोषण करना पड़ता था। उस कठोर दारिद्रय में लालित-पालित श्रीमाँ का एक ही बात में दस हजार रुपये त्याग देना सचमुच ही एक असाधारण बात है। त्याग की साधना में सिद्धि-लाभ करके श्रीरामकृष्ण ने मिट्टी और रुपये में समत्व-ज्ञान प्राप्त किया था, और उनके जीवन से प्रभावित होकर श्रीमाँ भी इस ज्ञान में प्रतिष्ठित हुई थीं।

यद्यपि श्रीमाँ विशेष पढ़ी-लिखी नहीं थीं, फिर भी उनकी बुद्धि असाधारण थी। बड़ी महत्त्वपूर्ण बातों में भी उनकी असामान्य प्रतिभा को देखकर लोग चकित रह जाते थे। श्रीरामकृष्ण भी उनकी बुद्धिमत्ता की बड़ी प्रशंसा करते थे।

कलकत्ते के उत्तर में कुछ मील की दूरी पर अवस्थित पाणिहाटी में प्रतिवर्ष ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी के दिन 'चिड़वा-महोत्सव' हुआ करता है। यद्यपि उत्सव का नाम 'चिड़वा-महोत्सव' है, पर वास्तव में उस दिन वहाँ हरिनाम-संकीर्तन का विशेष आयोजन होता है। सैंकड़ों वैष्णव-साधक उस दिन वहाँ उपस्थित होते हैं। विभिन्न दलों में एकत्र होकर बड़े आवेश के साथ सब कोई हरिनाम-संकीर्तन, नृत्य आदि किया करते हैं। श्रीरामकृष्ण भी कई बार उसमें सम्मिलित हुए थे। किन्तु कुछ वर्षों से वे उसमें उपस्थित नहीं हो पाये थे। १८८५ ई. में उक्त उत्सव के कुछ दिन पूर्व एक दिन श्रीरामकृष्ण ने अपने युवक-भक्तों से कहा, "पाणिहाटी में उत्सव के दिन आनन्द का मेला लग जाता है, हरिनाम का मानो बाजार बैठ जाता है। तुम 'यंग बेंगाल' वालों ने ऐसा कभी देखा नहीं है। चलो, अबकी बार देख आयें।" यद्यपि उस समय श्रीरामकृष्ण का शरीर स्वस्थ नहीं था, उसके कुछ दिन पहले से ही उनके गले के रोग का प्रारम्भ हो चुका था, फिर भी भक्तजनों को आनन्द प्रदान करने की अभिलाषा से उन्होंने चलने की इच्छा प्रकट की। भक्तों में अपार उत्साह छा गया। उत्सव के दिन प्रातःकाल दस बजे लगभग तीस व्यक्ति श्रीरामकृष्ण के साथ तीन नावों में वहाँ चलने के लिए प्रस्तुत हुए। उनमें कुछ भक्त महिलाएँ भी थीं। चलने से पूर्व श्रीमाँ ने भी अपने जाने के बारे में श्रीरामकृष्ण की राय जानने के लिए एक महिला-भक्त को उनके समीप भेजा। श्रीरामकृष्ण ने उससे कहा, "तुम लोग तो चल रही हो; यदि उसकी इच्छा हो, तो वह भी चल सकती है।" यह सुनते ही श्रीमाँ उनका अभिप्राय

समझ गयीं। महिला-भक्तों से बोलीं, "बहुत से लोग जा रहे हैं, और वहाँ भी बड़ी भीड़ रहेगी; इतनी भीड़ में नाव से उतरकर उत्सव देखना मेरे लिए कठिन होगा। मैं नहीं जाऊँगी।"

श्रीमाँ नहीं गयीं। उनकी अनुमति लेकर महिला-भक्तों ने अन्यान्य लोगों के साथ उत्सव देखने के लिए प्रस्थान किया। दिन-भर उत्सवानन्द में मग्न रहने के बाद रात के आठ बजे सब लोग दक्षिणेश्वर वापस आये। रात में भोजन करते समय बातचीत के सिलसिले में श्रीरामकृष्ण भक्तों से कहने लगे, "एक तो इतनी भीड़, और उस पर भाव-समाधि के कारण लोगों की आँखें इधर ही गड़ी हुई थीं। उसने (श्रीमाँ ने) साथ न जाकर अच्छा ही किया। उसके साथ रहने पर लोग कहते, 'देखो, देखो, हंस-हंसी आये हैं'! वह बड़ी बुद्धिमती है।"

महिला-भक्तों से यह बात सुनकर श्रीमाँ कहने लगीं, "सवेरे मेरे जाने के सम्बन्ध में उन्होंने जो आदेश दिया था, वह सुनते ही मैं समझ गयी थी कि वे खुले-दिल से जाने की अनुमति नहीं दे रहे हैं।... उसी समय मैंने निश्चय कर लिया कि मेरा न जाना ही अच्छा है।" श्रीरामकृष्ण में अपने चित्त को समर्पित कर श्रीमाँ ने अपने अस्तित्व को पूर्ण रूप से उनमें मिला दिया था। वे उनकी यन्त्र बन चुकी थीं, इच्छानुसार श्रीरामकृष्ण उनका संचालन करते थे। "जैसा कहवाते हो, वैसा कहती हूँ; जैसा कराते हो, वैसा करती हूँ" — जीव-भूमि पर श्रीमाँ ने इसी भाव का आश्रय लिया था। वे सम्पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण कर चुकी थीं। आत्म-निवेदन कर तदाकार बन चुकी थीं। 'मामेकं शरणं व्रज' — यह समस्त साधनाओं की चरम सीमा है। उनकी देह, मन, प्राण सब कुछ उन परमपुरुष को समर्पित हो चुके थे।

श्रीमाँ का दक्षिणेश्वर का जीवन माधुर्य से छलकता था। रात-

दिन श्रीरामकृष्ण की सेवा, उनका साहचर्य, साधन-भजन सब कुछ अखण्ड रूप से चलता था। उनका सारा समय दिव्य-आनन्द की अपूर्व तन्मयता में व्यतीत होता था। श्रीरामकृष्ण और भक्तों की सेवा के साथ-साथ वे माता-भवतारिणी की पूजा-अर्चा भी परम निष्ठा सहित करती थीं। नौबतखाने से सुन्दर-सुन्दर मालाएँ गूँथकर वे देवी के शृंगार के लिए भेजा करती थीं। माला गूँथते समय उनका जप भी अविराम रूप से चलता रहता था, मानो माला ही उनकी जप-माला हो। एक दिन सायंकाल उन्होंने जूही और अन्य रंगीन फूलों की सतलड़ी माला बनाकर भगवती के शृंगार के लिए भेजा। देवी के आभूषणों को हटाकर उस दिन जगन्माता को उस हार से सजाया गया। ऐसे समय श्रीरामकृष्ण भी दर्शन के लिए मन्दिर में आ पहुँचे। उस फूल-शृंगार से काली-माता की ऐसी नयनाभिराम शोभा हुई थी कि दर्शन करते ही वे भाव में विभोर हो गये और वारम्बार कहने लगे, "अहा, कैसी अपूर्व शोभा है! काले रंग पर यह कैसा सुन्दर फब रहा है!" किसने वह माला बनायी यह जानने पर वे उल्लास के साथ कह उठे, "अहा, उसे एक बार यहाँ बुला तो लाओ; जरा देख जाय, माला पहनकर माता का रूप कैसा निखर उठा है!"

वृन्दा महरी उसी समय जाकर श्रीमाँ को बुला लायी। उसके साथ मन्दिर के समीप पहुँचते ही माँ ने बलरामबाबू, सुरेशबाबू आदि भक्तों को मन्दिर की ओर जाते हुए देखा। यह देखते ही अपने को छिपाने के लिए वे वृन्दा के अंचल की ओट में जाकर पीछे की सीढ़ियों से मन्दिर में चढ़ने लगीं। यह देख श्रीरामकृष्ण कह उठे, "उधर से न चढ़ो। उस दिन एक मछली बेचनेवाली उन सीढ़ियों से चढ़ती हुई फिसलकर गिरकर मर गयी। सामने की ओर से ही आओ न!" श्रीरामकृष्ण की बातें सुनकर भक्तगण एक ओर हट-

कर खड़े हो गये। श्रीमाँ देवी-दर्शन के लिए मन्दिर में पहुँचीं। देवी की अपूर्व शोभा देखकर वे मुग्ध हो गयीं,— मानो नीलवर्ण मेघों पर बिजली चमक रही हो। देवी के सामने परम मनोहर श्रीरामकृष्ण भावोन्मत्त होकर गाने लगे !

* * * *

धीरे-धीरे श्रीरामकृष्ण के गले की बीमारी का सूत्रपात हुआ। (यह घटना जून, १८८५ ई. की है।) उसके साथ ही दक्षिणेश्वर के मधुमय दिन भी समाप्त हुए। देवी-मन्दिर, देवी-देवताओं की मूर्ति, यात्रियों का समागम, बारह महीनों के विभिन्न उत्सव — सभी कुछ थे — जैसे पहले थे, वैसे ही। पर उन सबमें से मानो प्राण खींच लिये गये थे। सब ओर शून्यता का भाँयें-भाँयें था।

लगभग पाँच वर्ष पूर्व ही श्रीरामकृष्ण ने अपने महाप्रयाण के सम्बन्ध में श्रीमाँ को विभिन्न प्रकार से संकेत दिया था। वे कहते, "जब मैं जिस-तिस के हाथ से खाने लगूँगा, कलकत्ते में रात बिताऊँगा, भोजन का अग्रभाग दूसरे को देकर बाकी को मैं स्वयं ग्रहण करूँगा, तब जान लेना कि मेरे शरीर छोड़ने में अधिक देर नहीं है।" और भी कहा था, "जब तुम देखोगी कि बहुत से लोग मुझे देवता मानने लगे हैं और मेरी श्रद्धा-भक्ति कर रहे हैं, तब समझ लेना कि इसके अन्तर्धान का समय आ गया है।"

अन्तिम समय में ये सारी घटनाएँ क्रमशः घटने लगीं। श्रीमाँ सब कुछ देखतीं और शंकित हो उठती थीं; एकान्त में बैठकर रोतीं, किन्तु उसके प्रतिकार का कोई उपाय नहीं था।

श्रीरामकृष्ण का कण्ठ-रोग क्रमशः बढ़ता ही चला। नाना प्रकार की चिकित्साएँ की गयीं, पर कोई फल नहीं हुआ। उस दुःसाध्य व्याधि की सुचिकित्सा के लिए भक्तगण श्रीरामकृष्ण की सम्मति से श्यामपुकुर में एक छोटासा दुमंजिला मकान किराये पर ले

उन्हें वहाँ ले गये। (यह घटना १८८५ के अक्तूबर के प्रारम्भ की है।) कलकत्ते के तत्कालीन सुप्रसिद्ध डाक्टर महेन्द्रलाल सरकार की चिकित्सा होने लगी। युवक-भक्त स्वतःप्रवृत्त हो उनकी सेवा करने लगे। किन्तु आवश्यक पथ्य के अभाव में चिकित्सा का कोई सुफल दृष्टिगोचर न हुआ।

श्यामपुकुर के उस छोटेसे मकान में अन्तःपुर नहीं था। इसलिए श्रीमाँ को दक्षिणेश्वर में ही रहना पड़ा। इधर एक महिला-भक्त ने यह स्वकल्पित बात फैला दी कि माताजी पर असन्तुष्ट हो श्रीरामकृष्ण कलकत्ते चले गये हैं। यह सुनते ही श्रीमाँ गाड़ी में श्यामपुकुर पहुँचीं और रोती हुई श्रीरामकृष्ण से कहने लगीं, "सुनती हूँ, तुम मुझ पर अप्रसन्न होकर यहाँ चले आये हो?"

श्रीरामकृष्ण विस्मित होकर बोले, "नहीं तो, किसने तुमसे यह बात कही?"

श्रीमाँ ने उत्तर दिया, "गोलाप ने।"

यह सुन श्रीरामकृष्ण बहुत ही असन्तुष्ट हुए और कहा, "अच्छा! उसने ऐसा कहकर तुमको रुलाया है? वह जानती नहीं कि तुम कौन हो? कहाँ है वह? उसे आने तो दो?"

श्रीमाँ शान्त होकर तब दक्षिणेश्वर लौट गयीं। बाद में उक्त महिला-भक्त के आते ही उन्हें फटकारते हुए श्रीरामकृष्ण ने कहा, "तुमने यह क्या कहकर उसे रुलाया है? तुम्हें पता नहीं, वह कौन है? अभी जाकर उससे क्षमा माँगो।"

गोलापसुन्दरी उसी समय पैदल दक्षिणेश्वर पहुँचीं और रोती हुई श्रीमाँ से कहने लगीं, "माँ, ठाकुर मुझ पर बहुत नाराज हैं। बिना सोचे-समझे मैंने वैसी बात कह डाली।" श्रीमाँ ने कुछ उत्तर न दे हँसते हुए तीन बार 'ऐ गोलाप' कहकर उनकी पीठ थपथपायी। इससे गोलाप-माँ का सारा दुःख गायब हो मन शान्त हो गया।

श्रीरामकृष्ण की बीमारी को देखकर भक्तगण दक्षिणेश्वर से श्रीमाँ को श्यामपुकुर में लाने के बारे में विचार-विमर्श करने लगे। किन्तु उस मकान में कोई अन्तःपुर नहीं था। श्रीमाँ परम लज्जा-शीला थीं। कितने ही अपरिचित लोग वहाँ आते-जाते रहते थे, सर्वदा यात्रियों का ताँता लगा रहता था। ऐसी स्थिति में उनका रहना कैसे सम्भव हो सकता था? किन्तु उनका आना भी तो आवश्यक था। उस सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण से अनुमति माँगी गयी। उन्होंने कहा, "यहाँ आकर रहना क्या उसके लिए सम्भव हो सकेगा? जो हो, उससे पूछकर देखो, सारी बातें जानने पर भी यदि वह आना चाहे, तो आय।" श्रीमाँ के समक्ष यह प्रस्ताव रखते ही सारी असुविधाओं की बातों को एक ओर हटाकर वे तत्काल श्यामपुकुर के मकान में आ पहुँचीं। श्रीरामकृष्ण के निमित्त वे सब कुछ सहने को प्रस्तुत थीं। उनके (ठाकुर के) सान्निध्य में कष्ट कहाँ था, वहाँ तो आनन्द-ही-आनन्द था। अपनी सुख-सुविधा का प्रश्न उनके मन में कभी उदित ही नहीं होता था। रामकृष्णजीविता प्रियतमसुख-नन्दिता की अपनी सत्ता तो परमास्पद में पूर्ण रूप से विलीन हो चुकी थी!

श्यामपुकुर में श्रीमाँ की कठिन साधना की बात याद आते ही मन आश्चर्यचकित हो उठता है। उस मकान में सबके लिए नहाने का एक ही स्थान था। रात में तीन बजे से पहले उठकर नहा-धो लेने के बाद किस समय वे तिमंजिले की छोटीसी छत पर पहुँच जाती थीं, उसका किसी को कोई पता नहीं चलता था। दिन-भर उस छोटीसी जगह में बैठकर श्रीरामकृष्ण के लिए आवश्यक पथ्यादि तैयार किया करती थीं। और यथासमय अन्य लोगों को हटा देने के बाद उनके समीप आकर उन्हें पथ्यादि खिला जाती थीं। अधिक रात होने पर जब सब लोग सो जाते, तब श्रीमाँ अपने लिए निर्धारित

दूसरी मंजिल के कमरे में उतरती थीं। अधिक-से-अधिक तीन घण्टे उन्हें विश्राम करने का अवकाश मिलता था।

इधर चिकित्सा से श्रीरामकृष्ण की बीमारी थोड़ी भी नहीं घटी। उनकी आत्मा क्रमशः स्थूल देह को छोड़कर असीम ज्योतिर्मय आकाश में विचरण करने लगी। सूक्ष्म देह से दूर-दूर तक जाकर वे बहुत से व्यक्तियों पर कृपा करने लगे। स्थूल देह में मानो वे और आबद्ध रहना नहीं चाहते थे।

एक दिन विजयकृष्ण गोस्वामी ढाके से आये और कहा, "मैं एक दिन ढाके में अपने कमरे का दरवाजा भीतर से बन्द करके ईश्वर-चिन्तन कर रहा था कि अकस्मात् परमहंस देव ने मुझे सशरीर दर्शन दिया और मुझ पर कृपा की। मैंने पहले तो इसे अपनी बुद्धि का भ्रम समझा। फिर जब उसकी सत्यता की जाँच के लिए मैंने उनके अंग-प्रत्यंगों को अपने हाथ से छू-छूकर देखा, तब कहीं विश्वास हुआ।" विजय के मुँह से यह सुनकर सब कोई स्तम्भित हो गये, क्योंकि श्रीरामकृष्ण देव तो उस समय श्यामपुकुर में थे! श्रीरामकृष्ण के अधरों पर मृदु-मन्द हँसी बिखर उठी।

श्रीरामकृष्ण की स्थूल देह की बीमारी तेजी के साथ बढ़ती ही चली। किसी भी दवा से कोई फायदा नहीं पहुँचते देखकर डाक्टर सरकार विचलित हो उठे। भक्तों की चिन्ता की सीमा न थी। डाक्टर के परामर्शानुसार कलकत्ते से बाहर किसी खुले स्थान में हवा बदलने के लिए उन्हें ले जाना निश्चित हुआ। लगभग ढाई महीने श्यामपुकुर में रहने के बाद १८८५ ई. के ११ दिसम्बर के सायंकाल को, शुभ मुहूर्त में श्रीरामकृष्ण को कलकत्ते के समीप काशीपुर लाया गया। श्रीमाँ भी साथ में थीं। अन्तरंग त्यागी पार्षद-गण भी श्रीरामकृष्ण के सान्निध्य में उपस्थित हुए। इस प्रकार काशीपुर के उद्यान में श्रीरामकृष्ण देव ने अपने कण्ठ-रोग का अवलम्बन

कर भावी 'धर्मसंघ' की नींव डाली और शक्तिस्वरूपिणी माता श्रीसारदा देवी इसकी अधिष्ठात्री देवी बनीं।

श्रीरामकृष्ण ने अपनी नर-लीला के शेष आठ महीने काशीपुर में ही व्यतीत किये।

काशीपुर में श्रीमाँ के दिन कितनी चिन्ता में बीते इसका वर्णन असम्भव है। श्रीरामकृष्ण के असहनीय कष्ट को देखकर पाषाण-हृदय भी विगलित हो उठता था। वे पानी तक निगल नहीं सकते थे। श्रीमाँ ने कहा था, "किसी-किसी दिन गले से, नाक से सूजी निकल आती थी। उस समय उन्हें असह्य वेदना होती थी।..." इसके ऊपर, श्रीरामकृष्ण को बारम्बार भाव-समाधि होती थी; गम्भीर विषयों पर चर्चा हरदम चलती रहती थी। एक दिन भावाविष्ट होकर कभी संकेत करते हुए और कभी धीमे स्वर से श्रीरामकृष्ण कहने लगे, "यदि और कुछ दिन यह शरीर रहता, तो लोगों में चैतन्य का संचार होता।" कुछ देर चुप रहकर फिर बोले, "सो (माता इस शरीर को) नहीं रखेगी।...सो नहीं रखेगी; यह सीधा-सादा मूर्ख कहीं सब कुछ न दे डाले!! ऐसे ही तो कलिकाल में जप-ध्यान नहीं है।"

इस समय एक दिन श्रीरामकृष्ण को एक दिव्य-दर्शन प्राप्त हुआ। उन्होंने देखा कि उनका सूक्ष्म शरीर स्थूल देह से निकलकर बाहर घूम रहा है। बाद में उन्होंने कहा था, "मैंने देखा कि उसकी सारी पीठ में घाव हो गया है। यह देखकर मैं सोचने लगा कि ऐसा क्यों हुआ? तब माता ने दिखाया कि यथेच्छ आचरण करनेवाले लोग आकर इसको (मुझको) छूते हैं और उनकी दुर्दशा देखकर मन में दया होती है, फलस्वरूप उनके कुकर्मों के फल को ले लेना पड़ता है। उसी का यह परिणाम है। तभी तो (अपने गले को दिखाकर) ऐसा हुआ है। नहीं तो, इस शरीर ने ऐसा कुछ भी अनुचित नहीं किया, जिससे कि इतना कष्ट उठाना पड़े।" जीवों के पापों को अपने ऊपर

लेने के कारण ही उनको इतनी कठिन बीमारी हुई थी। उनके मुख से उक्त दिव्य-दर्शन की बात सुनकर बहुतसे लोगों को बड़ा ही दुःख हुआ।

इस समय की एक अचिन्तनीय घटना से सब कोई अत्यन्त चिन्तित और विचलित हो उठे थे। कुछ भक्त काली-माता की पूजा के लिए फल-मिठाई इत्यादि लेकर दक्षिणेश्वर पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि श्रीरामकृष्ण वहाँ नहीं हैं। पूछने पर जब उन्हें विदित हुआ कि वे चिकित्सा के लिए काशीपुर में हैं, तब उन्होंने श्रीरामकृष्ण के कमरे में उनके चित्र के सम्मुख मिठाई आदि निवेदित कर प्रसाद ग्रहण किया। काशीपुर में यह समाचार पहुँचते ही श्रीरामकृष्ण के अनिष्ट की आशंका से सब कोई बड़े चिन्तित हो उठे। श्रीमाँ भी आतंकग्रस्त होकर विचारने लगीं— वे इतने बीमार हैं, न जाने क्या होगा। श्रीरामकृष्ण भी उक्त समाचार को सुनकर बारम्बार कहने लगे, "देखो तो, कैसा अनुचित काम किया है? जगन्माता के लिए लाकर सब कुछ यहीं दे डाला?... क्या यह उचित था? उन लोगों ने ऐसा क्यों किया?"

रात में श्रीमाँ उन्हें पथ्य देने के लिए उनके कमरे में गयीं। उस समय एकान्त में श्रीरामकृष्ण उनसे कहने लगे, "देखो, तुम लोग चिन्तित न होना। इसके बाद घर-घर मेरी पूजा होगी। मैं सच कह रहा हूँ, इस बात का विश्वास रखो।" इस घटना का उल्लेख कर श्रीमाँ कहा करती थीं, "उस दिन मैंने पहली बार उन्हें 'मेरा' शब्द उच्चारण करते हुए सुना। (अपने बारे में) वे कभी 'मैं' अथवा 'मेरा' नहीं कहते थे। कहते—'इस ढाँचे का', अथवा अपने शरीर को दिखाकर कहते—'इसका'।" श्रीरामकृष्ण का अहंभाव जगन्माता में लीन हो चुका था।

काशीपुर के बगीचे में एक दिन श्रीमाँ ढाई सेर दूध का एक पात्र लेकर सीढ़ी से ऊपर जा रही थीं कि सिर में चक्कर आ जाने से

वे गिर पड़ीं। दूध खराब हुआ सो तो अलग, पर उनकी एड़ी की हड्डी सरक जाने से उनका चलना-फिरना भी बन्द हो गया। उन्हें उठाकर सहारा देते हुए किसी प्रकार उनके कमरे में ले जाया गया। पैर में असह्य वेदना होने लगी। श्रीरामकृष्ण को भी बहुत कष्ट हुआ। श्रीमाँ उनके लिए माँड़ तैयार करके ऊपर उनके कमरे में ले जाकर बड़े यत्नपूर्वक उन्हें खिलाती थीं। बाल-स्वभाव श्रीरामकृष्ण को चिन्ता हुई—अब कौन माँड़ बनायगा, कौन खिलायगा? ऐसे कष्ट में भी उनकी रसिकता का अन्त नहीं था। बालक-भक्त बाबूराम को बुलाकर वे कहने लगे, "अरे बाबूराम, अब क्या होगा? भोजन की क्या व्यवस्था होगी? मुझे कौन खिलायगा?" श्रीमाँ उस समय नाक में एक बड़ी नथ पहनती थीं। इसी लिए अपनी नाक दिखाकर हाथ घुमाकर संकेत करते हुए उन्होंने बाबूराम से कहा, "अरे बाबूराम, ऐसी जो है, उसे तू टोकरी में रखकर सिर पर उठाकर यहाँ ला सकता है?" उनकी यह बात सुनकर बालक-भक्त हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये।

पाँव के दर्द में तीन दिन तक खाट पकड़े रहने के बाद चौथे दिन श्रीमाँ दूसरे की सहायता से बड़े कष्ट से श्रीरामकृष्ण का पथ्य लेकर ऊपर गयीं। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि श्रीरामकृष्ण आँखें मूँदकर लेटे हुए हैं। श्रीमाँ ने आवाज दी, "उठो, अब भोजन करना है।" उनके कण्ठ-स्वर से सहसा उनकी अन्यमनस्कता दूर हुई। वे मानो सुदूर प्रान्त से लौटकर भाव के नशे में श्रीमाँ की ओर देखते हुए बोले, "देखो, लोग अँधेरे में कीड़ों की तरह बिलबिला रहे हैं। तुम उनकी ओर देखना।"

"मैं अबला हूँ! यह कैसे हो सकता है?"—श्रीमाँ की वाणी में जिज्ञासा थी।

श्रीरामकृष्ण अपनी ओर संकेत करते हुए उसी आवेश में कहने लगे, "इसने किया ही क्या है? तुम्हें तो इससे बहुत अधिक करना है।"

श्रीमाँ ने उस प्रसंग को समाप्त करने के लिए कुछ जोर देकर कहा, " जब होगा, तब देखा जायगा। अभी तो तुम भोजन कर लो।" उनके कथन में आश्वासन का स्वर झंकृत हो उठा। श्रीरामकृष्ण उठकर बैठे।

श्रीरामकृष्ण लीला-देह को त्यागकर स्वधाम में चले जाने को प्रस्तुत हो उठे थे। इसलिए लीला-सहचरी को जीवोद्धार का कार्यभार सौंपकर वे निश्चिन्त होना चाहते थे। किन्तु श्रीमाँ अपने स्वरूप को छिपाये रखना चाहती थीं, इसी लिए श्रीरामकृष्ण का ऐसा बारम्बार प्रयास तथा कहना-सुनना था। अन्य एक दिन की घटना है। श्रीमाँ उनकी सेवा के लिए उनके कमरे में गयी हुई थीं। वे अत्यन्त उत्सुकता के साथ उनकी ओर टकटकी बाँधकर देखने लगे। अपनी ओर उन्हें इस प्रकार देखते हुए देख श्रीमाँ बोलीं, " क्या कहना चाहते हो, कहो न ? "

श्रीरामकृष्ण अभियोग के स्वर से कहने लगे, " क्यों भला, क्या तुम कुछ भी न करोगी ? (अपना शरीर दिखाकर) इसी को सब कुछ करना होगा ? "

तब भी श्रीमाँ ने संकोच के साथ उत्तर दिया, " मैं अबला हूँ, मैं कर ही क्या सकती हूँ ? "

श्रीरामकृष्ण बड़े व्यग्र हो उठे, बोले, " नहीं-नहीं, तुमको बहुत-कुछ करना है।" उस समय भी यह प्रसंग पहले की भाँति दबा दिया गया। अथवा यह भी हो सकता है कि श्रीरामकृष्ण ने और भी कुछ कहा हो, जिसे श्रीमाँ ने कभी किसी के पास प्रकट नहीं किया।

काशीपुर-आगमन के बाद छोटी-बड़ी विभिन्न घटनाओं से दिनों-दिन यह स्पष्ट विदित होने लगा कि श्रीरामकृष्ण स्थूल शरीर में अब और आबद्ध रहना नहीं चाहते। उनका आत्मा-पक्षी असीम ज्योतिर्मय गगन में विचरण करना चाहता था। श्रीमाँ सब कुछ देखतीं और एकान्त

में बैठकर रोतीं। दैवी इच्छा को कौन रोक सकता है! विभिन्न अचिन्तनीय घटनाओं के एकत्र समावेश से श्रीमाँ किंकर्तव्यविमूढ़ हो उठीं।

काशीपुर के बगीचे में दक्षिण की ओर के एक खजूर के वृक्ष से रस निकाला जा रहा था। युवक-भक्तों की इच्छा हुई कि एक दिन शाम को अवकाश के समय खजूर का रस पिया जाय। एक दिन जाड़े की सन्ध्या को निरंजन (स्वामी निरंजनानन्द) आदि भक्त शोर-गुल मचाते हुए रस पीने चले। उस समय अपने कमरे में बैठकर श्रीमाँ ने देखा कि श्रीरामकृष्ण बड़ी द्रुत गति से नीचे उतरे। विस्मित हो वे सोचने लगीं — "यह क्या सम्भव है? जिनको करवट बदलने के लिए भी सहारा देना पड़ता है, वे इतनी तेजी से नीचे कैसे उतर सकते हैं?" किन्तु आँखों-देखी घटना का अविश्वास भी कैसे किया जा सकता है। वे तुरन्त उनके कमरे में पहुँचीं। बिस्तर खाली पड़ा हुआ था, श्रीरामकृष्ण कमरे में नहीं थे। वे भय से काँप उठीं। इधर-उधर उन्हें ढूंढ़ने लगीं। कहीं भी उनका पता न लगने पर चिन्ताकुल हो वे अपने कमरे में लौट गयीं और उदास होकर बैठी रहीं। कुछ देर बाद उन्होंने देखा कि श्रीरामकृष्ण बड़ी तेजी से आकर अपने कमरे में प्रविष्ट हुए। ऊपर जाकर श्रीमाँ ने देखा कि वे पहले की ही भाँति बिस्तर पर लेटे हुए हैं।

दूसरे दिन भोजन कराते समय उक्त घटना की चर्चा करने पर श्रीरामकृष्ण ने तो पहले उसे छिपाने की चेष्टा की। पूछा, "...तुमने देखा है?" फिर कुछ धीमे स्वर से कहने लगे, "ये सब लड़के यहाँ आये हैं, वे तो बच्चे ही हैं। इस बगीचे के बगल में जो खजूर का पेड़ है, उसका रस पीने के लिए वे आनन्दित होकर जा रहे थे। मैंने देखा, उस पेड़ के नीचे एक काला साँप है। वह इतना क्रोधी है कि सबको काट खाता। लड़कों को यह पता नहीं था। इसलिए दूसरे रास्ते से

वहाँ पहुँचकर मैंने उसे बगीचे से बाहर निकाल दिया और कह आया कि अब कभी भीतर न आना।"

यह सुनकर श्रीमाँ निर्वाक् हो गयीं। वे समझ गयीं कि श्रीरामकृष्ण अब स्थूल देह में आबद्ध रहनेवाले नहीं हैं। उनका हृदय वेदनातुर हो उठा। असहनीय अन्तिम आघात के लिए वे प्रस्तुत होने लगीं।

चिकित्सादि से कोई फल न होता देख दैव-प्रतिकार की आशा से श्रीमाँ तारकेश्वर पहुँचीं। जाग्रत् शिवमूर्ति के चरणों में प्रार्थना का प्रदीप प्रज्वलित कर वे उनकी कृपा-प्राप्ति के लिए उस देव-मन्दिर में निर्जल-उपवास करती हुई पड़ी रहीं। एक दिन गया, दो दिन बीते, पर उस प्रस्तरमय देवता से उन्हें कोई उत्तर न मिला। उत्कण्ठा के साथ श्रीमाँ प्रतीक्षा करती रहीं। तीसरे दिन गहरी रात में मन्दिर को प्रकम्पित करता हुआ एक विकट शब्द श्रीमाँ को सुनाई दिया। ऐसा प्रतीत हुआ, मानो एक-पर-एक रखी हुई हण्डियों में से ऊपर की हण्डी को किसी ने जोर से मारकर टुकड़े-टुकड़े कर दिये। श्रीमाँ चौंक उठीं और साथ-ही-साथ उनके मन में विचार उठा—'इस संसार में कौन किसका पति है ? कौन किसका अपना है ? किसके लिए मैं यहाँ पर प्राण देने आयी हूँ ?' उनका अन्तःकरण वैराग्यानल की निर्मल दीप्ति से उद्भासित हो उठा। उसी समय उठकर श्रीमाँ मन्दिर के पीछे की ओर उस कुण्ड के पास गयीं, जहाँ शिवजी का स्नान-जल आकर गिरता है, और अँधेरे में अंजलि से उसमें का जल पिया तथा अपने आँख-मुँह में उसके छींटे दिये। वे दूसरे ही दिन तारकेश्वर से वापस चली आयीं।

काशीपुर आते ही श्रीरामकृष्ण ने उनसे पूछा, "कहो, कुछ हुआ ?" फिर कुछ परिहास के साथ अँगूठा दिखाते हुए बोले, "कुछ भी — नहीं।"

श्रीरामकृष्ण ने एक दिन बहुत ही कष्ट के साथ अस्पष्ट स्वर में श्रीमाँ से पूछा, "तुम कभी स्वप्न भी देखती हो ?"

श्रीमाँ ने एक दिन स्वप्न में देखा था — काली-माता गर्दन टेढ़ी किये हुए खड़ी हैं। उन्होंने पूछा, "माँ, तुम इस प्रकार क्यों खड़ी हो ?" माँ-काली ने उत्तर दिया, "उसके इसके कारण (श्रीरामकृष्ण के गले के घाव को दिखाती हुई) मुझे भी हो गया है।" बाद में श्रीरामकृष्ण देव ने कहा, "जो कुछ भोग था, सब मैंने भोग लिया। अब तुममें से किसी को कोई कष्ट नहीं भोगना पड़ेगा। संसार के सबके लिए मैंने भुगत लिया।" जीव-कल्याणार्थ अवतीर्ण श्रीरामकृष्ण देव ने संसार के पाप-भार को हलका करने के लिए असंख्य पापी-तापियों के पाप-ताप को अपने शरीर में ले लिया था, इसी लिए तो उन्हें ऐसी कठिन बीमारी हुई थी।

श्रीमाँ ने एक दिन कहा था, "...ठाकुर इच्छामृत्यु थे। समाधिमग्न दशा में वे अनायास अपना शरीर छोड़ सकते थे। वे कहते, 'अहा, बच्चों को एक सूत्र में अगर बाँध सकता!' इसी लिए तो इतना कष्ट पाते हुए भी उन्होंने अपना शरीर नहीं छोड़ा।" बीमारी का अवलम्बन कर श्रीरामकृष्ण ने काशीपुर में बहुतों पर कृपा की। 'कल्पतरु' होकर एक दिन उन्होंने अनेक भक्तों को चैतन्य प्रदान किया था। अपनी रोगशय्या के समीप त्यागी सन्तानों को एकत्र कर युगधर्म-प्रचारार्थ उन्होंने "रामकृष्ण-त्यागी-संघ" की स्थापना की। अतीत की घटनाओं की चर्चा करते हुए माताजी ने एक दिन कहा था, "काशीपुर का बगीचा उनका अन्तिम-लीला-निकेतन है। वहाँ पर कितनी ही तपस्या और ध्यान-समाधि हुई है। वह उनकी महासमाधि का स्थान है। वहाँ ध्यान करने से सिद्धि होती है।"

श्रीरामकृष्ण अन्तिम शय्या पर लेटे हुए थे। दिन-प्रतिदिन श्रीमाँ अपार क्लेश सहन कर रही थीं। उनके शारीरिक कष्ट और मानसिक वेदना की सीमा न थी। फिर भी आशान्वित हो, धैर्य धारण कर वे मूर्तिमती तितिक्षा की भाँति — देवमन्दिर-स्थित स्थिर ऊर्ध्वमुखी

दीप-शिखा की तरह विराजमान थीं। आरोग्य-कामना की हरदम प्रार्थना करते हुए वे दिन-रात लगातार श्रीरामकृष्ण की सेवा में संलग्न थीं। दीर्घकालीन बीमारी से श्रीरामकृष्ण अस्थि-चर्म मात्र हो चुके थे, उनको देखकर श्रीमाँ का हृदय विदीर्ण हो जाता था। ऐसी स्थिति में भी श्रीरामकृष्ण की भाव-समाधि का विराम नहीं था। भक्तगण विस्मय-विह्वल हो उन समाधि-चित्रों को देखते। उनका चन्द्रवदन उज्ज्वल और प्रेमानुरंजित हो उठता था। उन आनन्दमय महापुरुष की देवदुर्लभ पवित्र मोहन मूर्ति को देखकर हृदय शान्तिरस से भर जाता था।

एक दिन अर्धबाह्य-दशा में धीर-गम्भीर स्वर से श्रीरामकृष्ण कहने लगे, "इसके अन्दर दो विद्यमान हैं। एक तो वे स्वयं ही हैं।... और एक है भक्त के रूप में। उसी का हाथ टूटा था, और वही बीमार है। समझे ?... मैं किससे कहूँ, और समझेगा भी कौन ? ...वे मनुष्य के रूप में अवतार ले भक्तों के साथ आते हैं। भक्त भी उनके ही साथ फिर से वापस चले जाते हैं।..." विस्मित होकर भक्तगण वह देववाणी सुनने लगे।

फिर इसके साथ ही अनुयायियों में अलौकिक शक्ति-संचार भी चल रहा था। सबको तीव्र साधना में नियोजित किया जा रहा था। प्रत्येक को अलग-अलग बुलाकर गुह्य तत्त्व की शिक्षा दी जा रही थी।

महिला-भक्त योगीन्द्रमोहिनी के मन में वृन्दावन जाकर तपस्या करने की तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई। अवसर पाकर उन्होंने श्रीरामकृष्ण के समीप अपनी अभिलाषा व्यक्त की। सब कुछ सुनने के बाद वे उल्लसित होकर कहने लगे, "तुम वृन्दावन जाना चाहती हो ? अच्छी बात है, जाओ, वहाँ तुम्हें सब कुछ मिलेगा।" उसी समय श्रीरामकृष्ण का पथ्य लेकर श्रीमाँ वहाँ उपस्थित हुईं। उनको देखते ही श्रीरामकृष्ण योगीन-माँ से कहने लगे, "इससे पूछा है ? यह क्या

कहती है ?" श्रीमाँ को पहले से ही सब कुछ विदित था, इसलिए उन्होंने कहा, "मैं और क्या कह सकती हूँ ? जो कुछ कहना था, तुम्हीं ने तो कह दिया।" पर अपनी पहली वात को दुहराते हुए श्रीरामकृष्ण ने योगीन-माँ को परामर्श दिया, "देखो, वेटी, इसे राजी करके जाना, तुम्हारा सब कुछ हो जायगा।" श्रीमाँ ने कोई उत्तर नहीं दिया, वे यथासमय श्रीरामकृष्ण के भोजन के वरतनों को लेकर नीचे चली गयीं।

दूसरे दिन प्रातःकाल वृन्दावन-यात्रा से पूर्व योगीन्द्रमोहिनी श्रीरामकृष्ण और श्रीमाँ का आशीर्वाद लेने काशीपुर उपस्थित हुईं। श्रीरामकृष्ण को प्रणाम कर जब वे श्रीमाँ को प्रणाम करने गयीं, तो माताजी ने उनके मस्तक पर हाथ रखकर मन्त्रजप करके उन्हें आशीर्वाद देकर विदा दी।

नरलीला-संवरण के कुछ ही दिन बाकी थे। एक दिन श्रीरामकृष्ण का अद्भुत भावान्तर हुआ। श्रीमाँ को बुला लाने के लिए उन्होंने शशी (स्वामी रामकृष्णानन्द) को भेजा और कहने लगे, "वह बहुत ही बुद्धिमती है। वह आने से यहाँ की अवस्था को ठीक-ठीक समझ सकती है।" श्रीमाँ के आने पर उन्होंने कहा, "देखो, पता नहीं मेरे मन में क्यों सर्वदा ब्रह्मभाव की उद्दीपना हो रही है ?" श्रीमाँ भला क्या कहें ! वे समझ गयीं कि ब्रह्म में लीन होनेवाले उनके मन को अब नीचे नहीं लाया जा सकता। काँपते हुए से स्वर उन्हें आश्वासन देती हुई आँसुओं को छिपाने के लिए वे मुँह फेरकर खड़ी हो गयीं।

शरीर छोड़ने के दिन श्रीरामकृष्ण मौन धारण कर असीम की ओर दृष्टि स्थापन करके तकिये के सहारे बैठे हुए थे। उनकी रोग-शय्या को घेरकर भक्तगण चुपचाप बैठे हुए थे। चारों ओर गम्भीर विषाद की मर्मवेदना छायी हुई थी। श्रीरामकृष्ण को मौन देखकर

सब कोई सोचने लगे कि उनकी बोली बन्द हो गयी है। लक्ष्मी-मणि को साथ लेकर श्रीमाँ वहाँ उपस्थित हुई। उन्हें देखकर श्रीरामकृष्ण कहने लगे, "आ गयीं? देखो, मुझे ऐसा मालूम हो रहा है, मानो मैं कहीं जा रहा हूँ। चारों ओर पानी-ही-पानी है, और मैं उसके अन्दर पता नहीं कितनी दूर चला जा रहा हूँ।" श्रीमाँ रोने लगीं।

सायंकाल के कुछ ही देर बाद श्रीरामकृष्ण गम्भीर समाधि में निमग्न हुए। शरीर निस्पन्द-निश्चल हो गया। मध्यरात्रि में उन्हें सहज अवस्था प्राप्त हुई। उन्होंने बिना कष्ट के सीझी हुई पतली सूजी भी थोड़ीसी खायी। नरेन्द्रनाथ (स्वामी विवेकानन्द) ने उनसे थोड़ा सो जाने के लिए प्रार्थना की। बड़े स्वाभाविक कण्ठ से तीन बार जोर से 'काली' नाम का उच्चारण कर श्रीरामकृष्ण भावस्थ हो गये।

उस दिन रविवार था — १५ अगस्त, सन् १८८६ ई.। महा-निशा की निस्तब्धता को भंग करते हुए झींगुरों के शब्द सुनाई दे रहे थे। रात्रि के १ बजकर ६ मिनट के समय श्रीरामकृष्ण का शरीर अकस्मात् बारम्बार पुलकित और रोमांचित होने लगा। उनकी दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर स्थिर हो गयी। समग्र मुखमण्डल दिव्यानन्द से उद्भासित हो उठा। वे समाधिस्थ हो गये। यह समाधि ही महा-समाधि में परिणत हुई। दूसरे दिन दोपहर तक समाधिस्थ रहने के बाद श्रीरामकृष्ण देव स्वरूप में लीन हो गये। पूर्ण, पूर्ण में जा मिला।

श्रीमाँ रो उठीं, "मेरी माँ-काली, मुझे छोड़कर कहाँ चली गयीं तुम!"

५

श्रीरामकृष्ण महासमाधि में लीन हो गये। काशीपुर-श्मशान की चितागिन में उनकी पवित्र देह का संस्कार हुआ। सायंकाल के समय शोकातुरा श्रीमाँ ने विधवा का वेश धारण किया। वे अपने अंगों से एक-एक करके आभूषण उतारने लगीं। जब हाथों से कंगन उतारने को प्रस्तुत हुईं, तब अकस्मात् श्रीरामकृष्ण उनके दोनों हाथों को पकड़कर कहने लगे, "क्या मैं मर गया हूँ कि तुम हाथों से सुहाग का चिह्न दूर कर रही हो ?" अतः हाथों के कंगन निकाले नहीं गये।

बलरामबाबू सफेद वस्त्र खरीद लाये थे। उसे श्रीमाँ को देने के लिए किसी सेविका को देते ही वह कम्पित स्वर से कह उठी, "बाप रे, यह सफेद वस्त्र उन्हें कौन देने जायगा ?" इधर उनके समीप पहुँचकर सेविका ने देखा कि श्रीमाँ ने अपने हाथों से साड़ी की किनारी को फाड़कर बारीक कर लिया है। उस समय से वे बहुत बारीक लाल किनार की साड़ी पहनती थीं।

श्रीरामकृष्ण ने चिन्मय-देह से श्रीमाँ को दर्शन दिया है, इस समाचार के फैलते ही भक्तमण्डली आनन्द और विस्मय से विह्वल हो उठी। किन्तु श्रीमाँ श्रीरामकृष्ण के अन्तर्धान से इतनी व्याकुल हो गयीं कि उन्होंने शरीर छोड़ने का निश्चय किया। श्रीरामकृष्ण पुनः उन्हें दर्शन देकर बोले, "नहीं, तुम्हें रहना होगा; अभी बहुतसा काम बाकी है।" † श्रीरामकृष्ण के चले जाने से जो शून्यता हुई थी,

---

† 'श्रीश्रीमाँ की वाणी' नामक बँगला ग्रन्थ में वर्णित है :— श्रीमाँ कह रही हैं, "वे जब चले गये, तब मेरी भी इच्छा हुई कि

उसे सहन करना श्रीमाँ के लिए क्रमशः असम्भव-सा हो उठा। फिर भी उनके आदेश की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी, अतः श्रीमाँ को रहना ही पड़ा।

श्रीरामकृष्ण के लीला-संवरण के सात दिन बाद बलराम बसु के विशेष आग्रह से श्रीमाँ लक्ष्मीमणि के साथ उनके बागबाजार-स्थित मकान में आयीं। दु:सह विरह में वे मानो अपनी सारी सहन-शक्ति खो चुकी थीं। उनके चित्त की अस्थिरता क्रमशः बढ़ती ही जा रही थी। इसलिए श्रीरामकृष्ण के विशिष्ट शिष्यों के परामर्शानुसार माताजी का वृन्दावन जाना निश्चित हुआ। बलराम-भवन में सात दिन रहने के बाद भादों की १५ वीं तिथि को श्रीमाँ ने वृन्दावन की यात्रा की। साथ में त्यागी-सन्तान योगेन, काली (स्वामी अभेदानन्द) और लाटू थे तथा गोलाप-माँ आदि कतिपय महिला-भक्त थीं। मार्ग में वैद्यनाथ होकर श्रीमाँ काशीधाम पहुँचीं। मुक्ति-पुरी स्वर्णकाशी के दर्शन कर उनका हृदय दिव्यानन्द से परिपूर्ण हो उठा। उस मुक्ति-धाम में उन्होंने सात-आठ दिन निवास किया। विश्वनाथ, अन्नपूर्णा तथा अन्यान्य देवी-देवताओं एवं मन्दिरादि का उन्होंने घूम-फिरकर दर्शन किया। वेणीमाधव के धौरहरे पर चढ़कर समग्र काशीक्षेत्र को देखकर श्रीमाँ दिव्य भाव से विह्वल हो उठीं। एक दिन विश्व-नाथ के मन्दिर में सन्ध्या-आरती का दर्शन करते समय उनको गम्भीर

में भी चली जाऊँ। उन्होंने दर्शन देकर कहा, 'नहीं, तुम रहो, अभी बहुतसा काम बाकी है।' अन्त में मैंने देखा कि सचमुच बहुतसा काम बाकी है।"

श्रीमाँ के कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीरामकृष्ण के शरीर छोड़ने के थोड़े ही दिन बाद उन्हें दूसरी बार श्रीरामकृष्ण के दर्शन प्राप्त हुए थे तथा उनके आदेशानुसार ही उन्हें अपने शरीर-त्याग के संकल्प को त्यागना पड़ा था।

भावावेश हो गया। लौटते समय उस आवेश में वे जोर-जोर से पैरों को पटकती हुई अपने निवास-स्थान पर वापस आयीं। बाद में उन्होंने कहा था, "ठाकुर हाथ पकड़कर मुझे मन्दिर से ले आये।" उस भावावेश को छिपाने के लिए अपने निवास-स्थान पर लौटते ही वे सो गयीं।

अन्यान्य महिलाओं के साथ श्रीमां एक दिन काशी के प्रसिद्ध योगी भास्करानन्द स्वामी के दर्शन करने गयीं। बाद में उस सम्बन्ध में उन्होंने कहा था, "अहा, कैसे निर्विकार महापुरुष हैं! चाहे जाड़ा हो या गर्मी, सदा नंगे बैठे रहते हैं।" काशी से सब कोई प्रयाग के त्रिवेणी-संगम में गये। श्रीमाँ ने उस पुण्यतीर्थ में स्नान किया। † फिर उस पवित्र संगम में उन्होंने श्रीरामकृष्ण देव के कुछ केश विसर्जित किये।

वृन्दावन के रास्ते में रेलगाड़ी के अन्दर आश्चर्यजनक रूप से

---

† अब तक श्रीमाँ की जीवनी के सम्बन्ध में जितने ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, उन सभी में अयोध्या होकर उनके वृन्दावन जाने का उल्लेख है। किन्तु 'श्रीश्रीमाँ की वाणी' नामक बँगला ग्रन्थ के दूसरे खण्ड के ४०१ पृष्ठ में वर्णित है:— श्रीमाँ कह रही हैं, "ठाकुर का केश क्या साधारण चीज है! उनके शरीर-त्याग के कुछ दिन बाद जब मैं काशी होकर प्रयाग गयी थी, उस समय तीर्थ में विसर्जन करने के लिए उनके केश मैं अपने साथ लेते गयी थी। गंगा-यमुना के संगम के शान्त जल में उनके केश हाथ में लेकर मैं विसर्जन करने ही वाली थी कि अकस्मात् एक लहर उठी और मेरे हाथों से केश को लेकर फिर से जल में विलीन हो गयी। तीर्थ ने स्वयं पवित्र होने के लिए उनके केश मेरे हाथों से ले लिये।" हमने यहाँ पर श्रीमाँ के कथन को ही स्वीकार किया है।

श्रीमाँ के कथन से यह स्पष्ट है कि वे लोग काशी से प्रयाग होकर वृन्दावन गये थे। दूसरी बार जिस समय श्रीमाँ अपनी माता को

श्रीरामकृष्ण के दर्शन पाकर श्रीमाँ अत्यन्त विस्मित और पुलकित हो उठी थीं। श्रीरामकृष्ण के शरीर छोड़ने के उपरान्त उनके दिये हुए सोने के 'रक्षा-कवच' को श्रीमाँ अपने दायें हाथ में धारण करती थीं तथा प्रतिदिन उसकी पूजा करतीं। वे गाड़ी में सो रही थीं, नींद में उनका हाथ डब्बे की खुली हुई खिड़की पर जा पड़ा। श्रीरामकृष्ण ने खिड़की से सिर अन्दर डालकर श्रीमाँ से कहा, "देखो, साथ में कवच है, उसका ध्यान रखना, कहीं खो न जाय।" श्रीमाँ ने उसी समय उसे खोलकर टीन के छोटे बक्स में श्रीरामकृष्ण के नित्य-पूजित चित्रपट के साथ रख दिया।

श्रीरामकृष्ण के उस आकस्मिक दर्शन से श्रीमाँ विह्वल हो उठीं। वे सबकी दृष्टि के अगोचर हरदम साथ-साथ जो हैं! और इतना ही नहीं, बल्कि वे भले-बुरे सभी विषयों में सलाह भी देते हैं, जैसा कि स्थूल शरीर में रहते समय करते थे। वे किस प्रकार घनिष्ठ भाव से अपने पास-पास विद्यमान हैं — श्रीमाँ ने इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया।

वृन्दावन में वे लोग वंशीवट के समीप कालाबाबू के कुंज में ठहरे हुए थे। महिला-भक्त योगेन-माँ श्रीरामकृष्ण के देहत्याग के पूर्व ही तपस्या के निमित्त वृन्दावन आयी थीं। वृन्दावन में उनको देखते ही श्रीमाँ ने शोकाविष्ट होकर 'अरी योगेन' कहकर उन्हें छाती से लगा लिया और विह्वल हो रोने लगीं। योगेन-माँ और श्रीमाँ की जब कभी भेंट होती, वे दोनों बैठकर रोने लगतीं। दोनों के विरहातुर चित्त को अश्रु-विसर्जन से ही मानो सान्त्वना मिलती थी। एक दिन श्रीरामकृष्ण ने माताजी को दर्शन देकर कहा, "भला, तुम लोग इतनी रोती क्यों हो? मैं तो यहीं हूँ। गया कहाँ हूँ? यह तो मानो एक कमरे से दूसरे कमरे में जाना भर है।"

लेकर तीर्थ-दर्शन के निमित्त वृन्दावन गयी थीं, उस समय वे काशी से सम्भवतः अयोध्या होकर वृन्दावन गयी होंगी।

यहाँ पर मन में यह प्रश्न उदित होना स्वाभाविक है कि यह तो साधारण पति-पत्नी जैसा सम्बन्ध है। एक के वियोग में दूसरे की मर्म-व्यथा की अभिव्यक्ति मात्र है। किन्तु, माया का अवलम्बन करके ही तो देह-धारण होता है, लीला होती है! श्रीरामचन्द्र के विरह में सीता का विलाप, श्रीकृष्ण के वियोग में राधिका का हृदय-विदारक क्रन्दन — ये सब लीला-विलास ही तो हैं। मन को निर्विकल्प की ओर ले जाकर गहरी समाधि में निमग्न रहने से तो लीला की पूर्ति नहीं होती! उससे देह-धारण की मूल बात ही अप्रकट रह जाती है।

इतने दिन तक श्रीरामकृष्ण स्थूल-रूप में विद्यमान थे। अब वे चिन्मय-रूप में — विरह-रूप में थे। विरह भी तो उन्हीं का प्रकाश है। उनके ध्यान, उनके लिए रुदन में भी असीम आनन्द और अनन्त तृप्ति का अनुभव होता है। विरहाश्रु के दर्पण में उन्हीं की स्निग्ध-कान्ति प्रतिबिम्बित होती है। विरह में से ही उनका अमोघ स्पर्श मिलता है। तभी तो विरह-मन्दिर में प्रार्थना-दीपशिखा को प्रज्वलित कर मूर्तिमती सन्तोष के रूप में—विरह और मिलन की पूर्णता का संयोग-सूत्र होकर श्रीमाँ बैठी हुई थीं। रासलीला में से श्रीकृष्ण जब अन्तर्हित हो गये, तब गोपियों ने ध्यानयोग से अपने को 'कृष्णमय' देखा था, वे मानो कृष्ण हो गयी थीं। रामकृष्णैककान्ता, काम्या सारदा देवी ने भी इस समय अपने को रामकृष्णरूप अमृतसागर में डुबा दिया। विरह और मिलन इन दोनों रूपों में श्रीरामकृष्ण ही विद्यमान थे। श्रीमाँ का भीतर-बाहर रामकृष्णमय हो चुका था।

वृन्दावन भगवान की लीलाभूमि है। सबमें उन्हीं की लीला का प्रकाश है। भावमय-पुण्यभूमि, कृष्णमय-वृन्दावन में आकर श्रीमाँ का शोक-सन्तप्त हृदय क्रमशः शीतल होने लगा। साधना की असीम गहराई में, रामकृष्ण-चिन्तन की अमृतमयी यमुना में वे निमग्न हो गयीं। वे सर्वक्षण भाव-समाधि में विभोर रहने लगीं। विरह के आँसू

धीरे-धीरे दिव्यानन्द में परिणत हो गये। श्रीमाँ के हृदय-निधुवन में श्रीरामकृष्ण नाना प्रकार से क्रीड़ा करने लगे।

श्रीमाँ एक दिन कुंज में बैठकर ध्यान करती हुई ऐसी गहरी समाधि में निमग्न हो गयीं कि वह समाधि किसी भाँति नहीं टूटी। सब लोग बड़े चिन्तित हो उठे। महिला-भक्तों ने बहुत देर तक भगवन्नाम सुनाया, फिर भी कोई फल नहीं हुआ। अन्त में जब योगीन (स्वामी योगानन्द) ने आकर नाम सुनाया, तब उनकी समाधि किंचित् प्रशमित हुई। समाधि उतरने के समय श्रीरामकृष्ण जिस प्रकार कहते थे, श्रीमाँ ने भी उसी प्रकार कहा, "खाऊँगी।" मिठाई, जल और पान उनके सम्मुख रखे गये। भावाविष्ट होकर श्रीरामकृष्ण जिस प्रकार खाते थे, ठीक उसी प्रकार श्रीमाँ ने भी सब चीजें थोड़ी-थोड़ी खायीं। यहाँ तक कि पान के अग्रभाग को, श्रीरामकृष्ण की ही तरह, दाँतों से काटकर अलग करके खाया। उस समय श्रीमाँ से स्वामी योगानन्दजी ने कुछ प्रश्न किये। श्रीरामकृष्ण भावावस्था में जिस प्रकार उत्तर देते थे, श्रीमाँ ने भी ठीक उसी प्रकार उन प्रश्नों के उत्तर दिये। बाद में उन्होंने कहा था, "ठाकुर का आवेश हुआ था।"

उस समय भक्तों के साथ श्रीमाँ ने वृन्दावन में लगभग एक वर्ष तक निवास किया था। बहुधा वे भावावेश में तन्मय रहती थीं। कभी-कभी भावावेश के आनन्द में मग्न होकर कृष्णविलासिनी गोपिका की तरह यमुना की पुलिन-भूमि में अकेली ही घूमा करती थीं। उनकी संगिनियाँ उन्हें ढूंढ-ढूंढकर कुंज में ले आती थीं। और कभी आनन्दोत्फुल्ल छोटी बालिका की भाँति साथियों को लेकर मन्दिर-मन्दिर में दर्शन किया करतीं। वे सर्वदा आनन्द में मग्न रहती थीं। नित्य नवीन भावानन्द में विभोर रहती थीं।

एक दिन कीर्तन के साथ पत्र-पुष्प-सज्जित एक शव को ले जाते हुए देखकर श्रीमाँ कहने लगीं, "देखो, देखो, अहा, इसकी वृन्दावन

में मृत्यु हुई है! हम यहाँ पर मरने के लिए आयीं, पर एक दिन बुखार तक नहीं आया। देखो न, मेरी कितनी उमर हो गयी! मैंने अपने बाप को देखा है, जेठ को देखा है।" उनकी बातें सुनकर साथ की महिलाएँ हँसती-हँसती लोट-पोट हो गयीं। कहने लगीं, "कहती क्या हो, माँ, तुमने बाप को देखा है? बाप को भला कौन नहीं देखता?" ऐसी ही बाल-सुलभ मनोवृत्ति श्रीमाँ में जागृत हुई थी। श्रीरामकृष्ण जीवितेश्वर थे। शरीर छोड़ने के बाद वे सर्वेश्वर हो गये थे। नाना प्रकार से वे श्रीमाँ के हृदय की शून्यता को परिपूर्णता से उद्वेलित कर रहे थे।

श्रीरामकृष्ण ने एक दिन श्रीमाँ को दर्शन देकर कहा, "मैंने योगेन (योगानन्द) को दीक्षा नहीं दी है। तुम उसे मन्त्र दे दो।" कौन मन्त्र देना है, यह भी उन्होंने बतला दिया। पहले दिन श्रीमाँ उसे अपने मस्तिष्क का विकार समझकर चुप रहीं। वे कुछ लज्जित हुईं तथा उनके मन में इस प्रकार का भय भी हुआ—"सब कोई कहने लगेंगे, 'माँ अभी से चेला बनाने लगीं'!" दूसरे दिन भी श्रीरामकृष्ण ने उसी प्रकार दर्शन देकर उन्हें दीक्षा देने को कहा। उस दिन भी उन्होंने विशेष ध्यान नहीं दिया। तीसरे दिन पुनः दीक्षा के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण के कहने पर, उन्होंने उत्तर दिया, "मैं उससे बातचीत तक नहीं करती हूँ,† भला मैं दीक्षा कैसे दूँ?" यह सुनकर

---

† श्रीमाँ इतनी लज्जाशीला थीं अथवा अन्य किसी विशेष कारण से अपने को इस प्रकार घूँघट में छिपाकर रखती थीं कि अन्तिम दिनों में भी श्रीरामकृष्ण के एक-दो शिष्यों को छोड़कर वे उनके अन्यान्य अन्तरंग शिष्य, यहाँ तक कि स्वामी विवेकानन्द एवं ब्रह्मानन्दजी के साथ भी आमने-सामने बातचीत नहीं करती थीं। जब वे लोग प्रणाम करने के लिए उनके समक्ष उपस्थित होते थे, उस समय भी वे घूँघट किये रहती थीं।

श्रीरामकृष्ण बोले, "तुम बेटी योगेन से कहना, वह रहेगी।" इधर श्रीरामकृष्ण ने योगानन्दजी को भी दर्शन देकर श्रीमां से दीक्षा लेने का आदेश दिया। किन्तु श्रीमां से इस सम्बन्ध में निवेदन करने का साहस योगानन्दजी को नहीं हुआ।

योगीन-मां के द्वारा योगानन्दजी से पूछने पर जब श्रीमां को यह विदित हुआ कि श्रीरामकृष्ण ने उन्हें कोई इष्ट-मन्त्र नहीं दिया है, वे अपनी इच्छानुसार एक मन्त्र का जप किया करते हैं, तब श्रीमां ने उन्हें दीक्षा देने का निश्चय किया। दीक्षा के दिन श्रीरामकृष्ण का चित्रपट तथा जिस पात्र में उनका देहावशेष रखा हुआ था उसको सामने रखकर पूजा के समय श्रीमां ने योगानन्द को बुलवाया और समीप बैठने का संकेत किया। पूजा करते समय वे भावाविष्ट हो गयीं तथा उसी आवेश में उन्होंने मन्त्र-दीक्षा दी। श्रीमां ने इतने जोर से मन्त्र का उच्चारण किया कि बगल के कमरे से भी वह सुनाई दिया।

स्वर्गीय, करुणाविगलित, अमृतमयी गंगा की पवित्र धारा की भांति श्रीमां के कृपा-वारि द्वारा कितने ही जीवों में किस प्रकार से प्राण-संचार हुआ था, इसका परिचय हमें क्रमशः प्राप्त होगा। त्राणकारिणी, पाप-तापहारिणी के रूप में उन्होंने अगणित नर-नारियों का पाप-भार अपने ऊपर लिया और पाप-मलिन उर्वी को शुचि-पवित्र बनाया।

इसी समय एक दिन साथियों को लेकर श्रीमां ने वृन्दावन की परिक्रमा की थी। गठिया के कारण चलने में उन्हें कष्ट हो रहा था। फिर भी लँगड़ाते हुए किसी प्रकार उन्होंने पांच कोस की परिक्रमा को पूरा किया। व्रज के मार्ग पर चलते-चलते वे तन्मय होकर खड़ी हो जातीं, मानो अतीत की स्मृति से विह्वल हो उठी हों। वही मोरों के नृत्य, लता-वृक्ष, गोष्ठभूमि, यमुना-पुलिन — सभी स्थान मानो श्रीकृष्ण के अंग-सौरभ से ओत-प्रोत थे। भीतर-बाहर सर्वत्र उन्हें

श्रीकृष्ण के दर्शन होते थे। साथ की महिलाएँ जब पूछने लगतीं, "माँ, तुम अचानक इस प्रकार क्यों खड़ी हो गयीं?" तो उन्हें उत्तर मिलता था, "नहीं, कुछ नहीं, चलो।" श्रीमाँ पुनः आगे की ओर चलने लगतीं।

वृन्दावन में श्रीमाँ अकसर श्रीराधारमणजी के मन्दिर में दर्शन करने जातीं और कातरता के साथ प्रार्थना करतीं — "प्रभो, मेरी दृष्टि को दोषरहित बना दो, जिससे किसी का दोष न देखूँ।" उनकी दृष्टि तो सत्यात्मिका और कल्याणमयी थी। फिर भी उन्होंने संसार को इस बात की शिक्षा दी कि मनुष्यों में सत्यस्वरूप को देखना चाहिए — दोषस्वरूप को नहीं। यही शान्ति का एकमात्र मार्ग है।

एक दिन श्रीराधारमण के मन्दिर में जाकर भावविह्वल हो वे दर्शन कर रही थीं। उस समय भाव-नेत्रों से उन्होंने देखा कि नवगोपाल की भक्तिमती पत्नी चँवर से श्रीविग्रह का व्यजन कर रही हैं। कुंज में वापस आकर उन्होंने कहा, "योगेन, नवगोपाल की धर्मपत्नी बड़ी शुद्ध है। मैंने आज इस प्रकार देखा है।"

वृन्दावन-निवास के अन्तिम दिनों में श्रीमाँ की ध्यान-तन्मयता बहुत ही बढ़ गयी थी। रुदन की व्याकुलता दूर हो चुकी थी। केवल आनन्द का उच्छ्वास था। कृष्णैकरसिका गोपिका ने कहा था—

"न खलु गोपिकानन्दनो भवान्,
अखिलदेहिनाम् अन्तरात्मदृक्।"

—'हे सखे, तुम केवल यशोदानन्दन नहीं हो, अखिल देहियों के अन्तरात्मा-द्रष्टा हो।' श्रीसारदा देवी ने भी श्रीरामकृष्ण के ध्यान में निमग्न रहकर यह अनुभव किया था कि श्रीरामकृष्ण केवल उन्हीं के कान्तकाम्य नहीं हैं, बल्कि वे जगत्-चिन्तामणि हैं। अपने बारे में भी उन्हें यह ज्ञात हुआ था कि वे केवल 'सारदा' नहीं हैं, वे ही राधा हैं। एक ही भगवत्-शक्ति का विभिन्न नाम और रूप से युग-युग में

आविर्भाव होता रहता है। जैसे राम, कृष्ण, बुद्ध और रामकृष्ण, उसी प्रकार सीता, राधा, यशोधरा और सारदा। उनके द्वारा एक ही सत्य का प्रकाश होता है, वे एक ही आदर्श को देश-काल के उपयोगी बनाकर विभिन्न रूप से प्रदर्शित करते हैं।

बाद में किसी महिला-भक्त ने दीक्षा लेने के उपरान्त श्रीमाँ से पूछा था, "माँ, ठाकुर के जप के बारे में तो आपने मुझे उपदेश दिया, पर आपका जप किस मन्त्र से होगा?" यह सुनकर श्रीमाँ ने कहा, "राधा नाम उच्चारण कर जप कर सकती हो।" किसी समय अन्य एक भक्त के प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा था, "मैं ही राधा हूँ।"

वृन्दावन से अपने साथियों के साथ श्रीमाँ हरिद्वार पहुँचीं। रास्ते पर रेल में योगानन्दजी को ज्वर हो आया। साथ की एक भक्त-महिला उन्हें अनार खिला रही थी। श्रीमाँ ने देखा, मानो वह श्रीरामकृष्ण को ही खिला रही है। योगानन्दजी जब ज्वर से एकदम बेहोश थे, तब उन्होंने देखा कि एक बड़ी भीषण-मूर्ति उनके सम्मुख खड़ी है और कह रही है—"मैं तुझे देख लेती, परन्तु क्या करूँ, परमहंस देव का आदेश है, मुझे अभी चली जाना होगा।" जाने के समय लाल किनार की साड़ी पहने हुए एक देवी-मूर्ति की ओर संकेत कर उसने कहा, "इसे कुछ रसगुल्ले खिला देना।" उस दृश्य को देखने के बाद उनका ज्वर उतर गया। हरिद्वार पहुँचकर ब्रह्मकुण्ड में स्नान करके श्रीमाँ ने उस तीर्थजल में श्रीरामकृष्ण के कुछ नख-केश विसर्जित किये। हरिद्वार में गंगाजी के उस पार चण्डी पर्वत है। श्रीमाँ ने उस पर्वत पर चढ़कर देवी के दर्शन किये।

हरिद्वार से सबके साथ माताजी जयपुर पहुँचीं। वहाँ पर श्रीगोविन्दजी के दर्शन करने के बाद अन्यान्य देव-मूर्तियों का जब वे दर्शन कर रही थीं, उस समय लाल किनार की साड़ी पहने हुए एक देवी-मूर्ति को देखते ही योगानन्दजी चौंककर कहने लगे कि जब वे ज्वर

से पीड़ित थे, उस समय इसी मूर्ति को रसगुल्ले खिलाने का दैवी आदेश हुआ था। समीप में ही रसगुल्ले की एक दुकान थी। उसी समय आठ आने के रसगुल्ले लेकर उस देवी को भोग चढ़ाया गया। पता लगाने पर विदित हुआ कि वह शीतला की मूर्ति है।

जयपुर से सब कोई पुष्कर तीर्थ पहुँचे। वहाँ श्रीमाँ सावित्री-पहाड़ पर दर्शन करने चढ़ी थीं।

इस प्रकार विभिन्न तीर्थों में एक वर्ष व्यतीत कर श्रीमाँ अपने साथियों के साथ वृन्दावन से प्रयाग होती हुई कलकत्ता वापस आयीं।

* * * *

श्रीरामकृष्ण देव ने किसी समय श्रीमाँ से कहा था, "तुम कामारपुकुर में रहना। शाक-सब्जी लगाना और शाक-भात खाकर हरि-नाम लेती रहना।" आदर्श सात्त्विक जीवन-यापन करने का कितना सुन्दर चित्र है! एक वर्ष तक तीर्थ-वास करने के फलस्वरूप श्रीमाँ के मन में तितिक्षा एवं वैराग्य की भावना और भी बढ़ गयी थी। कलकत्ते में पन्द्रह दिन तक बलराम-भवन में रहने के बाद श्रीरामकृष्ण के उक्त आदेश को स्मरण कर उन्होंने कामारपुकुर जाने का निश्चय किया। कामारपुकुर वर्तमान युग का पवित्र महापीठ स्थान है।

कामारपुकुर जाने से पूर्व श्रीमाँ एक दिन के लिए दक्षिणेश्वर गयी थीं। श्रीरामकृष्ण की पुण्यस्मृति से दक्षिणेश्वर ओत-प्रोत है। मन्दिरों में जाकर उन्होंने सब विग्रहों की प्रणाम-वन्दना की। श्रीरामकृष्ण की पंचवटी, झाऊ के झुरमुट आदि स्थानों को भी घूम-घूमकर देखा।

स्वामी योगानन्दजी और गोलाप-माँ उन्हें पहुँचाने के लिए कामारपुकुर गये। उस समय श्रीमाँ का हाथ खाली हो चुका था। वर्धमान तक किसी प्रकार रेल-किराये की व्यवस्था की गयी। पैसे समाप्त हो चुके थे; अतः पैदल चलने के सिवाय और कोई उपाय

नहीं था। उचालन तक सोलह मील पैदल ही चलना पड़ा। भूख-प्यास से श्रीमाँ क्रमशः अवसन्न हो उठीं। उनमें आगे चलने की शक्ति नहीं रही। उचालन में गोलाप-माँ ने किसी प्रकार थोड़ी खिचड़ी बनायी। भूख-प्यास से व्याकुल श्रीमाँ भोजन करती हुई बारम्बार कहने लगीं, "गोलाप, आज तो तुम्हारी खिचड़ी अमृत-जैसी बनी है!"

भगवती अपने लीलामय जीवन में सब कुछ अंगीकार करती चली जा रही थीं। मनुष्य-रूप में अवतीर्ण होकर ठीक मनुष्य की ही भाँति आचरण कर रही थीं। उसमें कुछ भी अन्तर नहीं था। संसार के सब प्रकार के सुख-दुःख को स्पर्श करती जा रही थीं। सर्वांग-सम्पन्न जीवन-निर्माण के लिए इन सबकी आवश्यकता है। इसी लिए सम्भवतः वे दिखा रही थीं—'सुखदुःखे समे कृत्वा' किस प्रकार संसार में रहना पड़ता है। संसार को अंगीकार करना, पर सुख-दुःखों को न लेना — यह कैसे सम्भव हो सकता है? इसी लिए अम्लान-चित्त से सभी बातों को अपनाकर वे संसार के समक्ष आदर्श रख गयीं।

श्रीमाँ को कामारपुकुर में उनके पतिदेव-रहित मकान में पहुँचाकर कुछ दिन बाद गोलाप-माँ और योगानन्दजी वापस चले गये।

श्रीमां का तत्कालीन कामारपुकुर का जीवन बड़ा कठोर होते हुए भी आन्तरिक माधुर्य से महिमान्वित था। किसी-किसी दिन उन्हें बिना नमक के ही भात खाना पड़ता था। श्रीरामकृष्ण की वह उक्ति कि—'शाक-भात खाकर रहना'—अक्षरशः सत्य हुई थी। श्रीरामकृष्ण की यह विशेष शिक्षा थी—"देखो, एक पैसे के लिए भी कभी हाथ न पसारना।...जहाँ तक हो सके, दान देना।...एक पैसे के लिए भी यदि किसी के सामने हाथ फैला दिया, तो समझना अपना सिर ही बेच दिया।" श्रीमाँ ने अपने जीवन के अन्तिम दिन तक उक्त आदेश का यथावत् पालन किया था। माताजी के उस कष्ट-पूर्ण जीवन-यापन की बातें यादकर स्वामी सारदानन्दजी ने बाद में

आवेग-भरे स्वर से कहा था, "उस समय हमें यह धारणा तक नहीं थी कि माँ के लिए नमक तक न जुटता था।" श्रीरामकृष्ण की त्यागी-सन्तानों में उस समय तीव्र वैराग्य का उदय हुआ था। उनमें से संसार का बोध—यहाँ तक कि अपनी देह का बोध भी लुप्त होता जा रहा था।

श्रीरामकृष्ण के अन्तिम जीवन में, जिस समय वे मन्दिर की पूजा छोड़ चुके थे, उस समय भी मन्दिर की ओर से सात रुपये के हिसाब से उनकी मासिक-वृत्ति श्रीमाँ को दी जाती थी। उनके शरीर छोड़ने के बाद जिस समय श्रीमाँ वृन्दावन में थीं, उस समय वह रुपया मिलना बन्द हो गया। उस समाचार को सुनकर श्रीमाँ ने कहा था, "बन्द कर दिया तो करने दो। जब ऐसे ठाकुर ही चले गये, तब रुपया लेकर मुझे क्या करना है?"

बाद में प्रसंगवश श्रीमाँ ने अपने बारे में कहा था, "...मेरे रहते मुझे कोई भी नहीं पहचान सकेगा। बाद में सबको पता चलेगा।"

श्रीमाँ के उस संकेत को समझने का समय अब उपस्थित हुआ है। उनके दिव्य-जीवन की ओर अब सारे विश्व की दृष्टि आकृष्ट हुई है। किन्तु उन्हीं सारदा देवी ने अपने को इस प्रकार परदे की आड़ में छिपा रखा था कि अपने बारे में एक साधारण संसारी जीव के सिवा और किसी प्रकार की धारणा उन्होंने उत्पन्न नहीं होने दी। उनके आत्मीयों की दृष्टि में वे श्रीरामकृष्ण की विधवा पत्नी मात्र थीं।

उक्त मासिक-वृत्ति के बन्द करने के सम्बन्ध में उन्होंने एक दिन कहा था, "ठाकुर के शरीर छोड़ने के बाद (दक्षिणेश्वर में) दीनू खजांची तथा अन्यान्य लोगों ने मिलकर रुपया देना बन्द कर दिया। जो लोग आत्मीय-स्वजन थे, वे भी पराये बन गये और उनके साथ उन्होंने सहयोग दिया। नरेन (स्वामी विवेकानन्द) ने बार-बार कहा कि 'माँ के रुपये बन्द न किये जायें', फिर भी उन लोगों ने कुछ

भी ध्यान नहीं दिया।" उन रुपयों के वन्द हो जाने से उन्हें कुछ समय तक आर्थिक अभाव की चरम परीक्षा में से जाना पड़ा था।

कामारपुकुर का वह कठोर दारिद्रय और निःसंग-जीवन! फिर उस पर ग्रामवासियों की निर्मम समालोचना! इससे श्रीमाँ का हृदय विदीर्ण होने लगा। विशेषकर उनके शरीर पर वैधव्य के चिह्न न देखकर लोग नाना प्रकार की आलोचना करने लगे। उन वातों को सुनकर श्रीमाँ चुपचाप वैठकर आँसू वहातीं और एकान्त में अपने हृदय-देवता से प्रार्थना किया करती थीं। तभी से श्रीरामकृष्ण उन्हें वारम्वार दर्शन देकर विभिन्न उपदेश देने लगे और कर्तव्य का निर्देश करने लगे। श्रीमाँ के कथन से पता चलता है—"वृन्दावन से लौटने के वाद जव मैं कामारपुकुर में रहने लगी, उस समय लोगों की भिन्न-भिन्न प्रकार की आलोचनाओं से डरकर मैंने अपने हाथों से कंकण उतार दिये। मैं सोचती रहती कि इस गंगाहीन स्थान में कैसे रहूँगी। मैंने गंगा-नहाने का निश्चय किया। सदा से ही मुझमें गंगा-नहाने की धुन थी। एक दिन मैं क्या देखती हूँ, सामने के रास्ते से ठाकुर आगे-आगे आ रहे हैं, उनके पीछे नरेन, वावूराम, राखाल आदि कितने ही भक्त हैं। देखती क्या हूँ कि ठाकुर के चरणों से पानी की धारा लहराती हुई आगे की ओर वढ़ रही है। मैंने सोचा—देखती हूँ, ये ही तो सव कुछ हैं, इनके पादपद्मों से ही गंगा निकली हैं! मैं झटपट रघुवीर के घर के पास से मुट्ठी-मुट्ठी जवा-फूल तोड़ लाकर उस गंगा में पुष्पांजलि देने लगी। अनन्तर उन्होंने (ठाकुर ने) मुझसे कहा, 'तुम हाथ से कंकण मत उतारना। वैष्णव-तन्त्र जानती हो तो?' मैंने पूछा, 'वैष्णव-तन्त्र क्या है? मुझे तो कुछ भी नहीं मालूम।' ठाकुर वोले, 'आज शाम को गौरमणि आयगी, उससे सुन लेना'।" उसी दिन सन्ध्या समय गौरदासी कामारपुकुर आ पहुँचीं। वैष्णव-तन्त्र की व्याख्या कर उन्होंने श्रीमाँ को समझाया कि उनके लिए वैधव्य असम्भव है,

क्योंकि उनके 'चिन्मय पतिदेव' हैं। उन्होंने यह भी कहा कि वे (श्रीमाँ) स्वयं लक्ष्मी हैं। उनके आभूषण-त्याग से संसार लक्ष्मीहीन हो जायगा। यही कारण था कि काम-कांचन-त्यागी संन्यासी होते हुए भी श्रीरामकृष्ण ने साक्षात् लक्ष्मीस्वरूपा सारदा देवी को स्वर्णाभरणों से भूषित किया था।

श्रीरामकृष्ण के देह-त्याग के बाद काशीपुर में जिस समय श्रीमाँ अपने अंगों से आभूषण उतारने लगी थीं, उस समय श्रीरामकृष्ण ने आविर्भूत होकर उन्हें कंगन नहीं उतारने दिये थे — इसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। श्रीमाँ ने मानवीय भूषणों का परित्याग किया; किन्तु श्रीरामकृष्ण उनके अंगों में दैवी-भूषण पहनाने लगे। त्याग-तितिक्षा, भाव-महाभाव-समाधि, सर्वभूतों में ईश्वर-दृष्टि, सब जीवों पर दया, प्रेम और करुणा से श्रीमाँ विभूषित हो उठीं। तभी तो रुद्राणी के अंगों पर रुद्राक्ष के आभूषण हैं और रुद्र व्याघ्राम्बर धारण करते हैं।

कृपा ही समस्त आभूषणों की मुकुटमणि है और जीव-कल्याण, जीवोद्धार उसका प्रकाश है। स्नेह-ममता, सन्तान-वात्सल्य — ये माँ के भूषण हैं। उस घटना के बाद श्रीमाँ ने फिर कभी लोक-भय के कारण अपने हाथों से कंकण नहीं उतारे।

कुछ दिन बाद योगीन-माँ जब कामारपुकुर आयीं, उस समय श्रीमाँ ने उक्त घटना का उल्लेख कर उनसे कहा था, "उस समय इसी पीपल के पेड़ के नीचे ठाकुर खड़े थे। बाद में मैंने देखा कि नरेन की देह में वे मिल गए।... यहाँ की धूल फाँको और सिर से लगाओ।"

श्रीमाँ ने दूसरे समय कहा था, "जब ठाकुर चले गये, तब मुझे पहले डर लगता था।... बाद में उनके दर्शन मिलते रहे। धीरे-धीरे सब डर दूर हो गया। जब मैं कामारपुकुर में रहती थी, उस समय एक दिन ठाकुर आकर कहने लगे, 'मुझे खिचड़ी खिलाओ'। खिचड़ी

पकाकर मैंने रघुवीर को भोग लगाया।... बाद में बैठकर भाव में ठाकुर को खिलाने लगी।"

कामारपुकुर-वासियों के समीप उस समय सारदा देवी का परिचय गदाई की विधवा पत्नी तथा जयरामवाटी के राम मुखर्जी की पुत्री के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। अधिक हुआ तो उनमें से कोई-कोई किंचित् सम्मान दिखाते हुए हाथ जोड़कर सिर से लगाते हुए कहते, "गदाई और उसकी पत्नी में देवता का अंश है।"

'दिये-तले अँधेरा'—यह एक कहावत है, जो बहुत प्राचीन काल से प्रसिद्ध है। यद्यपि श्रीरामकृष्ण के स्थूल शरीर में विद्यमान रहते ही दूर-दूर से अगणित व्यक्ति उनके समीप उपस्थित होकर देवता-बुद्धि से तथा कोई-कोई उन्हें स्वयं भगवान मानकर आन्तरिक श्रद्धा के साथ उनकी पूजा करते थे, फिर भी कामारपुकुरवालों की दृष्टि में वे क्षुदिराम चट्टोपाध्याय के कनिष्ठ पुत्र गदाधर या रामकृष्ण ही थे। यही दृष्टिकोण उनका सारदा देवी के प्रति भी था और तदनुरूप उनके व्यवहार होते थे। फिर गाँव में नैतिक व आध्यात्मिक वातावरण का बिलकुल अभाव था—सत्संग नाम मात्र को भी नहीं था। वह नाना प्रकार की भद्दी आलोचनाओं का केन्द्र-जैसा था। ऐसे अप्रिय ग्रामीण और पारिवारिक वातावरण में, प्रतिकूल अवस्था और भावगत विषमता में श्रीमाँ मानो घवड़ा उठीं। फिर भी श्रीरामकृष्ण के आदेश को स्मरण कर वे पति-गृह में किसी प्रकार धीरज धरकर पड़ी रहीं। अपनी दुःख-दीनता की बातें वे किसी से भी नहीं कहती थीं।

क्रमशः यह समाचार लोगों के द्वारा जयरामवाटी में उनकी माता श्यामासुन्दरी के कानों तक जा पहुँचा। माँ का हृदय रो उठा। अपनी कठोर निर्धनता की उपेक्षा कर प्राणों से भी प्यारी पुत्री को अपने समीप लिवा लाने के लिए उन्होंने अपने मध्यम-पुत्र को कामारपुकुर भेजा। पर श्रीमाँ जयरामवाटी नहीं गयीं। बाद में जगद्धात्री-पूजन

के अवसर पर जब वे जयरामबाटी पहुँचीं, उस समय श्यामासुन्दरी अपनी आँखों से पुत्री का क्षीण शरीर, जीर्ण वसन और रुक्ष केश देखकर चुपचाप आँसू बहाने लगीं। वे आवेगपूर्ण-कण्ठ से कह उठीं, "बेटी, तुझे मैं अब कामारपुकुर नहीं जाने दूँगी।" किन्तु पूजा हो जाने के बाद श्रीमाँ ने श्यामासुन्दरी को प्रणाम करते हुए कहा, "अब तो, माँ, मैं कामारपुकुर जा रही हूँ, बाद में ईश्वर जो करेंगे वही होगा।" और यह कहकर उन्होंने प्रस्थान किया।

कामारपुकुर में, उस निःसंग दशा और घोर दारिद्र्य में कभी-कभी दो-एक भक्तों का आगमन होता रहता था। श्रीमाँ भी सेवा-सत्कार के द्वारा उन्हें सन्तुष्ट करती थीं। इसी अवस्था में, किसी समय श्रीरामकृष्ण का भक्त हरिश वहाँ उपस्थित हुआ। हरिश ने श्रीरामकृष्ण को देखा था, उनके उपदेश सुने थे। श्रीरामकृष्ण के जीवन के मूलमन्त्र 'त्याग' ने उसके हृदय पर विशेष प्रभाव डाला था। उनके शरीर छोड़ने के बाद वह भी संसार त्यागकर आत्म-ध्यान में जीवन को उत्सर्ग करने के प्रयत्न में लगा हुआ था। उसका विवाह हो चुका था। संसार के प्रति पति को उदासीन देखकर उसकी पत्नी मन्त्रौ-षधियों का प्रयोग कर उसे अपने वशीभूत करने का प्रयत्न कर रही थी। पर उसका फल यह हुआ कि हरिश का मस्तिष्क विकृत हो गया। जब वह कामारपुकुर आया, उस समय उसकी दशा पागल-जैसी थी। फिर भी श्रीरामकृष्ण का भक्त होने के कारण श्रीमाँ ने सेवा-सत्कार में कोई त्रुटि नहीं की। पर उसके अशिष्ट आचरण से वे विशेष चिन्तित हो उठीं। बाध्य होकर सारी घटनाओं का उल्लेख कर उन्होंने बराहनगर-मठ में पत्र भेजा।

इधर हरिश का पागलपन चरम सीमा पर जा पहुँचा। एक दिन पड़ोस के मकान से आकर श्रीमाँ ने अपने आँगन में पैर रखा ही था कि सहसा हरिश उनकी ओर दौड़ने लगा। घर पर और कोई

दूसरा व्यक्ति भी नहीं था। निरुपाय हो आत्मरक्षा के लिए श्रीमाँ, आँगन में धान रखने के लिए जो गोलाकार मँड़ई थी, उसके चारों ओर दौड़ने लगीं। उन्होंने उसके सात चक्कर लगाये। फिर भी हरिश का उन्माद शान्त नहीं हुआ। तब तो श्रीमाँ प्रचण्ड मूर्ति धारण कर खड़ी हो गयीं और बलपूर्वक हरिश को धरती पर पटककर उसकी छाती पर घुटने जमाकर बैठ गयीं, और एक हाथ से उसकी जीभ पकड़कर ऐसे जोर से तमाचे लगाने लगीं कि वह हाँफने लगा।

सौम्यातिसौम्या श्रीमाँ को भी कराल-रूप धारण करना पड़ा था। उनके कठोर हाथों से यह दण्ड पाकर हरिश के मन के सारे मैल धुल गये। वह सदा के लिए प्रकृतिस्थ हो गया। श्रीमाँ के पुनीत स्पर्श से हरिश का हृदय-दीप उज्ज्वल होकर जल उठा।

इधर श्रीमाँ की चिट्ठी पाते ही मठ से स्वामी निरंजनानन्द आ पहुँचे। हरिश भी कामारपुकुर छोड़कर वृन्दावन चला गया।

श्रीमाँ के जीवन के इस कठोर-कोमल भाव को देखकर खड्गमुण्ड-धारिणी, वराभयकरा 'ज्वालामुखी' की याद हो आती है। हरिश के जीवन में इस साम्यभाव को जागृत करने के लिए देवी को कराल मूर्ति दिखाने की आवश्यकता हुई थी। †

कामारपुकुर में श्रीमाँ के अनशन, अर्धाशन तथा विविध प्रतिकूल परिस्थितियों के साथ संघर्षपूर्ण कष्टमय जीवन-यापन का समाचार

---

† इस घटना का वर्णन करते हुए श्रीमाँ ने कहा था, "...तब मैं अपनी मूर्ति धारण कर खड़ी हुई।..." इस 'अपनी मूर्ति' शब्द का प्रयोग उन्होंने किस अर्थ में किया था, इसका निश्चय करना कठिन है। स्वामी विवेकानन्दजी ने एक समय कहा था कि श्रीमाँ बगला देवी की अवतार हैं। वर्तमान समय में सरस्वती के रूप में उनका आविर्भाव हुआ है। ऐसा कहा जाता है कि हरिश को दण्ड देते समय उन्होंने बगलामुखी देवी की प्रचण्ड मूर्ति धारण की थी।

आठ-नौ महीने बाद कलकत्ते में त्यागी और गृहस्थ भक्तों के कानों तक पहुँचा। उक्त समाचार से सब कोई उद्विग्न हो उठे। उन्हें कलकत्ता ले आने के बारे में सबने एकमत हो श्रीमाँ से सम्मिलित प्रार्थना की। सन्तानों के सादर आह्वान से श्रीमाँ के हृदय में प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। वे कामारपुकुर छोड़ने के सम्बन्ध में विचार करने लगीं।

कामारपुकुर में माँ अपनी ससुराल में थीं। वहाँ और भी दस-पांच लोग थे, समाज था। बड़ी बुद्धिमानी के साथ सबसे परामर्श और सम्मति लेकर, चारों ओर सामंजस्य बनाये रखकर वे कलकत्ता आयी थीं। श्रीमाँ की बातों से पता चलता है — "ठाकुर के चले जाने के बाद जब मेरे यहाँ (कलकत्ते) आने की बात हुई, तब मैं कामारपुकुर में रहती थी। वहाँ के अधिकांश लोग कहने लगे, 'भला उन कम उमर के लड़कों के बीच में जाकर रहना क्या उचित है?' मैं तो मन-ही-मन जानती थी कि मैं यहीं रहूँगी। फिर भी समाज की क्या राय है यह जानने के लिए मैंने बहुतों से इस बारे में पूछ-ताछ की थी। कोई-कोई कहने लगे, 'अवश्य जाना चाहिए, आखिर वे तो शिष्य ही हैं।' मैं उनकी बातें सुना करती। हमारे गाँव में एक वृद्धा विधवा महिला हैं (धर्मदास लाहा की पुत्री प्रसन्नमयी), वे बड़ी धार्मिक और बुद्धिमती हैं, इसलिए सब उनकी बात मानते हैं। मैंने उनसे पूछा, 'तुम्हारी क्या राय है?' उन्होंने उत्तर दिया, 'इसमें पूछने की क्या बात है? अवश्य जाना चाहिए। वे लोग शिष्य हैं, तुम्हारे लिए तो सन्तानतुल्य हैं। यह भी कोई बात है? अवश्य जाओगी!' उनकी इस बात को सुनकर अन्य लोगों ने भी जाने की अनुमति दी। तब मैं कलकत्ता आयी।"

६

लगभग एक वर्ष तक कामारपुकुर में रहने के बाद भक्तों की व्याकुल प्रार्थना से सन् १८८८ ई. के मई महीने में श्रीमाँ ने कलकत्ते के 'बलराम-भवन' में पदार्पण किया। भक्तों ने अब श्रीमाँ को एक नवीन वातावरण में, श्रीरामकृष्ण के जीवन्त प्रतीक रूप से पाया। श्रीरामकृष्ण के देह-त्याग से भक्तों के हृदय में जो शून्यता छायी हुई थी, उसकी पूर्ति के निमित्त उस समय से श्रीमाँ को सब प्रकार से विशेष संलग्न होना पड़ा — कृपा-रूप से, शान्ति और आनन्द-रूप से, प्रेमगंगा-रूप से। उनके जीवन में ईश्वरीय भाव का विकास भी तभी से प्रारम्भ हुआ।

एक दिन श्रीमाँ बलरामबाबू के मकान की छत पर ध्यान करने बैठी थीं। क्रमशः उनका मन समाधि की असीम देहातीत सत्ता में विचरण करता हुआ श्रीरामकृष्ण में जा मिला। बहुत देर बाद जब वह जीव-भूमि में उतरा, तब बड़े कष्ट से श्रीमाँ को देह-बोध हुआ था। बाद में उन्होंने योगीन-माँ से उक्त समाधि की अनुभूति के सम्बन्ध में कहा, "मैंने देखा, मैं कहीं चली आयी हूँ। वहाँ सब लोग मेरा कितना सेवा-सत्कार कर रहे हैं।... ठाकुर भी वहाँ विद्यमान थे। बड़े आदरपूर्वक उन लोगों ने मुझे उनकी बगल में बैठाया। अहा, कैसा अपूर्व आनन्द था वह, कह नहीं सकती! कुछ होश होते ही मैंने देखा कि मेरा शरीर पड़ा हुआ है। तब मैं सोचने लगी कि इस दूषित शरीर में मैं किस प्रकार जाऊँ? उसमें फिर से घुसने की मुझे तनिक भी इच्छा नहीं हो रही थी। बहुत देर बाद उसमें मैं घुस सकी, तब

कहीं शरीर में चेतना आयी।" चिन्मय-स्वरूप में अवस्थित न रहकर जीव-कल्याण के लिए उन्हें अभी इस जीव-देह में ही रहना होगा, इस बात का संकेत उक्त दर्शन से उनके मन में दृढ़मूल हुआ था।

श्रीमाँ की गंगाजी के प्रति भक्ति असाधारण थी। इसलिए भक्तों ने गंगा के पश्चिम-किनारे पर अवस्थित वेलुड़ गाँव में ठीक गंगाजी के तट पर, वर्तमान वेलुड़-मठ के निकटवर्ती नीलाम्बर मुखर्जी का उद्यान-भवन उनके रहने के लिए किराये पर ले लिया। 'वलराम-भवन' में पन्द्रह दिन रहने के वाद श्रीमाँ वेलुड़ आयीं। साथ में उनकी दोनों सखियाँ — योगीन-माँ और गोलाप-माँ भी थीं। सेवा-कार्य की देख-रेख के लिए स्वामी योगानन्दजी भी वहाँ गये। पवित्र गंगा-तट पर निवास करने से श्रीमाँ के हृदय में एक अपूर्व दिव्य उल्लास छाया रहता था। वे अधिकांश समय ध्यान-चिन्तन में विताती थीं।

एक दिन सायंकाल के वाद श्रीमाँ छत पर वैठकर ध्यान कर रही थीं। उनके समीप गोलाप-माँ और योगीन-माँ भी उपस्थित थीं। श्रीमाँ का मन क्रमशः निर्विकल्प-भूमि में उपस्थित हुआ। निस्पन्द हो वे गहरी समाधि में मग्न हो गयीं। सहचरियों ने ध्यान-भंग होने पर देखा कि श्रीमाँ कमनीय प्रस्तर-मूर्ति की भाँति वैठी हुई हैं — मानो मूर्तिमती निस्तब्धता हों! वे उत्कण्ठित होकर श्रीमाँ के समाधि-भंग की प्रतीक्षा करने लगीं।

वहुत देर वाद अर्धवाह्य-दशा में उतरकर श्रीमाँ कहने लगीं, "अरी योगेन, मेरे हाथ कहाँ हैं, पैर कहाँ हैं?" तव भी देह-ज्ञान लौटता नहीं था। उनके हाथ-पैरों को दवाते हुए सहचरियों ने कहा, "ये रहे हाथ, ये रहे पैर।" उस दिन उन्हें देह-वोध होते वहुत समय लगा था, तथा कई दिन तक इस भाव का आवेश उनमें वना रहा। इस प्रकार आत्मानन्द की विश्रान्ति में मग्न रहकर श्रीमाँ लगभग छः म नि वेलुड़ में रहीं। इस स्थल को युग-युगान्तर के लिए महातीर्थ

में परिणत करने के निमित्त श्रीमाँ ने वहाँ पर कठिन तपश्चर्या की थी अथवा नहीं — यह कौन कह सकता है ? † प्रसंगवश एक दिन वेलुड़-जीवन की चर्चा करते हुए श्रीमाँ ने कहा था, "अहा, मैं वेलुड़ में कितने आनन्द में थी ! जगह भी कितनी शान्त है ! हर समय ध्यान लगा ही रहता था !"

उस समय वेलुड़ में श्रीमाँ को जो समाधि लगती थी, उसकी गहराई और अनुभूति बहुत ही गुरुत्वपूर्ण है। उन समाधियों के साथ उनके जीवन का कितना घनिष्ठ सम्बन्ध था, इसका संकेत उनके कथन से स्पष्ट है। बाद में किसी संन्यासी-सन्तान से उन्होंने इस सम्बन्ध में कहा था, "...उस समय (वेलुड़ में रहते समय) लाल, नीला आदि विभिन्न रंगों की ज्योतियों में मन लीन हो जाता था। और दो-चार दिन इस प्रकार रहने पर शरीर नहीं रहता।..."

मन में यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि जो अप्रमेया, अगम्य-अपार महाशक्तिरूपिणी हैं, उनके लिए इतने साधन-भजन की क्या आवश्यकता है ? ठीक इसी प्रकार का विचार लेकर किसी ब्रह्मचारी-सन्तान ने श्रीमाँ से एक बार पूछा था, "माँ, (आपको) तपस्या की क्या आवश्यकता है ?" मृदु-मधुर हास्य से श्रीमाँ ने उत्तर दिया, "तपस्या आवश्यक है।... पार्वती ने भी शिव के लिए तपस्या की थी।... यह सब जो करती हूँ, वह लोगों के लिए है।..."

बुद्ध देव का जीवन-इतिहास अत्युग्र साधनाओं से परिपूर्ण है। श्रीरामकृष्ण ने भी कितनी ही साधनाएँ की थीं। वे कहते, "मैं साँचा

† श्रीमाँ ने वेलुड़ ग्राम में विभिन्न स्थलों पर (सन् १८८८, ९०, ९३, ९५ ई. में) समय-समय पर, सब मिलाकर लगभग डेढ़ वर्ष से अधिक काल तक तपस्या की थी। उसके बाद सन् १८९८ ई. में वर्तमान वेलुड़-मठ की जमीन खरीदी गयी। तदनन्तर क्रमशः मठ-निर्माण देव-प्रतिष्ठा तथा मठ की स्थापना हुई थी।

बना गया, अब तुम लोग उसमें ढालकर अपना जीवन गढ़ डालो।" यह तो श्रीरामकृष्ण देव के जीवन को आदर्श बनाकर आध्यात्मिक जीवन-निर्माण का निर्देश था। श्रीसारदा देवी ने भी आजीवन कठोर साधनाएँ कीं। उनकी साधनाओं के विषय में जहाँ तक पता चलता है, उससे केवल उनकी गहराई और आन्तरिकता का संकेत मिलता है।

सन्तान ने पुनः प्रश्न किया, "आपके लिए इतना सब करने की आवश्यकता क्या ?"

अबकी बार उसके रहस्य को किंचित् प्रकट करते हुए श्रीमाँ ने उत्तर दिया, "बेटा, तुम लोगों के लिए। लड़के क्या इतना कर सकते हैं ? इसी लिए करना पड़ता है।"

माँ की करुणा से सन्तान का हृदय भर उठा। अबोध सन्तानों के लिए माँ को छोड़कर भला और कौन करेगा ? माँ का ही तो दायित्व है — सारी चिन्ता और उत्कण्ठा उसी को होती है। माँ बनना क्या सहज बात है ?

बेलुड़ में अखण्ड दिव्यानन्द में समय व्यतीत करने के बाद श्रीमाँ ने अपने हृदय में श्रीजगन्नाथजी का प्रबल आकर्षण अनुभव किया। भक्तों के प्रयत्न से उनके जगन्नाथपुरी जाने की व्यवस्था हो गयी। स्वामी ब्रह्मानन्द, योगानन्द और सारदानन्द आदि संन्यासी-सन्तानों तथा साथ में रहनेवाली सेविकाओं व संगिनियों के साथ श्रीमाँ कलकत्ते से पुरी रवाना हुईं। उस समय रेल-लाइन नहीं बनी थी। अतः चाँदबाली तक जहाज से जाकर, वहाँ से स्टीमर द्वारा वे लोग कटक पहुँचे। बाकी का रास्ता बैलगाड़ी से तय करना पड़ा। प्रातःकाल पुरी पहुँचते ही सर्वप्रथम श्रीमाँ सबके साथ जगन्नाथ के दर्शन करने गयीं। देव-दर्शन के लिए शुभाशुभ-मुहूर्त का विचार हमारे शास्त्रों में किया गया है। अशुभ-मुहूर्त में देव-दर्शन निषिद्ध है। श्रीमाँ जिस दिन पुरी पहुँचीं, उसके दूसरे दिन से ही अशुभ-मुहूर्त पड़नेवाला था। अतः

उस दिन यदि देव-दर्शन न होता, तो उन्हें एक विचित्र परिस्थिति का सामना करना पड़ता। श्रीमाँ शास्त्रीय निर्देशों को विशेष रूप से मानती थीं, यहाँ तक कि छींक तथा अन्यान्य शकुनों का भी वे पूर्ण ध्यान रखती थीं। श्रीरामकृष्ण देव किसी भी वस्तु को नष्ट-भ्रष्ट करने के निमित्त आविर्भूत नहीं हुए थे। उनका आविर्भाव तो परिपूर्णता-सम्पादन तथा सभी में शक्ति-संचार करने के लिए हुआ था।

पुरी में श्रीमाँ महिला-भक्तों के साथ बलरामबाबू के 'क्षेत्रवासी'-मकान में ठहरी थीं। त्यागी शिष्यों के रहने की व्यवस्था अन्यत्र हुई थी। श्रीमाँ प्रायः प्रतिदिन पैदल श्रीजगन्नाथ के दर्शन करने जाती थीं। गोविन्द शृंगारी पंडा द्वारा पालकी से जाने का प्रस्ताव किये जाने पर श्रीमाँ ने कहा था, "नहीं, गोविन्द, तुम मेरे आगे-आगे रास्ता दिखाते चलना, मैं दीन-हीन कंगालिनी की भाँति तुम्हारे पीछे-पीछे जगन्नाथ-दर्शन को चलूँगी।" मन्दिर में भावाविष्ट हो उन्होंने देखा था कि जगन्नाथ मानो पुरुषसिंह के रूप में रत्नवेदी पर विराजमान हैं और वे स्वयं दासी बनकर उनकी चरण-सेवा कर रही हैं।

श्रीरामकृष्ण अपने जीवन-काल में कभी श्रीजगन्नाथ-दर्शन के लिए नहीं गये थे। इसलिए एक दिन श्रीमाँ उनके चित्र को अपने आँचल में छिपाकर मन्दिर में ले गयीं और उन्हें जगन्नाथ-दर्शन कराया। श्रीमाँ का यह विश्वास था कि 'छाया-काया समान हैं'। श्रीरामकृष्ण के चित्र में वे उनका चिन्मय-प्रकाश देखती थीं।

पुरी में श्रीमाँ बहुधा भाव में तन्मय रहती थीं। लक्ष्मी देवी के मन्दिर में वे बहुत देर तक ध्यानमग्न दशा में बैठी रहती थीं। जगन्नाथ-क्षेत्र में उनको एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण दिव्य-दर्शन मिला था। जगन्नाथ की मूर्ति के सम्बन्ध में किसी भक्त द्वारा पूछे जाने पर उन्होंने कहा था, "पर मैंने तो शिव-मूर्ति देखी थी।... नहीं, केवल शिव-मूर्ति — शिव-लिंग। एक लाख शालग्राम की वेदी पर जगन्नाथ-

शिव विराजमान हैं।... विमला देवी हैं। महाष्टमी की रात में वलिदान होता है। विमला तो दुर्गा ही हैं न? तो फिर शिव तो रहेंगे ही!"

विभिन्न दर्शनों और नाना प्रकार के भावानन्द की प्रशान्ति में श्रीमाँ ने दो महीने से कुछ अधिक समय तक पुरी में निवास किया। श्रीरामकृष्ण के साथ उनका अत्र नित्य-सम्वन्व स्थापित हो चुका था। श्रीसारदा देवी को अपने अन्दर ऐसे प्रेम-प्रवाह का पता लग चुका था, जिसमें न विरह था, न अवसाद; थी केवल पूर्णता और पूर्ण तन्मयता। 'मन्नाथ' (अपने नाथ) अब हो गये थे 'जगन्नाथ'। सारी चेतनता, सारे अस्तित्व में एकमात्र ठाकुर ही दिखाई देते थे। अब उन दोनों में चिर-मिलन हो गया था। विच्छेद का व्यवधान असीम आत्मानन्द में लीन हो गया था।

श्रीमाँ के अन्दर श्रीरामकृष्ण का यह प्रकाश बहुत ही सुन्दर था। विभिन्न छन्दों में, शाश्वत-शैली से, प्रेम-पवित्रता-सन्तोष, शक्ति-भक्ति-मुक्ति और कृपा रूप से उनका प्रकाश हुआ था। तभी तो इतनी निर्विचार दया थी, इतना सौजन्य था!

श्रीमाँ के हृदय में जीव-कल्याण-रूप से दयामूर्ति श्रीरामकृष्ण का अब आविर्भाव हुआ था। तभी तो योग्य-अयोग्य का विचार किये विना ही वे जीवोद्धार करने लगीं। श्रीमाँ स्वयं कहती थीं, "दयावश होकर मुझे मन्त्र देना पड़ता है। दीक्षा के लिए व्याकुल होकर जब कोई रोने लगता है, तब उसे देखकर मुझे दया आती है। कृपा के वश हो मैं मन्त्र दे बैठती हूँ। नहीं तो मुझे क्या लाभ है? दीक्षा देने से शिष्य का पाप लेना पड़ता है। सोचती हूँ, शरीर तो एक दिन जायगा ही, सो इनका कुछ भला हो जाय।"

किसी आश्रित सन्तान की मनोव्यथा देखकर वराभयरूपा श्रीमाँ करुणार्द्र हो कहने लगीं, "डर किस बात का है, बेटा, सदा

यह ध्यान रखना कि ठाकुर तुम्हारे पीछे हैं। मैं हूँ, मुझ माँ के रहते भय क्या? ठाकुर तो स्वयं कह गये हैं, 'जो कोई तुम्हारे पास आयगा, उसके अन्तिम समय में आकर उसे हाथ पकड़कर ले जाऊँगा।' ... चाहे जो इच्छा हो करो, जैसी इच्छा हो चलो, पर ठाकुर को तो अन्तिम समय तुम लोगों को लेने के लिए आना ही पड़ेगा।" आश्रित जनों के कर्णपटलों में मेघगम्भीर नाद से ध्वनित हो उठती है श्रीमाँ की यह अभयवाणी — "मुझ माँ के रहते भय क्या?"

श्रीमाँ क्रमशः इस तत्त्व को समझने लगीं कि श्रीरामकृष्ण क्यों पहले देह त्यागकर चले गये। वे अब अपने रहने के प्रयोजन की पूर्ति-साधना में धीरे-धीरे प्रवृत्त होने लगीं। किसी भक्त ने एक दिन उनसे पूछा, "माँ, अन्यान्य अवतारों ने अपनी-अपनी शक्तियों के अन्तर्हित होने के बाद अपना शरीर छोड़ा; पर इस बार आपको छोड़ ठाकुर पहले ही क्यों चले गये?" श्रीमाँ ने उत्तर दिया, "बेटा, यह तो तुमको मालूम ही होगा कि संसार के प्रत्येक व्यक्ति के प्रति उनका मातृ-भाव था। दुनिया में उसी मातृ-भाव के विकास के लिए वे मुझे छोड़ गये हैं।"

श्रीरामकृष्ण ने जिस प्रकार सामान्य दो-चार उक्तियों में अपने स्वरूप का संकेत किया था, उसी प्रकार उनके साधारण दो-एक कार्यों और बातों से ही उनकी लीला-सहचरी का भी स्वरूप प्रकट है। उनके द्वारा ही उन्होंने सारदा देवी की ओर जगत् की दृष्टि आकर्षित की थी। अन्यथा सारदा देवी अधिक-से-अधिक एक 'आदर्श नारी' अथवा उच्च कोटि की साधिका व सिद्ध महिला के रूप में ही परिचित हो पातीं। स्वयं शक्ति-स्वरूपिणी श्रीमाँ ने अपने स्वरूप को महाशक्ति के प्रभाव से आच्छादित कर रखा था। उस आवरण को हटाना मानव-शक्ति के लिए सम्भव नहीं था। उनके गुप्त-लीला-रहस्य भी

उन्हीं की कृपा से कदाचित् ही किसी भाग्यवान के दृष्टिगोचर हो पाये थे। श्रीमाँ अपना प्रचार करने के निमित्त आविर्भूत नहीं हुई थीं और न उनका आगमन किसी नवीन साधन-मार्ग को प्रदर्शित करने के लिए ही हुआ था। वे तो युग-प्रयोजन की पूर्ति के लिए, युगावतार के 'जीव-त्राण'-रूप महान् कार्य की पूर्णता के निमित्त युगावतार की सहचरी के रूप से आयी थीं।

पुरी से कलकत्ता लौटकर लगभग तीन सप्ताह बाद श्रीमाँ विवेकानन्द, प्रेमानन्द तथा मास्टर † आदि के साथ प्रेमानन्द की जन्मभूमि आँटपुर गयीं। वहाँ एक सप्ताह रहने के बाद मास्टर आदि के साथ तारकेश्वर के रास्ते बैलगाड़ी से कामारपुकुर आयीं। इस बार भी श्रीमाँ वहाँ एक वर्ष से अधिक समय तक रहीं। भक्तगण भी उनके दर्शनार्थ बीच-बीच में वहाँ जाने लगे। युगावतार श्रीरामकृष्ण की पवित्र जन्मभूमि — महातीर्थ कामारपुकुर, अमृतमयी श्रीमाँ की उपस्थिति से भक्तों के लिए और भी अधिक आकर्षक हो उठा।

इधर कलकत्ते के बहुत से भक्त श्रीमाँ से कलकत्ता पधारने की विशेष प्रार्थना करने लगे। फलस्वरूप बँगला सन् १२९६ के फाल्गुन की २१ वीं तिथि को श्रीमाँ ने पुनः कलकत्ते में पदार्पण किया।

श्रीरामकृष्ण ने अपनी माता के देहान्त के बाद श्रीमाँ से गया के विष्णुपादपद्म में उनके निमित्त पिण्डदान करने का आदेश दिया था। इस पर श्रीमाँ ने कहा, "पुत्र के रहते मैं कैसे पिण्डदान कर सकती हूँ?" यह सुनकर श्रीरामकृष्ण बोले, "सो होगा, सो होगा। मेरा वहाँ जाना क्या सम्भव है? वहाँ जाने पर फिर क्या मैं लौट सकूंगा?" यह सुनते ही आशंकित हो श्रीमाँ कह उठीं, "तो फिर जाने की कोई आवश्यकता नहीं है।" श्रीरामकृष्ण के उक्त आदेश

† भगवान श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग गृही शिष्य एवं "श्रीरामकृष्ण-वचनामृत" के प्रणेता श्री 'म'।

को स्मरण कर श्रीमाँ ने गयाधाम जाने का निश्चय किया। बूढ़े गोपाल (स्वामी अद्वैतानन्द) के साथ बँगला सन् १२९६ के चैत्र की १३ वीं तिथि को गया पहुँचकर उन्होंने श्रीरामकृष्ण की दिवंगता माता के निमित्त पिण्डदानादि कृत्य सम्पन्न किये।

विष्णुगया से श्रीमाँ बुद्धगया के दर्शन करने भी गयी थीं। उस सम्बन्ध में उन्होंने कहा था, "... बुद्धगया का मठ, वहाँ की इतनी चीजें और मठ में रहनेवालों की सुख-सुविधाओं को देखकर मैं रोती थी, और ठाकुर से प्रार्थना करती, 'ठाकुर, मेरे बच्चों के रहने का न तो कोई स्थान है और न उनके खाने-पीने की ही कोई व्यवस्था है, वे द्वार-द्वार घूमते रहते हैं। उनके रहने के लिए यदि इस प्रकार का कोई स्थान होता!' आखिर ठाकुर की इच्छा से मठ तो स्थापित हुआ।" इसी सम्बन्ध में चर्चा करते हुए श्रीमाँ ने कहा था, "एक दिन नरेन ने आकर मुझसे कहा, 'माँ, अभी मैं ठाकुर के निमित्त १०८ बेलपत्तों की आहुति दे आया, जिससे मठ की एक जमीन हो जाय। कर्म कभी विफल नहीं जायगा। एक दिन जमीन होगी ही'।"

नरेन्द्र की बातें कहते-कहते श्रीमाँ के हृदय में अतीत की स्मृतियाँ जागृत हो उठीं। रात्रि के भोजन के बाद एक सेवक ने ऊपर पहुँचकर माँ को कहते हुए सुना, "नरेन ने कहा था, 'माँ, आजकल मेरे सामने से सब कुछ उड़ जा रहा है।' मैं बोली, (वे हँसती हुई कहने लगीं) 'देखना, कहीं मुझे भी उड़ा न देना।' उसने कहा, 'माँ, तुमको उड़ा देने पर मेरी गति क्या होगी? जो ज्ञान गुरु-पादपद्मों को उड़ा देता है, वह तो अज्ञान है। गुरु के श्रीचरणों को उड़ा देने पर ज्ञान ठहरेगा कहाँ'?"

तदनन्तर श्रीमाँ ज्ञान के असली स्वरूप को व्यक्त करती हुई बोलीं, "ज्ञान होने पर ईश्वर आदि सब उड़ जाते हैं। अन्त में

देखता है, सर्वत्र एकमात्र 'माँ' ही है। सब कुछ मिलकर एक हो जाता है। बस यही तो सीधी-सादी बात है।"

काशीपुर में अन्तिम बीमारी के समय श्रीरामकृष्ण ने त्यागी सन्तानों को लेकर "त्यागी संघ" की स्थापना की थी। उनके लीला-संवरण के बाद उक्त संघ के सुसम्बद्ध संचालन, स्थायित्व और प्रचार में संघ-शक्तिरूपिणी श्रीमाँ की देन कितनी थी तथा श्रीरामकृष्ण देव की त्यागी सन्तानों ने संघ-अधिष्ठात्री देवी — श्रीसारदा देवी — पर संघ के विशिष्ट कार्यों एवं अपने व्यक्तिगत आध्यात्मिक जीवन को किस प्रकार सौंपा था, इसकी संक्षिप्त आलोचना हम अन्यत्र करेंगे।

इस विषय पर प्रकाश डालने के लिए हम यहाँ पर श्रीमाँ के निम्नलिखित कथनों को उद्धृत करना चाहते हैं। इनसे यह भी विदित हो सकेगा कि संघ की नींव डालते समय उनकी इच्छा-शक्ति का उस पर कितना प्रभाव पड़ा था। जहाँ तक हमारी धारणा है, यह घटना सन् १९१५ ई. की है। श्रीमाँ कोयालपाड़ा-आश्रम के अध्यक्ष से प्रसंगवश कह रही थीं, "अरे, यह तुम क्या कह रहे हो? प्रेम ही तो हम लोगों की असली वस्तु है। प्रेम से ही तो उनका (ठाकुर का) सारा परिवार (संघ) बना है।... अहा, इसके (संघ-स्थापन के) लिए ठाकुर के पास रो-रोकर मैंने कितनी प्रार्थना की है! तभी तो आज ये सब मठ आदि दीख पड़ते हैं। उनके शरीर छोड़ने के बाद सन्तानों ने संसार त्याग दिया और सब लोग एक स्थान में इकट्ठे होकर कुछ दिन एक साथ रहे। बाद में सब स्वतन्त्र रूप से, अलग-अलग होकर इधर-उधर घूमने लगे। मेरे मन में इससे बहुत ही दुःख हुआ। तब मैं उनसे प्रार्थना करने लगी, 'ठाकुर, तुम आये और कुछ लोगों को लेकर लीला करके, आनन्द मनाकर चल दिये। तो क्या उसके साथ-ही-साथ सब कुछ खतम हो गया? अगर

ऐसा ही था, तो फिर इतना कष्ट उठाकर तुम्हारे आने की क्या जरूरत थी ? काशी और वृन्दावन में मैंने ऐसे अनेक साधु-सन्त देखे हैं, जो भिक्षा माँगकर खाते हैं और वृक्ष के नीचे पड़े रहते हैं। ऐसे साधुओं की कमी नहीं है। तुम्हारे नाम से घर-द्वार त्यागकर मेरी सन्तानें मुट्ठी-भर अन्न के लिए दर-दर घूमती रहें, मैं यह देख नहीं सकती। मेरी बस यही प्रार्थना है कि जो कोई तुम्हारा नाम लेकर निकले, उसके लिए मोटे अन्न-वस्त्र का अभाव न हो। तुमको और तुम्हारे भाव व उपदेशों को लेकर वे एक साथ रहें, जिससे संसार-सन्तप्त जीव उनके पास आकर, उनसे तुम्हारी बातें सुनकर शान्ति पा सकें। इसी लिए तो तुम्हारा आगमन हुआ था। उन्हें इस प्रकार घूमते हुए देखकर मेरे प्राण व्याकुल हो जाते हैं।' उसके बाद से धीरे-धीरे नरेन ने यह सब किया।"

वराहनगर के एक टूटे-फूटे, भुतहे मकान में श्रीरामकृष्ण की त्यागी-सन्तानों ने सिर टिकाने का स्थान पाया था। भोजन आदि का कोई प्रबन्ध नहीं था। कठोर साधना की पराकाष्ठा थी। श्रीमाँ की उक्त प्रार्थना के बाद से क्रमशः सब ओर परिस्थितियों का बदलना प्रारम्भ हुआ।

वराहनगर-मठ में सन्तानों की कठोर साधना की चर्चा करती हुई एक दिन श्रीमाँ बोलीं, "ठाकुर की सन्तानों ने सब कुछ भलीभाँति परीक्षा करके देखा है। तभी तो उन्हें स्वीकार किया है। जब वे लोग वराहनगर में रहते थे, उस समय निरंजन आदि कितने ही दिन आधा पेट खाकर जप-ध्यान में डूबे रहते थे। एक दिन सबों ने निश्चय किया — अच्छा देखें, उनका नाम लेकर पड़े रहने से भोजन मिलता है या नहीं।... भिक्षा में न जाने का संकल्प कर चद्दर ओढ़ सब कोई ध्यान करने लगे। सारा दिन बीत गया। रात जब अधिक हो गयी, उस समय उन्होंने सुना कि कोई दरवाजा

खटखटा रहा है। पहले नरेन उठा, बोला, 'दरवाजा खोलकर देख तो, कौन है? सबसे पहले यह देखना कि इसके हाथों में कुछ है या नहीं?'

"अहा, दरवाजा खोलते ही देखा गया कि लालाबाबू के मन्दिर से (गंगाजी के तटवर्ती श्रीगोपाल के मन्दिर से) सुन्दर भोजन-सामग्रियाँ लेकर एक व्यक्ति आया हुआ है! देखते ही खुशी का ठिकाना न रहा। ठाकुर की दया का पता चल गया। उसी समय उठकर सबने ठाकुर का भोग लगाया और उतनी रात को आनन्द से प्रसाद पाया। इस तरह और भी कई बार हुआ था।"

इसी प्रसंग में वे पुनः कहने लगीं, "...अभी जो तुम्हारे महाराज स्वामी ब्रह्मानन्द हैं न, मेरे उस राखाल को भी कितने दिन भात की हण्डी माँजनी पड़ी है!"

बँगला सन् १२९७ के वैशाख की पहली तिथि को गया से लौटकर श्रीमाँ कलकत्ते में कुछ दिन मास्टर के मकान में रहीं। इधर श्रीरामकृष्ण देव के परमभक्त बलराम वसु का अन्तिम काल उपस्थित हुआ। उनके प्रति श्रीरामकृष्ण की असीम करुणा की बात का स्मरण कर श्रीमाँ बलराम-भवन आयीं। बँगला सन् १२९७ के वैशाख की १२वीं तिथि को बलरामबाबू की आत्मा ने देह-पिंजर को त्यागकर आनन्दमय-लोक को महाप्रयाण किया। शोक-सन्तप्त भक्त-परिवार को सान्त्वना और शान्ति प्रदान करने के लिए श्रीमाँ और भी कुछ दिन वहाँ रह गयीं।

श्रीमाँ के रहने के लिए भक्तों ने बेलुड़ के घुसुड़ी नामक अंचल में एक मकान किराये पर ले रखा था। जेठ के महीने में घुसुड़ी-श्मशान के निकटवर्ती उस किराये के मकान में श्रीमाँ लगभग चार महीने रही थीं। इसी समय स्वामी विवेकानन्द के प्राण सुदूर के अज्ञात-आह्वान से व्याकुल हो उठे। उन्होंने दीर्घकाल के लिए

परिव्राजक-जीवन अवलम्बन करने का निश्चय किया। यात्रा करने से पूर्व उस मकान में पहुँचकर श्रीमाँ को प्रणाम करते हुए वे बोले, "माँ, यदि यथार्थ में मैं मनुष्य बन सका, तभी वापस आऊँगा, नहीं तो यही अन्तिम दर्शन है।" श्रीमाँ ने कोमल-कण्ठ से कहा, "यह क्या ?"

अपने को सँभालकर तत्क्षण विवेकानन्दजी बोले, "नहीं, नहीं, आपके आशीर्वाद से मैं जल्दी ही लौटूँगा।"

श्रीमाँ की दिव्य-दृष्टि के सम्मुख नरेन्द्र का भूत, भविष्य और वर्तमान स्पष्ट रूप से झलक उठा। उन्होंने हृदय से आशीर्वाद दिया। श्रीमाँ का स्नेहपूर्ण शान्तिमय आशीर्वाद पाकर परितृप्त हृदय से स्वामीजी भारत एवं समग्र जगत् के कल्याणकर महान् कार्य के लिए निकल पड़े।

उनके कण्ठ में विदा का स्वर झंकृत हो उठा। जाते समय वीणापाणि को उन्होंने मधुर संगीत सुनाकर परितृप्त किया। जैसे श्रीरामकृष्ण नरेन्द्र का संगीत सुनकर विह्वल हो जाते थे और कहते, 'नरेन्द्र का गाना सुनकर इस शरीर के अन्दर रहनेवाला अपना फन उठाकर नाचने लगता है', उसी प्रकार श्रीमाँ भी नरेन्द्र के संगीत से मुग्ध हो जाती थीं। एक दिन प्रसंगवश आवेगपूर्ण कण्ठ से श्रीमाँ ने कहा था, "अहा, ठाकुर कितना सुन्दर गाते थे! उनका स्वर कितना मधुर था, गाते समय ऐसा मालूम होने लगता कि मानो वे स्वर-लहरी पर तैर रहे हैं। अभी तक मेरे कान में उनके गाने गूंज रहे हैं। अब जो गाने मैं सुनती हूँ, वह सुनना पड़ता है इसलिए सुन लेती हूँ। नरेन का स्वर भी कितना सुन्दर था, पंचम में चढ़ा हुआ था! अमेरिका जाने के पहले घुसुड़ी के मकान में मुझे गाना सुना गया।"

उस मकान को छोड़ने के कुछ दिन पहले श्रीमाँ को कठिन पेचिश की बीमारी हो गयी। इसलिए उन्हें चिकित्सा के निमित्त

वराहनगर के सौरेन्द्रमोहन ठाकुर के किराये के मकान में लाया गया। वहाँ से वे कलकत्ते में वलराम-भवन आयीं और दुर्गा-पूजा के वाद कामारपुकुर होती हुई जयरामवाटी पहुँचीं। उस वार उक्त दोनों स्थानों में वे वहुत दिनों तक रहीं।

यद्यपि आत्मसंगोपन के लिए श्रीमाँ कामारपुकुर और जयरामवाटी के ग्रामीण वातावरण में चली जाती थीं, फिर भी उनकी दैवी-कृपा और उनका पुण्य-सान्निध्य प्राप्त करने के हेतु भक्तगण उनके श्रीचरणों के समीप एकत्र होने लगे। वे भी स्नेह-ममता, सेवा-सत्कार और आध्यात्मिक शक्ति-संचार द्वारा उनके हृदयों को उच्छलित पूर्णता और अमृतमयी शान्ति से भरपूर कर देती थीं। उनके कृपा-स्पर्श से अगणित भक्तों के जीवन धन्य और अमृतमय हो गये — उन लोगों को परम शान्तिमय धाम का सार्थक परिचय प्राप्त करने का सौभाग्य मिला।

१८९१ ई. के प्रथमार्ध में श्रीमाँ जव जयरामवाटी में थीं, उस समय स्वामी निरंजनानन्द, सुवोधानन्द आदि कतिपय संन्यासियों के साथ श्रीरामकृष्ण देव के वीर-भक्त गिरिशचन्द्र उनके दर्शन के लिए वहाँ पहुँचे। महान् सांसारिक अशान्ति के भँवर में पड़कर उस समय गिरिश की जीवन-नौका डाँवाडोल हो रही थी। एक दिन स्वामी निरंजनानन्द के समीप अपनी दयनीय दशा का वर्णन करने पर उन्हीं ने गिरिश को श्रीमाँ के चरणों में आश्रय लेने का परामर्श दिया था।

रत्नाकर डाकू को वाल्मीकि ऋषि वनाना नारदजी के जीवन का सर्वश्रेष्ठ श्रेय है। दस्यु अंगुलिमाला के जीवन को आमूल परिवर्तित कर उसे 'अहिंसक' नाम से भिक्षु-संघ में ग्रहण करना तथागत की वुद्धत्व-प्राप्ति का एक प्रकृष्ट प्रमाण है। 'गौरांग-अवतार' में 'जगाई-मधाई उद्धार' जिस प्रकार एक विशेष घटना है, ठीक उसी प्रकार 'रामकृष्ण-अवतार' में पाप-पंक-निमज्जित गिरिश का समस्त पापभार-ग्रहण भी भगवान की अहैतुकी कृपा का एक श्रेष्ठ निदर्शन

है। 'गिरिश का पाप' ग्रहण करने के कारण ही श्रीरामकृष्ण देव के शरीर में कठिन कण्ठ-रोग हुआ था एवं उसी रोग से उन्होंने देह छोड़ी। फिर भी कृपानिधि श्रीरामकृष्ण ने गिरिश को अपनी गोद में स्थान दिया। यथेच्छाचारी, कलुषित-स्वभाव गिरिश के जीवन के माधुर्यमय, परम आश्चर्यजनक परिवर्तन को देखकर जगत् को उन पतितपावन का परिचय मिला।

जयरामवाटी पहुँचते ही स्नान कर भीगे वस्त्र पहने गिरिश भाव-विह्वल हो श्रीमाँ को प्रणाम करने गये। उनको प्रणाम कर ज्योंही उन्होंने ऊपर की ओर देखा कि घूँघट से कुछ ढके हुए श्रीमाँ के मुख पर दृष्टि पड़ते ही वे चौंक उठे और कह उठे, "ऐं, माँ, तुम हो?"

गिरिश के इस विस्मय का उनके जीवन की एक अत्यन्त गोपनीय घटना के साथ सम्बन्ध था। उनकी युवावस्था में एक बार उन्हें हैजे का आक्रमण हुआ। रोग ने ऐसा भीषण रूप धारण कर लिया कि उनके बचने की कोई आशा नहीं रही। उस समय उन्हें स्वप्न में एक देवी-मूर्ति के दर्शन हुए। वह ज्योतिर्मयी मूर्ति लाल किनार की साड़ी पहने हुए थी, उसके मुखमण्डल पर स्वर्गीय कान्ति और नेत्रों में स्नेह-शीतल स्निग्धता थी। देवी ने उनके मुख में महाप्रसाद देकर कहा, "खाओ।" उस अपार्थिव प्रसाद को खाते-खाते गिरिश की नींद खुल गयी। फिर भी उस प्रसाद का पवित्र स्वाद उस समय तक बना रहा और उन्होंने यह अनुभव किया कि वह देवी मानो उन्हें चारों ओर से घेरे हुए है। गिरिश स्वस्थ हो उठे।... अब इतने वर्ष बाद अपनी आँखों के सामने उसी स्वप्न की देवी को सहज नारी के रूप में देखकर उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उन्होंने आज यह अनुभव किया कि घूंघट की आड़ में रहकर अब तक कौन उनकी रक्षा कर रही है, तथा किसने उन्हें मृत्यु के हाथ से बचाया था?

इस मानवी देवी के जीवन में ऐसी अनेक अलौकिक घटनाओं

का परिचय क्रमशः हमें प्राप्त होगा। वे अपने को घूँघट में छिपाकर गाँवों में रहती थीं, पर उनकी मंगलमयी दृष्टि दूर-दूर तक चारों ओर फैली हुई थी। कितनी ही भाँति, कितने ही प्रकार से उन्होंने जीवों का उद्धार किया। जिन दो-चार घटनाओं का पता चलता है, उन्हीं से यह स्पष्ट है कि अरूपा ने किस प्रकार रूप धारण किया था, सीमाहीन कैसे सीमाबद्ध हुई थीं। जगज्जननी, सारदा देवी के रूप में क्रीड़ा कर रही थीं। स्वामी प्रेमानन्दजी ने कहा था, "श्रीश्रीमाँ ने मनुष्य-शरीर धारण किया था, फिर भी उनका अप्राकृत भागवती तनु था।"

अन्यान्य पुरुष-भक्तों की तरह गिरिश को भी इससे पूर्व कभी सारदा देवी के श्रीमुख-दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था। सम्भवतः १८८७ ई. में, श्रीमाँ जब 'बलराम-भवन' में कुछ दिन रही थीं, उस समय एक दिन वे छत पर चढ़ी थीं। गिरिश भी उस समय अपने मकान की छत पर टहल रहे थे। तब उनकी पत्नी श्रीमाँ को दिखाती हुई बोली, "वह देखो, माँ भी छत पर टहल रही हैं।" यह सुनते ही अपना मुँह फेर गिरिश कहने लगे, "नहीं, नहीं। मैं अपने इन पाप-नेत्रों से इस प्रकार छिपकर उन्हें नहीं देखूँगा।" वे तत्काल ही छत से उतर आये।

१८९० ई. में, जब वराहनगर के किराये के मकान में अपनी चिकित्सा के लिए श्रीमाँ रहती थीं, उस समय गिरिश का गूँगा पुत्र, जिसकी आयु तीन वर्ष की थी, अपने पिता को खींचते-खींचते ऊपर श्रीमाँ के समीप ले गया। गिरिश जाना नहीं चाहते थे और रो-रोकर कह रहे थे, "अरे, मैं माँ के पास कैसे जाऊँ, मैं तो महापापी हूँ!" वे काँपते हुए श्रीमाँ के चरणों पर गिरकर बोले, "माँ, इसके द्वारा ही तुम्हारे श्रीचरण-दर्शन का सौभाग्य मिला।"

वे ही गिरिश आज श्रीमाँ के श्रीमुख का दर्शन कर विस्मित हो उठे। अपने उस समय के देखे हुए स्वप्न की सत्यता उन्होंने परख ली।

उनके प्रश्न के उत्तर में श्रीमाँ को यह स्वीकार करना पड़ा कि उन्हीं ने उस प्रकार दर्शन देकर उनके प्राणों की रक्षा की थी। फिर भी उनका संशय दूर नहीं हुआ। एक दिन श्रीमाँ से उन्होंने पूछा, "तुम कैसी 'माँ' हो?" चिरन्तनी-माँ ने स्वाभाविक कण्ठ से उत्तर दिया, "मैं सचमुच की माँ हूँ। मैं गुरु-पत्नी नहीं, बनायी हुई माँ नहीं, कहने-भर की माँ भी नहीं, मैं तो सचमुच की माँ हूँ।" मानवी देवी के और भी अनेकानेक कृपानुभव उस वर्ष जयरामवाटी में माँ के समीप रहते समय गिरिश को प्राप्त हुए थे।

सन्तान माँ को ममतामयी रूप से देखती है और माँ के मातृत्व का विकास भी स्नेहमय लालन द्वारा होता है। गिरिश कलकत्ते के रहनेवाले थे। सुबह उठते ही चाय के प्याले में मुँह डुबाने का उन्हें अभ्यास था। श्रीमाँ यह जानती थीं। पर गाँव में दूध मिलना एक समस्या थी। चाय और चीनी जुटाना भी सहज नहीं था। श्रीमाँ गठिये से पीड़ित थीं, तो भी प्रातःकाल सबसे पहले दूध लाने के निमित्त निकल पड़ती थीं। उनसे अच्छी तरह चला भी नहीं जाता था। फिर भी ऐसी दशा में सारा गाँव घूम-घूमकर थोड़ासा दूध संग्रह कर लाती थीं। सोकर उठते ही गिरिश को चाय तैयार मिलती। चाय पीते समय उनका हृदय उमड़ पड़ता। चाय के प्याले में आँसू टपकते जाते। केवल चाय ही नहीं, उसके साथ हलुआ तथा रोज नयी-नयी खाद्य-सामग्री भी दी जाती थी। कितना स्नेह-सत्कार था, कितनी आन्तरिकता थी! एक दिन गिरिश ने देखा कि श्रीमाँ बिस्तर की कुछ मैली चद्दरें और तकियों के गिलाफों को लेकर तालाब की ओर जा रही हैं। रात में सोते समय उन्हें अपना बिस्तर एकदम साफ-सुथरा और सफेद दिखाई पड़ा। यह कार्य श्रीमाँ का ही है यह जानकर उन्हें एक ओर जिस प्रकार मन में महान् कष्ट हुआ, वैसे ही दूसरी ओर जननी का अपार स्नेह देखकर उनका हृदय आनन्द से भर उठा।

जयरामवाटी में रहते समय गिरिश के जीवन में एक प्रकार की नवीनता दिखाई देने लगी। श्रीमाँ के सान्निध्य में उनका रिक्त जीवन मानो पूर्ण हो उठा। अब गिरिश का वह पहला रूप नहीं रहा। अत्यन्त असंयमी और उद्दण्ड गिरिश ने श्रीमाँ के समीप शान्त-शिष्ट शिशु का रूप धारण किया। "माँ हैं और मैं हूँ, मुझे चिन्ता ही किस बात की है? माँ के हाथ से खाता-पीता हूँ, माँ ने मेरा सारा भार ले लिया है।"—इसी भावना से गिरिश ने अब तन-मन-वचन से श्रीमाँ के चरणों में आत्मसमर्पण कर दिया। उन्होंने समझ लिया कि "मेरी माँ सनातनी और सन्तापहारिणी हैं।"

कुछ दिन बाद कलकत्ते में गुरुभाइयों के समीप गिरिश ने एक दिन बड़े आवेगपूर्ण स्वर से कहा था, "मनुष्य के लिए यह विश्वास करना कि भगवान ठीक हम लोगों की तरह मनुष्य-रूप में जन्म लेते हैं, बहुत ही कठिन है। तुम लोग क्या ऐसी धारणा कर सकते हो कि ग्रामीण महिला के रूप में साक्षात् जगदम्बा तुम्हारे समक्ष खड़ी हैं? ऐसी कल्पना करना क्या तुम लोगों के लिए सम्भव है कि महामाया साधारण रमणी की भाँति घर-गृहस्थी के सारे काम-काज कर रही हैं? पर वे ही तो जगज्जननी हैं, महामाया हैं, महाशक्तिस्वरूपिणी हैं; सारे जीवों की मुक्ति और मातृत्व का आदर्श स्थापित करने के लिए उनका आविर्भाव हुआ है।" प्रख्यात कवि एवं नाट्याचार्य की यह साधारण उक्ति मात्र नहीं है, यह तो मातृ-साधक भक्तवर गिरिश की मर्मवाणी है।

नाट्याचार्य-जैसे प्रसिद्ध व्यक्ति का जयरामवाटी पहुँचना उस अंचल के लोगों के लिए एक विस्मयजनक घटना थी। गिरिशबाबू को देखने तथा उनके गाने सुनने के लिए लोग दल बाँधकर आने लगे। जितना ही वे कहते कि मैं गा नहीं सकता, संगीत का रचयिता मात्र हूँ, उतना ही लोगों का आग्रह बढ़ता जाता। तब बाध्य होकर उन्हें

गाना पड़ता। वे श्रीबालगोपाल की मधुर-लीला के पद बनाकर गाते।

एक दिन देशड़ा गाँव का हरिदास वैरागी जयरामवाटी में गाना सुनाने आया। वह स्वयं भक्त था और गाना गाकर भिक्षा-वृत्ति के द्वारा अपना निर्वाह करता था। वह बेला बजाकर श्रीअन्नपूर्णा और शिव के लीला-सम्बन्धी पद गाने लगा, जिसका भावार्थ यह था — "अरी उमा, क्या ही आनन्द की बात है! लोगों से सुनती हूँ, शिवानी, सच बोल, क्या काशी में तेरा नाम अन्नपूर्णा है? ऐ अपर्णा, जब मैंने तुझे शिव को सौंपा, तब भोलानाथ मुट्ठी-भर भीख के लिए तरसते थे। शुभंकरी, आज मैं क्या आनन्द की बात सुन रही हूँ — क्या तू विश्वेश्वर के बायें विराजमान विश्वेश्वरी है?"

उसके गाने के भाव से आँखों के सामने सर्वत्यागी श्रीरामकृष्ण और सारदा देवी की जीवन-लीला का एक अपूर्व चित्र खिंच गया। वैरागी के मुँह से वह गाना सुनकर भाव-विमुग्ध गिरिशचन्द्र के दोनों कपोलों को प्लावित करते हुए अश्रु प्रवाहित होने लगे। भीतर घर में बैठकर श्रीमाँ भी आँचल से आँसू पोंछने लगीं।

श्रीमाँ के पवित्र सान्निध्य में कुछ दिन रहने के फलस्वरूप गिरिश के आध्यात्मिक जीवन में महान् परिवर्तन आ गया। उस समय से जीवन के अन्तिम दिवस पर्यन्त श्रीमाँ की इच्छा पर निर्भर रहने की शिक्षा उन्होंने प्राप्त की थी। कुछ वर्ष बाद (१८९६ ई. में) जब श्रीमाँ कलकत्ते के बागबाजार में एक किराये के मकान में निवास कर रही थीं, उस समय एक दिन गिरिशचन्द्र श्रीमाँ के चरणों में साष्टांग प्रणाम कर आवेगपूर्ण-कण्ठ से कहने लगे, "माँ, जब मैं तुम्हारे समीप आता हूँ, तब मुझे ऐसा प्रतीत होने लगता है, मानो मैं एक छोटा बच्चा हूँ और अपनी माँ के पास जा रहा हूँ।" यह कहते हुए उनका कण्ठ रुद्ध हो गया, आगे कुछ कहना उनके लिए सम्भव नहीं हुआ।

क्रमशः श्रीमाँ के सम्बन्ध में देवी-अनुभूति गिरिश के हृदय में

इतनी प्रगाढ़ हो उठी कि बँगला सन् १३१८ में श्रीसारदा देवी की दशभुजा-दुर्गा के रूप में पूजा करने की उनकी तीव्र अभिलाषा हुई। श्रीमाँ उस समय जयरामवाटी में थीं। मलेरिया से पुनः-पुनः पीड़ित होकर उनका शरीर अत्यन्त कमजोर हो चुका था। फिर भी भक्त-सन्तान गिरिश के आन्तरिक आह्वान से बाध्य होकर उन्हें कलकत्ते में उनकी पूजा ग्रहण करने की स्वीकृति देनी पड़ी।

यथासमय श्रीमाँ कलकत्ते में बलराम-भवन आयीं। गिरिश के घर पर श्रीमाँ की उपस्थिति में शारदीया-पूजा का 'कल्पारम्भ' हुआ। माताजी के शुभागमन के समाचार मिलते ही भक्तगण दल बाँधकर 'जीवित दुर्गा' की पूजा के निमित्त विविध उपकरणों के साथ बलराम-भवन में एकत्रित होने लगे। यद्यपि श्रीमाँ का शरीर अस्वस्थ था, फिर भी पूजन के तीनों दिन अगणित भक्तों के श्रद्धार्घ स्वीकार कर उन्होंने सबको कृतार्थ किया। दिन-भर अत्यधिक परिश्रम करने के फलस्वरूप महाष्टमी की रात्रि में श्रीमाँ को खूब जाड़ा लेकर ज्वर हो आया। उस वर्ष गहरी रात्रि में 'सन्धिपूजन' का समय था। उस समय ज्वर की दशा में श्रीमाँ के लिए गिरिश के घर पर उपस्थित होना असम्भव था। हताश हो गिरिश एकान्त में बैठकर आँसू बहाने लगे और मन-ही-मन सोचने लगे कि जब माँ ही नहीं पधारेंगी, तो पूजा-मण्डप में जाकर क्या करना! फलस्वरूप वे पूजा-मण्डप में नहीं गये। इधर 'सन्धिपूजा' के समय उस गहरी रात में सेविकाओं के साथ श्रीमाँ पैदल ही गिरिश के घर पर उपस्थित हुईं और पीछे के दरवाजे को खटखटाती हुई बोलीं, "मैं आ गयी हूँ।" उनकी आवाज सुनते ही गिरिश का मुखमण्डल शारदीय चन्द्रमा की भाँति उज्ज्वल हो उठा। पूजा-मण्डप में पहुँचकर श्रीमाँ देवी-प्रतिमा के उत्तर-पश्चिम कोने में खड़ी हुईं। दिव्यानन्द की तरंग से सभी के हृदय आन्दोलित हो उठे। आवेगपूर्ण कण्ठ से गिरिश ने मातृ-वन्दना

की। भक्तों ने भी देवी के चरणों में भक्ति-अर्घ्य अर्पण किया।

ऐश्वर्य के राजमार्ग से कभी जगज्जननी का आगमन नहीं होता। वे तो दीनता की वीथी से अकिंचनों के हृदयों में आविर्भूत होती हैं। तभी तो श्रीमाँ पीछे के दरवाजे से पधारी थीं।

गिरिश का देहान्त होने पर अत्यन्त शोकग्रस्त हो श्रीमाँ ने कहा था, "... अहा, एक इन्द्र उठ गया! कैसा गहरा उसका भक्ति-विश्वास था!" गिरिश के विश्वास के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण कहा करते थे— "सवा रुपये ही नहीं, एक रुपया पाँच आने।" अर्थात् सोलह आने से भी बहुत अधिक।

श्रीमाँ से गिरिश को ऐसा क्या मिला था, जिसके फलस्वरूप उन्होंने मातृ-चरणों में इस प्रकार आत्मसमर्पण किया था? कुछ स्नेह-सेवा, अमृतमय सम्भाषण, मातृस्नेह, अथवा कोई अपार्थिव दैवी-सम्पत्ति? श्रीरामकृष्ण की अच्छी तरह परीक्षा करके ही गिरिश ने उन्हें अपनाया था। माँ-बाप तक की गाली-गलौज तथा और भी कितने ही प्रकार के दुर्व्यवहार के द्वारा उन्होंने क्षमामय को भलीभाँति परख लिया था। फिर भी पापहरण श्रीरामकृष्ण देव ने पापपंकिल गिरिश को अपनी गोद में आश्रय प्रदान किया था। उनके भाव, महाभाव, समाधि, तन्मयता, त्याग, पवित्रता तथा अध्यात्म-शक्ति को अच्छी तरह से देख-भालकर तब गिरिश ने उनके चरणों में मस्तक झुकाया था, उनको 'अवतारवरिष्ठ' माना था, और बाद में बड़े जोर-शोर के साथ उनका प्रचार भी किया था।

किन्तु आद्याशक्ति की प्रफुल्ल-प्रसन्नता प्राप्त करना सम्भवतः उस समय तक गिरिश के लिए बाकी था। आत्मनिवेदन के द्वारा गिरिश ने उस प्रसन्नता को प्राप्त किया। १९१२ ई. की काशी की एक घटना है। गोलाप-माँ ने स्वामी ब्रह्मानन्दजी से पूछा था, "राखाल, माँ यह जानना चाहती हैं कि पहले शक्ति-पूजन क्यों किया जाता है?"

स्वामी ब्रह्मानन्द—"ब्रह्मज्ञान की चावी तो माँ के ही पास है। माँ यदि कृपा करके चावी से दरवाजा न खोल दे, तो दूसरा उपाय ही क्या है ?"

'सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये'—इस वाक्य की सत्यता सिद्ध हुई। श्रीमाँ की दैवी-कृपा के स्पर्श से गिरिश के लिए अमृतधाम में जाने का ज्योतिर्मय मार्ग उद्‌घाटित हो गया था।

*　　*　　*　　*

उस समय श्रीमाँ लगभग तीन वर्ष तक जयरामबाटी और कामारपुकुर में रही थीं।

इसी समय की बात है, एक दिन माताजी कामारपुकुर से जयरामबाटी आ रही थीं। उनके साथ कपड़े की पोटली लेकर बालक शिबू (श्रीरामकृष्ण का भतीजा शिवराम) चल रहा था। जयरामबाटी के समीप पहुँचते ही धुन में आकर शिवराम अकस्मात् मैदान में खड़ा हो गया। उसके पैरों की आहट न पाकर पीछे की ओर फिरकर श्रीमाँ ने देखा कि शिवराम चुपचाप खड़ा है।

"अरे शिबू, तू खड़ा क्यों है, आ, चले आ"—श्रीमाँ ने उसे आवाज दी। फिर भी शिवराम उसी प्रकार खड़ा रहा। इधर दिन डूबता देख श्रीमाँ उसके पास जाकर पुनः उससे चलने के लिए बोलीं। तब उसने कहा, "एक बात बता सकती हो ? तभी मैं साथ चलूँगा।"

श्रीमाँ ने पूछा, "कौनसी बात रे ?"

शिवराम—"तुम कौन हो, बता सकती हो ?"

श्रीमाँ ने कहा, "अरे, मैं और कौन हूँ, मैं तो तेरी चाची हूँ।"

"तो जाओ, यह तो घर के पास आ गयी हो। मैं अब नहीं जाऊँगा।" यह कहकर वह उस निर्जन मैदान में चुपचाप खड़ा रहा।

श्रीमाँ चिन्तित होकर कहने लगीं, "अरे, देख भला, मैं और कौन हूँ रे ? मैं मनुष्य हूँ, तेरी चाची हूँ।"

"ठीक है, तो तुम जाओ न।" शिवराम ने पुनः जिद पकड़ी। वाध्य होकर तब श्रीमाँ को कहना पड़ा, "लोग कहते हैं काली।"

शिवराम ने फिर पूछा, "काली न, सच ?"

श्रीमाँ—"हाँ।" तब खुश होकर शिवराम ने कहा, "अच्छा, अब चलो।"

अपने स्वरूप के सम्बन्ध में श्रीमाँ की इस प्रकार की उक्ति कदाचित् ही सुनने को मिलती थी।†

भक्तों के विशेष आग्रह से बँगला सन् १३०० के आषाढ़ महीने में श्रीमाँ कलकत्ते पधारीं। इस वार भी वेलुड़ में गंगाजी के तट पर नीलाम्बरवावू के किराये के मकान में उनके रहने की व्यवस्था भक्तों ने की थी। यहीं पर श्रीमाँ ने पंचतपा का अनुष्ठान किया।

श्रीरामकृष्ण के लीला-संवरण के कुछ समय वाद से ही 'एक दाढ़ीवाले संन्यासी मूर्ति' से श्रीमाँ को पंचतपा करने के लिए वार-वार प्रेरणा मिलती रही। श्रीरामकृष्ण के देहावसान के अनन्तर वृन्दावन इत्यादि तीर्थ-स्थानों में कुछ दिन निवास करके जब श्रीमाँ कामारपुकुर आयीं, उस समय वे बहुधा (इन्हीं चक्षुओं से) एक गेरुआ वसन-धारिणी, रुक्षकेशी, गले में रुद्राक्ष की माला पहने हुई, ग्यारह-बारह वर्ष की एक देवी-मूर्ति देख पाती थीं और उन्हें ऐसा प्रतीत होता था कि वह मूर्ति कभी उनके सामने और कभी पीछे साथ-साथ घूम रही है; मानो उनके ही हृदयस्थित वैराग्य ने कुमारी-देवी का रूप धारण किया है। इस प्रकार एक साथ उन दोनों मूर्तियों के दर्शन से श्रीमाँ के हृदय में पंचतपा का अनुष्ठान करने की प्रेरणा हुई।

वेलुड़ में रहते समय हृदय में पंचतपा करने की इच्छा वलवती होने के कारण योगीन-माँ से उन्होंने सव वातें प्रकट कीं। योगीन-माँ भी आग्रहपूर्वक वोलीं, "अच्छी वात है, माँ, मैं भी करूँगी।" छत

† यह घटना सम्भवतः उसी समय की है।

पर मिट्टी डालकर वहाँ पंचतपा का आयोजन किया गया। इस सम्बन्ध में श्रीमाँ ने कहा था, "...मैं उस समय बेलुड़ में नीलाम्बरबाबू के मकान में रहती थी। चारों ओर उपले की आग और ऊपर सूर्य का प्रखर तेज। सवेरे जब मैं नहा-धोकर वहाँ पहुँची, उस समय आग खूब धधक रही थी। देखकर पहले मुझे डर लगा कि कैसे मैं उसके अन्दर जाकर सूर्यास्त तक वहाँ बैठी रहूँगी। फिर जब मैं ठाकुर का नाम लेकर उसमें गयी, तब मुझे आग की कोई गर्मी नहीं मालूम हुई। सात दिन तक इसी प्रकार मैंने अनुष्ठान किया। पर मेरे शरीर का रंग झुलसकर काला पड़ गया। इसके बाद फिर उस संन्यासी को मैंने कभी नहीं देखा।" योगिनी कुमारी-देवी भी फिर उन्हें दिखाई नहीं दी। उनके हृदय का दाह भी शुभ्र-शान्ति की अपूर्व स्निग्धता में परिणत हुआ।

इसी समय श्रीमाँ को एक और अद्भुत दर्शन मिला। उसने एक ओर जिस प्रकार श्रीरामकृष्ण की लीला का पूर्ण माधुर्य और तात्पर्य उनके हृदय-पटल पर दृढ़ रूप से अंकित कर दिया, उसी प्रकार दूसरी ओर उस लीला की पुष्टि के लिए मनुष्य-शरीर में अपने विद्यमान रहने की सार्थकता के सम्बन्ध में उनमें स्थिर विश्वास उत्पन्न कर दिया।

उक्त उद्यान-भवन के सामने से ही करुणाविगलित जाह्नवी प्रवाहित होती हैं। उस दिन पूर्णिमा थी। बगीचे में कुछ देर तक टहलने के बाद श्रीमाँ गंगाजी की ओर मुँह करके सीढ़ी पर बैठी हुई थीं। गंगा के रजत-वक्ष पर मृदु-मन्द कम्पन हो रहा था। मुग्ध होकर श्रीमाँ उस अपूर्व सौन्दर्य-माधुरी का अवलोकन कर रही थीं। अकस्मात् उन्होंने देखा कि पीछे की ओर से श्रीरामकृष्ण आकर अत्यन्त शीघ्रता से गंगाजी में उतर गये और तत्काल ही उनका शरीर गंगाजी में मिल गया। रोमांचित होकर वे देखने लगीं कि ठाकुर गंगाजी के साथ मिलकर एक हो गये। इसी समय कहीं से स्वामी विवेकानन्द

आकर 'जय रामकृष्ण' 'जय रामकृष्ण' उच्चारण करते हुए उस गंगाजल को दोनों हाथों से असंख्य लोगों के मस्तकों पर छिड़कने लगे, और उस ब्रह्मवारि के स्पर्श से सब कोई उसी समय मुक्त होने लगे। श्रीरामकृष्ण देव ने मुक्तिवारि का रूप धारण किया था!

इस दर्शन का श्रीमाँ के हृदय पर ऐसा गहरा असर हुआ कि कई दिन तक वे गंगाजी में नहीं उतरीं। कहतीं, "यह तो ठाकुर की देह है, कैसे इसमें पैर रखूँ?"

उस समय किसी एकादशी के दिन श्रीमाँ के दर्शन के निमित्त श्रीरामकृष्ण के अकिंचन भक्त नागमहाशय वहाँ पहुँचे। काशीपुर में श्रीरामकृष्ण जब अन्तिम रोग-शय्या पर थे, उस समय की किसी घटना का उल्लेख कर नागमहाशय की भक्ति के बारे में श्रीमाँ ने कहा था, "उस समय आँवले के दिन नहीं थे, पर एक दिन ठाकुर ने आँवला खाने की इच्छा प्रकट की। दुर्गाचरण (नागमहाशय) तीन दिन तक इधर-उधर ढूँढ़कर कहीं से दो-तीन आँवले लेकर उपस्थित हुआ। आँवले देखने में अच्छे बड़े थे। तीन दिन तक उसने न भोजन किया, न नींद ली। ठाकुर को जब आँवले दिये गये, तब हाथ पर आँवले लेकर वे रोते हुए कहने लगे, 'मैंने सोचा कि तुम शायद ढाका चले गये हो।' † फिर मुझसे बोले, 'आज जरा मिर्च डालकर चच्चड़ी ‡ बनाओ। ये लोग पूर्व बंगाल के रहनेवाले हैं, मिर्च ज्यादा खाते हैं।' और भी कई प्रकार की रसोई बनी थी। उन्होंने कहा, 'एक थाली में सब कुछ परोस दो, प्रसादी किये बिना वह (नागमहाशय) नहीं खायगा।' ठाकुर उन वस्तुओं को प्रसादी करने बैठे। . . . अहा, उसकी कैसी अपूर्व गुरुभक्ति थी। . . . देखने में वह रंग का काला था, चेहरा सूखा-सूखा

† दुर्गाचरण नागमहाशय का जन्मस्थान ढाका जिले (पूर्वी-पाकिस्तान) में था।

‡ एक प्रकार की बंगाली तरकारी।

था, पर आँखें बड़ी-बड़ी और उज्ज्वल थीं। प्रेमपूर्ण नेत्र सदा प्रेमाश्रु से भीगे रहते थे।... इतने तो भक्त आते हैं, पर उसकी-जैसी भक्ति और किसी में मैंने नहीं देखी।"

ऐसे परम भक्त नागमहाशय श्रीमाँ के दर्शन के लिए नीलाम्बर-बाबू के मकान में उपस्थित हुए। उस समय किसी भी पुरुष को श्रीमाँ का साक्षात् दर्शन नहीं मिलता था। भक्तगण सीढ़ी पर मस्तक रखकर प्रणाम करते थे और उस समय माँ के समीप रहनेवाली सेविका जब उनके नाम बतलाती, तब उसी के द्वारा श्रीमाँ उन्हें आशीर्वाद प्रदान करती थीं। उस दिन नागमहाशय सीढ़ी पर जोर-जोर से माथा ठोकने लगे और व्याकुल हो रोने लगे। इस प्रकार मस्तक ठोकने के फलस्वरूप उनका ललाट सूज गया, आँसुओं से दृष्टि अवरुद्ध हो गयी, उनके मुख से केवल 'माँ, माँ' की ध्वनि निकल रही थी। समाचार मिलते ही श्रीमाँ ने उनको ऊपर ले आने का आदेश दिया। भावाविष्ट होने के कारण नागमहाशय का सर्वांग काँप रहा था, उनमें चलने की शक्ति नहीं रही थी, पैर इतस्ततः पड़ रहे थे। श्रीमाँ स्नेह के साथ उनके शरीर पर हाथ फेरने लगीं।

श्रीमाँ के पुनीत स्पर्श से उनका मन क्रमशः सहज-भूमि पर आया। तब माँ उन्हें छोटे बच्चे की तरह अपने हाथ से प्रसाद खिलाने लगीं। आनन्द में विभोर होकर वे कहने लगे, "बाप से माँ अधिक दयालु है, बाप से माँ अधिक दयालु है।" श्रीमाँ के चरणों में साष्टांग दण्डवत् कर, नीचे उतरते समय कहने लगे, "नाहं, नाहं, तू ही, तू ही (मैं नहीं, मैं नहीं, तुम, तुम)।"

किसी समय श्रीमाँ ने नागमहाशय को एक वस्त्र दिया था। उस वस्त्र को माँ का प्रसाद मानकर वे सर्वदा अपने मस्तक पर लपेटे रहते थे, पहनते न थे। श्रीमाँ जब बागबाजार के गोदामवाले मकान में थीं, उस समय की घटना है। एक दिन श्रीमाँ ने पत्तल पर प्रसाद

रखकर उसे नागमहाशय को देने के लिए भेजा। उनकी ऐसी गहरी भक्ति थी कि उन्होंने पत्तल तक खा डाली! श्रीमाँ के हाथ के पुनीत स्पर्श से उनकी दृष्टि में वह पत्तल भी महापवित्र महाप्रसाद वन चुकी थी। नागमहाशय की इस प्रकार अद्भुत भक्ति थी! वे श्रीमाँ को मानव-देह में साक्षात् जगज्जननी के रूप से देखते थे।

साध्यरूपिणी श्रीसारदा देवी कठोर तपश्चर्या एवं आत्मानन्द की प्रशान्ति में कुछ महीने वेलुड़ में व्यतीत कर कुछ दिन के लिए जयरामवाटी आयीं।

इधर भक्तप्रवर वलरामवावू की धर्मपत्नी अपनी प्रिय पुत्री भुवनमोहिनी की अकाल-मृत्यु से अत्यन्त शोकातुरा होकर वीमारी से मृतप्राय हो उठीं। उनके आत्मीय उन्हें जलवायु वदलने के लिए अन्यत्र भेजना चाहते थे। किन्तु उन्होंने यह अभिप्राय प्रकट किया कि श्रीमाँ को साथ लिए विना वे कहीं भी जाने को तैयार नहीं हैं।

वलरामवावू ने पूर्ण रूप से युगावतार के चरणों में आत्मसमर्पण किया था। श्रीरामकृष्ण वलराम की भक्ति की प्रशंसा करते हुए कहा करते थे, "वलराम का अन्न, शुद्ध अन्न है।" श्रीरामकृष्ण ने श्रीमाँ पर ही मानो उस परिवार की देख-भाल का भार सौंपा था। एक वार वलराम की धर्मपत्नी को कठिन वीमारी हुई। श्रीमाँ और श्रीरामकृष्ण उस समय दक्षिणेश्वर में थे। श्रीरामकृष्ण स्वयं न जाकर श्रीमाँ से वोले, "जाओ, उसे देख आओ।" माताजी ने पूछा, "कैसे जाऊँ? गाड़ी-वाड़ी नहीं है।"

"मेरे वलराम का संसार नष्ट हो जायगा, और तुम नहीं जाओगी? पैदल जा सकती हो, पैदल ही जाओ" — श्रीरामकृष्ण के कण्ठ में उत्कण्ठा का स्वर ध्वनित हो उठा। अन्त में पालकी की व्यवस्था हुई। श्रीमाँ दक्षिणेश्वर से वलराम की धर्मपत्नी की रोग-शय्या के समीप उपस्थित हुईं।

और भी एक वार वलराम की धर्मपत्नी की वीमारी के समय उन्होंने श्रीमाँ को देखने के लिए भेजा था। वे उस समय श्यामपुकुर में अस्वस्थ थे। श्रीमाँ उनकी सेवा-शुश्रूषा के लिए वहीं थीं। वलराम की धर्मपत्नी की वीमारी का समाचार पाते ही विचलित होकर वे श्रीमाँ से कहने लगे, "तुम एक वार वलराम के घर हो आओ।" श्रीमाँ गाँव की महिला थीं, कलकत्ते के राजपथ पर वे कभी नहीं निकली थीं; फिर भी सायंकाल के झुटपुटे में परिचारिका को साथ लेकर पैदल ही वे वलराम की धर्मपत्नी को देखने के लिए गयीं।

वलरामवावू वास्तव में युगावतार के पार्षद थे। गौरांग महाप्रभु ने जव अवतार लिया था, उस समय सांगोपांग-रूप से उनका भी आविर्भाव हुआ था। भावाविष्ट होकर एक दिन श्रीरामकृष्ण ने गौरांग देव की संकीर्तन-मण्डली में वलरामवावू को देखा था। किसी समय भावावेश में उन्होंने वलराम को माँ-काली के समीप भी खड़े हुए देखा था। इसलिए वलराम जिस समय सर्वप्रथम उनके समीप उपस्थित हुए, उसी समय उन्होंने वलराम को अपने पार्षद के रूप में पहचान लिया था। वलराम की धर्मपत्नी कृष्णभाविनी का जन्म भी लक्ष्मी के अंश से हुआ था। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "वह वैकुण्ठ की रसोई वनानेवाली है।" इसी लिए उनकी इतनी आन्तरिकता और उत्कण्ठा थी।

श्रीमाँ को ये सारी वातें ज्ञात थीं। इसी लिए जव कभी वलराम के घर पर किसी प्रकार की विपत्ति आती, वे अविलम्व वहाँ पहुँच जातीं और उसके प्रतिकार में जी-जान से लग जाती थीं। अवकी वार भी जव वलरामवावू की धर्मपत्नी का अभिप्राय उनको वतलाया गया, वे तत्काल जयरामवाटी से कलकत्ते आयीं। (यह घटना १८९४ ई. के प्रारम्भ की है।) उक्त भक्त-परिवार के साथ विहार के शाहावाद जिले के कैलोआर नामक स्थान में वे दो महीने तक रहीं

भी। श्रीमाँ को वह स्थान बहुत ही पसन्द आया था। जंगली मृगों को देखकर वे बालिका की तरह आनन्दमग्न हो जाती थीं। किसी महिला-भक्त से उन्होंने कहा था, "उस देश में कैसे हिरन हैं! दल बाँधकर जब वे चलते हैं, तब ऐसा लगता है कि कोई त्रिकोण चल रहा है। देखते-ही-देखते वे इतने जोर से दौड़ने लगते हैं, मानो उनके पंख निकल आये हों। अहा, ठाकुर कहते थे, 'हिरन की नाभि में कस्तूरी होती है, उसकी गन्ध से वह इधर-उधर भागता रहता है, उसे यह पता नहीं चलता कि वह गन्ध कहाँ से आ रही है। इसी प्रकार इस मनुष्य-देह में ही भगवान विद्यमान हैं; मनुष्य उन्हें जान नहीं पाता, इसलिए इधर-उधर घूमता रहता है।' एकमात्र भगवान ही सत्य हैं, और बाकी सब कुछ मिथ्या है; क्यों बेटी, ठीक है न?"

श्रीमाँ के साथ कैलोआर में रहकर भक्तों के शोक-सन्तप्त हृदय आनन्द और शान्ति से भर उठे। श्रीमाँ ने अपनी दिव्य-शक्ति के द्वारा मानो उन लोगों के शोक-तापों को हर लिया। स्वस्थ-शान्त हृदय से सबको लेकर श्रीमाँ कलकत्ते वापस आयीं और वहाँ से कुछ दिन के लिए पुनः जयरामवाटी चली गयीं।

एक बार कोई भक्त-महिला श्रीमाँ से मिलने आयी। सांसारिक ताप और विविध दुःखों से उसका हृदय जला-भुना जा रहा था। 'भगवान से मैं इतनी प्रार्थना कर रही हूँ, फिर भी मेरे दुःख दूर नहीं होते'— इस प्रकार की भावना से उसका चित्त अत्यन्त खिन्न हो उठा था! इसलिए दुःखित होकर वह इस आशा से श्रीमाँ के चरणों में उपस्थित हुई कि वे अवश्य मेरे दुःख दूर कर देंगी तथा उनके कृपा-स्पर्श से मेरा जीवन धन्य हो जायगा।

ज्योंही वह प्रणाम करके बैठी, श्रीमाँ ने उसकी अकथित हृदय-वेदना को भाँप लिया। वे स्नेहपूर्ण स्वर से बोलीं, "देखो बेटी, सभी सोचते हैं कि मैंने भगवान से इतनी प्रार्थना की, फिर भी मेरे दुःख

नहीं गये ! ... पर दुःख तो उनकी कृपा है ! " कुछ देर रुककर वे फिर बोलीं, " संसार में ऐसा कौन है, जिसे दुःख न मिला हो ? वृन्दा ने कृष्ण से कहा था, 'तुम कब के दयामय आये ? कौन तुम्हें दयामय कहता है ? रामावतार में तुमने सीता को रुलाया, कृष्णावतार में राधा को रुला रहे हो । कंस-कारागार में बैठकर तुम्हारे माता-पिता दारुण दुःख से व्यथित हो दिन-रात कृष्ण-कृष्ण कहकर रोते थे । फिर भी मैं जो तुम्हारा नाम लेती हूँ, उसका कारण यह है कि उससे मृत्यु-भय दूर हो जाता है।' "

जयरामवाटी में कुछ दिन रहकर श्रीमाँ जब कलकत्ते आयीं, उस समय भक्तों ने बेलुड़ में उनके रहने की व्यवस्था की । क्रमशः शारदीया दुर्गा-पूजन का समय उपस्थित हुआ । स्वामी प्रेमानन्द की भक्तिमती माता ने अपने निवासस्थान आँटपुर में अबकी बार कुछ वर्षों के बाद दशभुजा-दुर्गा की मूर्ति बनाकर पूजन का आयोजन किया था । उन लोगों के विशेष आग्रह से श्रीमाँ को पूजन के उपलक्ष में वहाँ जाना पड़ा । इस घटना का उल्लेख कर स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका से अपने किसी गुरुभाई को लिखा था, " बाबूराम की माँ बुढ़ापे में बुद्धि से हाथ धो बैठी है । जीवित-दुर्गा को त्यागकर वह मिट्टी की बनी हुई दुर्गा की पूजा करने बैठी है । ... " पूजन के बाद श्रीमाँ आँटपुर से जयरामवाटी चली गयीं ।

कुछ दिन बाद श्रीमाँ के मन में अपनी वृद्धा जननी को तीर्थ-दर्शन कराने की अभिलाषा जागृत हुई । इस उद्देश्य से वे उस वर्ष (बँगला सन् १३०१) के अन्त में कलकत्ते पधारीं तथा तीर्थ-यात्रा की सारी व्यवस्था ठीक कर, अपनी माता तथा कुछ घनिष्ठ आत्मीयों को कलकत्ते बुलवाकर तीर्थ-यात्रा के लिए निकल पड़ीं । काशी, वृन्दावन आदि तीर्थों के दर्शन कर लगभग दो महीने बाद वे कलकत्ते वापस आयीं । अनन्तर अपनी माता आदि को जयरामवाटी भेजकर वे मास्टर

के कोलुटोला के मकान में लगभग एक महीने तक रहीं। बाद में अपनी माता तथा भाइयों के आग्रह से उन्हें कामारपुकुर होकर शीघ्र ही जयरामवाटी जाना पड़ा।

वृन्दावन से श्रीमाँ पीतल की एक छोटी बालगोपाल-मूर्ति लायी थीं। वह उनके घर में वैसे ही बिना पूजित रखी हुई थी। जयरामवाटी में श्रीमाँ एक दिन लेटी हुई थीं। उन्होंने देखा कि वह छोटीसी मूर्ति घुटनों के बल चलती हुई उनकी खाट के समीप उपस्थित हो अश्रुमुख होकर कह रही है, "तुमने मुझे वैसे ही रख छोड़ा है, न मुझे कुछ खिलाती हो, न पूजा ही करती हो। यदि तुम मेरी पूजा न करो, तो कोई भी नहीं करेगा।" श्रीमाँ ने तत्काल गोपाल को गोद में उठा लिया। स्नेहपूर्वक उसका चुम्बन लेकर पुष्पांजलि प्रदान करके उन्होंने उसकी पूजा की और उसे पूजा की वेदी पर ठाकुर की बगल में स्थापित किया। तभी से गोपाल की नित्य-पूजा होती चली आ रही है। भगवान भी विग्रह धारण कर सेवा-पूजा पाने की अभिलाषा करते हैं! भक्त के हाथ से वे भोजन करना चाहते हैं — भक्ति का स्वाद लेना चाहते हैं!

लगभग एक वर्ष के बाद भक्तों के आग्रह से श्रीमाँ को कलकत्ते आना पड़ा। अबकी बार बागबाजार में गंगातट पर गोदामवाले मकान में पाँच-छः महीने तक उनके रहने की व्यवस्था की गयी। क्रमशः भक्तों की संख्या बढ़ चली थी। दर्शनाकांक्षी और कृपाप्रार्थी होकर दिन-प्रतिदिन दूर-दूर से लोग आने लगे। जहाँ माँ हैं, वहाँ पर सन्तानों की भीड़ होना स्वाभाविक है!

इसके बाद जयरामवाटी तथा कामारपुकुर में श्रीमाँ ने लगभग डेढ़ वर्ष तक निवास किया। एक बार कामारपुकुर के प्रसंग में उन्होंने कहा था, "कामारपुकुर में हरिदासी नाम की एक महिला नवद्वीप जाने के लिए आकर वहीं रह गयी। मुझ पर उसका बड़ा प्रेम था।

उसका विश्वास कितना गहरा था ! उसने ठाकुर के जन्मस्थान की मिट्टी इकट्ठी कर रखी थी, कहती, 'यही तो नवद्वीप है; यहीं पर स्वयं गौरांग का आविर्भाव हुआ था, फिर नवद्वीप जाने से क्या लाभ ?' अहा, कैसा अपूर्व विश्वास था !" बँगला सन् १३०५ के वैशाख में जब वे पुनः कलकत्ते आयीं, उस समय भक्तों ने बागबाजार में बोस-पाड़ा लेन के एक किराये के मकान में उनके रहने की व्यवस्था की।

तब तक स्वामी विवेकानन्द भारत वापस आ चुके थे। वे विश्वविजयी होकर २० फरवरी, १८९७ ई. को कलकत्ते लौटे। उस समय से जीवन के अन्तिम दिवस पर्यन्त (४ जुलाई, १९०२ ई. को स्वामी विवेकानन्दजी ने अपनी देह छोड़ी थी) हम उन्हें सक्रिय रूप से भारतमाता की सेवा में संलग्न पाते हैं। सनातन वैदिक-धर्म की पुनः-प्रतिष्ठा तथा पुनरभ्युत्थान के लिए ही श्रीरामकृष्ण देव के साथ उन्होंने देह-धारण किया था। उक्त कार्य के निमित्त अनुकूल वातावरण प्रस्तुत करने के लिए ही वे पाश्चात्य देशों में गये थे और विश्व में सनातन-धर्म की सत्यता तथा प्राधान्य स्थापित किया था। श्रीरामकृष्ण देव ने दक्षिणेश्वर में एक दिन भावाविष्ट होकर कहा था, "सनातन-धर्म, जैसा ऋषियों ने कहा है, वैसा ही रहेगा।"

भारतवर्ष लौटते ही त्याग एवं सेवा-धर्म के आदर्शानुरूप युगधर्म के प्रचारकों का जीवन गठित करने के हेतु स्वामीजी एक मठ की स्थापना के लिए प्रयत्न करने लगे। कुछ ही दिनों में स्थायी मठ के लिए बेलुड़ में जमीन खरीदी गयी। वहाँ पर नीलाम्बरबाबू के किराये के मकान में अस्थायी रूप से मठ को उस समय स्थानान्तरित किया गया। नयी जमीन में मठ-निर्माण का कार्य तेजी के साथ चलने लगा।

१२ नवम्बर, १८९८ ई. में काली-माता के पूजन के पुनीत अवसर पर स्वामीजी संघ-जननी श्रीमाँ को बागबाजार से नवीन मठ-भूमि में लिवा लाये। श्रीमाँ ने अपने हाथों से पूजा के स्थान को साफ किया और

अपने नित्यपूजित ठाकुर के चित्र की वहाँ पर पूजा की। † युगावतार श्रीरामकृष्ण देव मठ में अधिष्ठित हुए। युग-युगान्तर के लिए वेलुड़-मठ महातीर्थ वन गया।

वेलुड़-मठ की जमीन के वारे में श्रीमाँ का कहना था, "...पर मैं वरावर ही यह देखती थी कि ठाकुर गंगा के उस पार उस जगह में, जहाँ कि आजकल मठ और केले का वगीचा इत्यादि हैं, वहाँ एक घर में निवास कर रहे हैं। (उस समय मठ नहीं वना था।)..." उनके इस अलौकिक दर्शन से ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीरामकृष्ण ने स्वयं ही वेलुड़-मठ के लिए उस स्थान को चुना था। उन्हीं के विशेष इंगित से वहाँ पर मठ की स्थापना की गयी है, इस वात का संकेत भी श्रीमाँ के उक्त कथन से मिलता है।

अनन्तर ९ दिसम्वर को (१८९८ ई.) शुभ मुहूर्त में वेलुड़ के किराये के मकान से श्रीरामकृष्ण देव की पवित्र देह-भस्म से पूर्ण 'आत्माराम के पात्र' को स्वामीजी (विवेकानन्द) स्वयं अपने कन्धे पर रखकर वहाँ लाये और सहस्र युगों के लिए श्रीरामकृष्ण को नवीन मठ में स्थापित किया। विश्व के इतिहास में वह दिन विशेष रूप से

---

† श्रीमाँ ठाकुर के जिस चित्रपट की नित्य पूजा करती थीं, उसका एक विशेष इतिहास है। प्रसंगवश माताजी ने कहा था, "...यह (ठाकुर का चित्र) यथार्थ में ठीक है।...मैंने इसे अन्यान्य देव-देवियों के चित्रों के साथ रखा था, नित्य मैं इसकी पूजा करती थी। मैं उस समय नौवतखाने के नीचे की कोठरी में रहती थी। एक दिन ठाकुर वहाँ आये और इस चित्र को देखकर कहने लगे, 'तुम लोगों ने यह सव क्या किया है?'...वाद में मैंने देखा कि वहाँ पर पूजा के लिए जो वेलपत्र आदि रखे हुए थे, उनसे उन्होंने उस चित्रपट की पूजा की। यह वही चित्रपट है।" श्रीरामकृष्ण ने स्वयं पूजा करके जगद्वासियों को पूजन की ओर आकर्षित किया।

स्मरणीय है। विश्व-धर्म की सार्थक उन्नति के लिए एक महिमोज्ज्वल युग की आगमन-वार्ता उस दिन उद्घोषित हुई। और भी अधिक आशा की बात यह है कि स्वामी विवेकानन्दजी को यन्त्र बनाकर युगावतार के आविर्भाव का कार्य उस समय समग्र विश्व में प्रारम्भ हो चुका था।

१९०१ ई. में बड़े समारोह के साथ स्वामीजी ने बेलुड़-मठ में प्रतिमा निर्मित कर दुर्गा-पूजन किया। 'जीवित दुर्गा' श्रीसारदा देवी का इस उपलक्ष में आह्वान कर, मठ के समीपवर्ती नीलाम्बर मुखर्जी के मकान में उनके रहने की व्यवस्था की गयी। श्रीमाँ मठ में पधारीं, देवी का 'बोधन-उत्सव' सम्पन्न हुआ। देवी-पूजन का 'संकल्प' श्रीमाँ के नाम से किया गया। आनन्दमयी के आगमन से पूजा के इन कुछ दिनों मठ में आनन्द की धारा उमड़ पड़ी। पुण्यमयी के दर्शन से बहुत से लोग धन्य हुए। 'दीयतां भुज्यताम्' व 'दुर्गामाई की जय' आदि ध्वनियों से गंगा-वक्ष प्रतिध्वनित होने लगा।

७

श्रीरामकृष्ण कहते थे कि मातृभाव अत्यन्त विशुद्ध भाव है। माताओं के द्वारा ही मातृभाव का विकास होता है। अहैतुकी प्रेम की अभिव्यक्ति इस आत्म-केन्द्रित जगत् में जहाँ तक सम्भव है, उसकी पूर्णता जननी में ही देखने को मिलती है। सन्तानों के सुख से सुखी तथा सन्तानों के गौरव से ही जननी गौरवान्वित होती है। जीवन का उन्मेष होते ही स्नेह-ममतामयी जननी के साथ ही जीवमात्र का सर्व-प्रथम परिचय होता है। नवजात शिशु नेत्र खोलते ही इधर-उधर देखने लगता है। वह किसे ढूंढ़ता है? स्नेह-पीयूषरूपिणी, तृप्ति-प्रदायिनी, कल्याणरूपिणी, मंगलदात्री जननी को ही। माता के रक्त से वर्धित, स्तन्य-पीयूष से पुष्ट शिशु माँ के अतिरिक्त और किसी को नहीं जानता। श्रीरामकृष्ण जगन्माता के ऐसे ही एक मूक शिशु थे। वे अपने जीवन के अन्तिम दिन तक माँ का आँचल पकड़कर चलनेवाले एक बालक थे।

स्नेह-ममता और मूर्तिमती प्रेम के रूप में घर-घर में जो माताएँ हैं, उनके स्नेह की परिधि सीमाबद्ध होती है; वह अपने आत्मज और परिजनों में ही केन्द्रित रहता है। फिर भी वह विश्व-मातृत्व का ही एक छोटासा प्रकाश है, मानो विश्वजननी का ही निःश्वास है। "या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता", वही आदिभूता-सनातनी, वासुकी की भाँति, वसुन्धरा को अपनी स्नेहमयी गोद में धारण किये हुए है। वही विश्वप्रसविनी सनातनी 'माँ' है।

श्रीसारदा देवी में जगद्वासियों ने मातृत्व का जो विकास देखा

था, उसकी कोई सीमा नहीं थी। उस समय भारतवर्ष में स्वतन्त्रता का संग्राम चल रहा था। एक दिन किसी देश-सेवक सन्तान से श्रीमाँ ने कातर-स्वर से कहा, "देखो, तुम भाई-भाई (विलायत के लोगों के साथ) आपस में चाहे जैसा आचरण करो, पर वे भी तो मेरी ही सन्तानें हैं!" उस विराट् भाव को हृदयंगम करने की शक्ति उक्त सेवक-सन्तान में नहीं थी, इसलिए वह निर्वाक् होकर बड़े विस्मय से श्रीमाँ के मुख की ओर ताकने लगा।

प्रथम विश्व-युद्ध के समय पति-पुत्रहीना रमणियों को देखकर श्रीमाँ का हृदय रो उठता था। जाति, धर्म या वर्ण की सीमित भावना उनके असीम प्रेम के मार्ग को अवरुद्ध नहीं कर पाती थी। सार्वजनीन मंगल-साधन के लिए उनके हृदय में सर्वदा मंगलमयी दीप-शिखा प्रज्वलित रहती थी।

किन्तु दैवी-मातृत्व का स्थान इससे भी बहुत ऊँचा है। उस दैवी-मातृत्व के विकास के निमित्त युगावतार की शक्तिरूपिणी † सारदा देवी का जगत् में आविर्भाव हुआ था, उन्होंने स्थूल देह धारण की थी। जगत् में उस दैवी-मातृभाव के प्रचार का भार सारदा देवी पर सौंपकर श्रीरामकृष्ण ने अपना शरीर छोड़ा। किन्तु श्रीरामकृष्ण के देहावसान के बाद श्रीसारदा देवी के लिए अपने अपार्थिव मन को साधारण भूमि में संलग्न रखना सम्भव नहीं हो रहा था। स्वरूप में लीन होने के लिए उनका मन असीम की ओर बराबर बढ़ता ही चला जा रहा था। इधर पुनः-पुनः दर्शन देकर श्रीरामकृष्ण उन्हें रोक रहे थे, युग-कार्य की पूर्ति के हेतु उन्हें नर-देह में बनाये रखने के लिए विविध प्रयत्न कर रहे थे। महामाया को मर्त्यलोक में आकर्षित कर रखने के लिए श्रीरामकृष्ण ने 'योगमाया' का सृजन किया। वह

---

† श्रीसारदा देवी के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण देव ने कहा था, "वह क्या ऐसी-वैसी है? वह मेरी शक्ति है।"

एक आश्चर्यजनक घटना है। यद्यपि तथाकथित पौराणिक युग की अलौकिक बातों को वास्तविक कहकर स्वीकार करने के लिए आज के वैज्ञानिक-युग में अधिकांश लोग तैयार नहीं हैं, फिर भी सत्य की मर्यादा के लिए इस प्रकार की अस्वीकार्य योजना का भी उल्लेख करने के लिए हम बाध्य हैं। श्रीमाँ के कथन से इस आश्चर्यजनक घटना का कुछ आभास मिलता है — "... ठाकुर का शरीर छूट जाने के बाद जब संसार की किसी भी वस्तु में मेरा मन नहीं लग रहा था, भीतर हाहाकार मचा हुआ था और मैं प्रार्थना करती थी, 'संसार में अब मेरे रहने से क्या होगा ?' — उस समय अकस्मात् एक दिन मैंने देखा कि लाल साड़ी पहने दस-बारह वर्ष की एक लड़की मेरे सामने घूम रही है। उसकी ओर संकेत करके ठाकुर बोले, 'इसे आश्रय बनाकर रहो, तुम्हारे पास कितनी ही सन्तानों का आगमन होगा।' यह कहकर वे अदृश्य हो गये। वह बालिका भी फिर कभी दिखाई नहीं दी। उसके बाद एक दिन ठीक इसी जगह पर (जयरामबाटी में) मैं बैठी हुई थी। छोटी-बहू उस समय पूरी पागल हो चुकी थी। वह बगल में कुछ कपड़े दबाकर उधर जा रही थी और उसके पीछे-पीछे राधू रोती-रोती घुटनों के बल चल रही थी। इस दृश्य को देखकर मेरा हृदय विचलित हो उठा। दौड़कर मैंने राधू को अपनी गोद में उठा लिया और मन-ही-मन सोचने लगी, 'इसका पिता जीवित नहीं है और माँ तो ऐसी पागल है। ऐसी दशा में यदि मैं इसकी देख-भाल न करूँ, तो और कौन करेगा ?' यह सोचकर ज्योंही मैंने उसे गोद में उठाया, उसी समय ठाकुर सामने दिखाई दिये। उन्होंने कहा, 'यही वह बालिका है, इसे आश्रय बनाकर रहो, यह 'योगमाया' है।' † यह कहकर वे अदृश्य हो गये।"

† २६ जनवरी, १९०० ई. को योगमायारूपी राधारानी का जन्म हुआ था। श्रीमाँ उसे प्यार से 'राधू' कहकर पुकारती थीं।

इस समय से लेकर देह-त्याग करने के पूर्व तक का श्रीमाँ का यह 'योगमायाश्रित' जीवन पूरा रहस्यमय है। 'योगमाया' का अवलम्बन कर उनका अपार्थिव मन मानो संसारी वन गया था। घोर-माया-वद्ध सांसारिक जीव-जैसा लीलामयी का तत्कालीन व्यवहार वास्तव में बहुत ही विस्मयजनक है। वह अभिनय भी इतना हू-ब-हू और सर्वांगसुन्दर हुआ था कि श्रीमाँ के त्यागी शिष्यों के हृदयों में भी, जो उन्हें साक्षात् जगदम्वा मानकर उनकी पूजा-आरावना करते थे, संशय उत्पन्न हो जाता था।

सावारण माया-वद्ध जीवों की भाँति श्रीमाँ के आचरणों को देखकर किसी संन्यासी के हृदय में महान् संशय उपस्थित हुआ। उन्होंने दो-एक वार श्रीमाँ से यह कहा भी था, "दिन-रात आप 'रावू, रावू, क्यों करती रहती हैं? रावू पर आपकी वड़ी आसक्ति है!" कुछ उदासीनता के साथ श्रीमाँ ने उत्तर दिया, "क्या करूँ, वेटा, आखिर हम लोग स्त्री ही ठहरीं। हम लोगों की यही दशा है।"

उक्त संन्यासी के हृदय में अविश्वास का अन्वकार और भी अविक घनीभूत हो उठा, इसलिए उन्होंने अन्य एक दिवस श्रीमाँ से कुछ उपेक्षा के साथ पुनः वही प्रश्न किया। किन्तु उस दिन श्रीमाँ का कण्ठ-स्वर वदल गया। कुछ उत्तेजित होकर वे वोलीं, "तुम इन वातों को क्या समझोगे? ... तुम जरा मेरे समान कोई दूसरी तो खोज दिखाओ?" तव संन्यासी-सन्तान को चेत हुआ। प्रकृति के लीलामंच पर अकस्मात् दृश्य-परिवर्तन की भाँति श्रीसारदा देवी के जीवन में प्रकाश एवं अन्वकार का यह पास-पास रहना वड़ा ही मनोरम

रावू जव अपनी माँ के गर्भ में थी, उसी समय श्रीमाँ के छोटे भाई अभयचरण की मृत्यु हो गयी। रावू की माँ का नाम सुरवाला था। शोक-तापों से उसका मस्तिष्क विकृत हो जाने के कारण वह 'पगली' नाम से प्रसिद्ध थी।

है। नित्य और लीला में जाना-आना उनके लिए कितना सहज था! अपना एक चरण सर्वदा के लिए नित्य में स्थापित कर वे मानो दूसरे चरण से लीला-नृत्य दिखा रही थीं; नित्य में अवस्थित होकर केवल हाथ बढ़ाकर लीलाभिनय कर रही थीं।

खाते-पीते, उठते-बैठते हर समय राधू! वे पल-भर के लिए भी राधू को अपनी आँखों से ओझल नहीं करती थीं। बूआ को राधू 'माँ' कहकर पुकारती और अपनी माँ को 'मुंडी-माँ' कहती थी, क्योंकि पगली सुरबाला ने अपना सिर मुँड़ा डाला था। महामाया मानो अपनी ही माया में बँध गयी थी। इस राधू के प्रति माँ का कितना स्नेह था, कितना लाड़-प्यार था!

इधर राधू की पगली-माँ के मन में यह धारणा दृढ़ हो गयी थी कि श्रीमाँ ने ही राधू को वशीभूत करके उससे दूर कर रखा है। इसलिए पगली श्रीमाँ को फूटी-आँखों भी न देख सकती थी। किसी बहाने दो-चार कड़ी बातें माँ को सुनाने का मौका मिलने पर उसे खुशी होती थी। कभी-कभी कहती, "तुम्हारे तो और भी भौजाइयाँ हैं, उनके किसी लड़के-बच्चे को क्यों नहीं पकड़तीं, मेरी लड़की को फांसने के लिए ही क्या तुम्हारा जन्म हुआ था?" और उसके साथ कितनी गाली-गलौज! श्रीमाँ के मुख के पास हाथ ले जाकर हाथों को नचाती हुई, वह छन्द बना-बनाकर गाली बकती थी। श्रीमाँ चुपचाप सब कुछ सहन कर लेती थीं। उसके इस प्रकार के आचरण से असन्तुष्ट हो एक दिन श्रीमाँ ने दृढ़ता के साथ कहा, "तू मुझे साधारण मत समझना। तू यह जो मुझे इतनी माँ-बाप की गाली देती है, मैं यह मानकर कि चलो ये आखिर दो-चार शब्द ही तो हैं, तेरा कोई अपराध नहीं मानती।" यह सुनते ही संकुचित हो धीमे स्वर से पगली कहने लगी, "देखो तो, माँ-बाप का नाम लेकर मैंने कब गालियाँ दीं!"

श्रीमाँ बोलीं, "यदि मैं तेरे अपराधों पर ध्यान दूँ, तो फिर

तेरी क्या रक्षा हो सकती है ? मैं जितने दिन हूँ, तेरा ही भला होगा। तेरी लड़की तेरी ही रहेगी। जब तक वह बड़ी नहीं हो जाती, तभी तक मैं हूँ। नहीं तो मेरा क्या ? मैं तो अभी ही सारी माया काट सकती हूँ। कपूर की तरह कब मैं एक दिन उड़ जाऊँगी, तुझे पता तक न चलेगा।" माँ की बातें सुन पगली मुँह फेरकर चुपचाप भलीमानस-जैसी चली गयी।

फिर भी पगली सुरवाला के प्रति श्रीमाँ की कितनी ममता थी ! एक समय अपने तथा राबू के गहनों को लेकर पगली मायके गयी थी। उसके पिता ने उसे भुलावा देकर सब गहने ले लिये। इससे वह और भी अधिक उत्तेजित हो उठी। वहाँ से जयरामवाटी लौटकर वह सिंह-वाहिनी के मन्दिर में जाकर रोती हुई कहने लगी, "माँ, मेरे गहने लौटा दो।" सन्ध्या का समय था। श्रीमाँ उस समय अपने कमरे में बैठकर एक भक्त के साथ बातें कर रही थीं। पगली के रोने की आवाज उनके कानों तक पहुँची। वे व्यग्र हो उठीं। "आती हूँ, बेटा। उसके तो मुझको छोड़ और कोई नहीं है। पगली सिंहवाहिनी के पास गहनों के लिए रो रही है।"—यह कहकर वे तत्काल मन्दिर में पहुँचीं और उसे सान्त्वना देकर अपने साथ घर ले आयीं।

पर पगली कहने लगी, "ननदजी, तुम्हीं ने मेरे गहने अटका रखे हैं, तुम मुझे देना नहीं चाहतीं।" श्रीमाँ बोलीं, "मेरे पास होते, तो मैं अभी उन्हें काक-विष्ठा की तरह फेंक देती !" पगली की बातों को सुनकर श्रीमाँ ने हँसते हुए कहा, "गिरिशबाबू कहते थे कि यह माँ के साथ रहनेवाली पगली है।" तभी तो इतने कष्ट पाकर भी पगली को वे अपने पास से पृथक् नहीं करती थीं। बाद में बड़े झंझट से उन्होंने पगली के पिता के हाथ से उन गहनों को निकाला था।

कभी-कभी पगली के भावों में आमूल परिवर्तन हो जाता था। उस समय श्रीमाँ के प्रति उसकी आन्तरिकता और श्रद्धा को देखकर

सब कोई विस्मित हो उठते थे। सन् १९१३ ई. की घटना है। उस समय श्रीमाँ जयरामबाटी में थीं। राधू अस्वस्थ थी। श्रीमाँ उसके समीप बैठकर बड़े स्नेह-यत्न के साथ उसे दूध पिला रही थीं। राधू की पगली-माँ भी उस समय वहाँ राधू के पास आकर बैठ गयी। किन्तु उसके आते ही राधू बड़ी असन्तुष्ट हो गयी। यह देखकर श्रीमाँ ने पगली के शरीर पर हाथ रखकर उसे हट जाने के लिए कहा। उस समय अकस्मात् उनका हाथ उसके पैर से छू गया। इससे पगली बड़ी विचलित हो चिल्ला उठी, "तुमने मेरे पाँव पर अपना हाथ क्यों रखा? अब मेरा क्या होगा?" पगली के इस आचरण से श्रीमाँ जोर से हँसने लगीं। पास में जो सेवक-ब्रह्मचारी खड़े हुए थे, उन्होंने यह मजा देखकर कहा, "इधर तो माँ को गालियाँ दिये बिना, उनका अपमान किये बिना पगली के मुँह में पानी नहीं जाता, और उधर पाँव में हाथ लग जाने के कारण अब इतनी घबड़ा उठी है।"

"बेटा, रावण क्या जानता नहीं था कि राम पूर्णब्रह्म नारायण हैं और सीता आद्याशक्ति जगन्माता हैं? फिर भी वह वैसा करने आया था। वह (पगली) क्या मुझे नहीं जानती? उसे सब मालूम है, फिर भी यही करने आयी है।"—यह कहते-कहते माँ के अधरों पर मृदु-मधुर हँसी खेल उठी। पगली को यह विदित था कि माँ कौन हैं और श्रीमाँ भी यह जानती थीं कि पगली का आगमन क्यों हुआ है। यहाँ पर यह उक्ति चरितार्थ की जा सकती है कि 'जटिला-कुटिला के बिना लीला की पुष्टि नहीं होती'। श्रीमाँ यदि इस प्रकार योगमाया के द्वारा आच्छादित न होतीं, तो उनके चित्त को जीव-भूमि पर कौन आकर्षित कर रखने में समर्थ होता?

श्रीमाँ का इस प्रकार मायिक व्यवहार देखकर बहुत से लोग नाना प्रकार की कल्पनाएँ करने लगे थे। भाई, भौजाई, भतीजे, भतीजी आदि को लेकर मानो वे संसार में विशेष रूप से आबद्ध हो गयी थीं।

योगीन-माँ श्रीरामकृष्ण की अन्तरंग भक्त थीं। उन पर श्रीरामकृष्ण ने बहुत कृपा की थी। फिर इधर उन्हें श्रीमाँ के साथ घनिष्ठ रूप से मिलने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ था; उन्होंने माँ की कितनी ही भाव-समाधियाँ देखी थीं। श्रीमाँ से उन्हें अजस्र स्नेह-ममता मिली थी। माँ प्यार से उन्हें 'बेटी योगेन' कहकर पुकारती थीं। उन योगीन-माँ के मन में भी श्रीमाँ का यह घोर आसक्त-जीवन देखकर महान् संशय उपस्थित हुआ। वे भी यह सोचने लगीं—'कहाँ ठाकुर और कहाँ माँ! ठाकुर ऐसे त्यागी थे, और माँ तो घोर संसारी दिखती हैं। भाई, भतीजे और भतीजियों को लेकर ही व्यस्त हैं।' एक दिन वे गंगा के किनारे ध्यान कर रही थीं। अकस्मात् श्रीरामकृष्ण आविर्भूत होकर कहने लगे, "देखो, गंगा में क्या उतरा रहा है?" गंगा पर दृष्टि डालते ही योगीन-माँ ने देखा कि नाड़ियों से लिपटा हुआ एक नवजात शिशु पानी में उतराता हुआ चला जा रहा है। उसको दिखाते हुए श्रीरामकृष्ण बोले, "क्या गंगा इससे अपवित्र होती है, उसे क्या किसी प्रकार का स्पर्श-दोष होता है? उसे (श्रीमाँ को) भी इसी प्रकार जानना, उस पर कभी सन्देह न करना। उसे और इसे (अपने को दिखाते हुए) अभिन्न समझना।"

तत्क्षण गंगातट से लौटकर योगीन-माँ श्रीमाँ को प्रणाम कर उनके चरणों को पकड़कर कहने लगीं, "माँ, मुझे क्षमा करो।" श्रीमाँ ने स्नेहपूर्वक पूछा, "क्यों योगेन, क्या बात है?" तब योगीन-माँ ने सारा वृत्तान्त उन्हें सुनाकर कहा, "तुम पर सन्देह होने लगा था। सो ठाकुर ने आज मुझे यह दिखा दिया।" श्रीमाँ बालिका की तरह हँसने लगीं और स्नेह-भरे स्वर से बोलीं, "उससे क्या? अविश्वास होना तो स्वाभाविक है। कभी संशय होगा, फिर विश्वास भी होगा। इसी प्रकार से तो विश्वास होता है! ऐसा होते-होते विश्वास पक्का हो जाता है।" स्वयं श्रीरामकृष्ण यदि श्रीमाँ के सम्बन्ध में न बतलाते,

तो संसार उनके सम्बन्ध में न तो कुछ जानता, न समझता।

माया के परदे की आड़ में रहकर श्रीसारदा देवी ने मानवी-रूप से जो आदर्श उपस्थित किया है, वह समग्र संसार के नारी-समाज की श्रेष्ठतम आशा-आकांक्षा की सम्पूर्तिस्वरूप है। इतना ही नहीं, सारे नारी-समाज के प्राचीन आदर्शों की महिमा से बहुत ऊँचा उठकर उस आदर्श ने अपनी उज्ज्वल कान्ति से दीप्तिमान् हो नारी-जीवन के माधुर्य को और भी अधिक महिमान्वित किया है।

श्रीसारदा देवी ने संसार को पूरे रूप से ग्रहण किया था। 'संसार' शब्द से हम जो कुछ समझते हैं, वह पूरा-का-पूरा हम उनके जीवन में पाते हैं। एक दिन उन्होंने अपनी भौजाई से कहा था, "तुम लोग दो-एक बाल-बच्चों से ही घबड़ा उठती हो और मुझे तो सैकड़ों सन्तानों की देख-भाल करनी पड़ रही है!"

अपनी और एक भौजाई इन्दुमति से भी उन्होंने गर्व के साथ कहा था, "अरी, मुझे अपनी सन्तानों से किसी प्रकार दुःख पाने की कोई सम्भावना नहीं है। यदि एक साथ मेरी सौ सन्तानें भी उपस्थित हों, तो भी मैं सबको सँभाल सकती हूँ।" सो श्रीमाँ वह कर सकती थीं। उस समय मानो वे अपनी 'सहस्र बाहुओं' से काम करती थीं। फिर भी आश्चर्य की बात तो यह थी कि सब कोई सोचते कि माँ मुझे ही सबसे अधिक प्यार करती हैं। जिसको जो वस्तु प्रिय रहती, माँ उसको वही देतीं। विस्मय-विमूढ़ हो वह सोचने लगता कि उन्हें मेरी प्रिय वस्तु का पता कैसे चला? कोई खजूर के गुड़ से बनी हुई खीर खाना पसन्द करते, श्रीमाँ उन्हें वही खीर खिलातीं। कोई पान अधिक खाते, उन्हें दोना भरके पान देतीं, और साथ ही दाँत खरोंचने की सींक तक भी!

एक समय एक भक्त मुरमुरा खाते-खाते सोच रहा था — अहा, इसके साथ अगर नरम-नरम ककड़ी मिल जाती, तो क्या अच्छा होता!

इतने में माँ ठाकुर की प्रसादी नरम-नरम ककड़ी लेकर आयीं और भक्त की थाली पर रखते हुए कहा, "खाओ।"

दयामयी-रूप से उनके संसार की परिधि बहुत विशाल थी। परिजन-वर्ग, पड़ोसी, दीन-दुःखी, पतित तथा और भी विभिन्न परिस्थितियों में उनके दैवी-जीवन की दिव्य लीलाएँ वास्तव में बहुत ही अद्भुत थीं। कठिन जीवन-संघर्ष में प्रत्येक अवस्था का उन्होंने हर्ष के साथ सामना किया। इतनी प्रतिकूल अवस्थाओं में भी उनके जीवन का महत्त्व सर्वत्र निखर उठा था। वे संसार-जल में पद्मपत्र की भाँति तैरती रहती थीं; उत्ताल तरंगों के आघातों से भी न तो वे डूबती थीं और न भीगतीं ही, सदा वैराग्य-सौरभ से भरपूर रहती थीं। इस संसार में ऐसी पूर्ण साधना भला और किसने की है? और वह भी सब कुछ त्यागकर नहीं, वरन् सारी अवस्थाओं को अंगीकार कर। निर्लिप्त हृदय से उन्होंने सब कुछ ग्रहण किया था। त्याग के उच्चतम शिखर पर आरूढ़ रहकर संसार में रहते हुए वे दिव्य साधना दिखा गयीं।

स्वामी प्रेमानन्दजी ने श्रीमाँ की सांसारिक जीवनचर्या के माधुर्य के बारे में कहा है—"...राजराजेश्वरी स्वयं अपनी इच्छा से भिखारिन बनकर घर लीप रही हैं, बरतन माँज रही हैं, चावल चुन रही हैं, यहाँ तक कि भक्त-सन्तानों की जूठन तक उठा रही हैं। गृहस्थों को गार्हस्थ्य-धर्म की शिक्षा प्रदान करने के निमित्त जयरामबाटी में रहकर माँ इतने कष्ट उठा रही हैं। उनमें असीम धैर्य है, अपार करुणा है, और सर्वोपरि, है नितान्त निरभिमानता!" उन्होंने इतना कष्ट स्वीकार क्यों किया?—केवल यह दिखाने के लिए कि संसार-जल में किस प्रकार तैरते हुए रहा जा सकता है।

श्रीमाँ जयरामबाटी में भक्त-सन्तानों को बिठाकर तृप्तिपूर्वक भोजन करा रही थीं। आनन्द से उनकी आँखें उज्ज्वल हो उठीं।

भोजन के उपरान्त ज्योंही वे लोग अपनी जूठी पत्तलों को उठाने लगे कि माँ बोलीं, "रहने दो, पत्तलें न उठाओ, उन्हें उठाने के लिए और लोग हैं।" भक्तों ने सोचा कि नौकर-चाकर होंगे। इसलिए जूठन रखकर वे उठ खड़े हुए। किन्तु 'लोग हैं' इसका अभिप्राय स्वयं श्रीमाँ से ही था। वे सबकी जूठन साफ करती थीं। पर पड़ोस की महिलाओं को यह न सुहाता था। वे मुँह मटकाकर कहतीं, "तुम्हारा जन्म ब्राह्मण-कुल में हुआ है, तुम 'गुरु' हो और ये सब तुम्हारे शिष्य हैं, तुम इनकी जूठन क्यों उठाती हो? इससे तो उन लोगों का अमंगल ही होगा।" मंगलरूपिणी श्रीमाँ उनकी बातें सुनकर गर्व के साथ उच्च-स्वर से कह उठतीं, "अरी, मैं इनकी माँ जो हूँ! यदि माँ इन कामों को न करेगी, तो और कौन करेगा?" हाँ, वे तो सबसे पहले 'माँ' हैं; बाद में भगवती, गुरु, ब्राह्मण इत्यादि।

श्रीमाँ का वैशिष्ट्य कहाँ है? — आत्मगोपन और अहं-नाश में। श्रीमाँ अपने को चारों ओर से इस प्रकार आच्छादित कर रखती थीं कि उस आवेष्टन को भेदकर अधिकांश लोगों की दृष्टि उनके स्वरूप तक नहीं पहुँच पाती थी। साथ-ही-साथ उनका जीवन एकदम साधारण और आडम्बरशून्य था। अतः इस प्रकार उन्हें संसार में आबद्ध देखकर लोगों का भ्रमित हो जाना स्वाभाविक था। श्रीरामकृष्ण देव के जीवन में फिर भी भाव-समाधि थी, सात्त्विक ऐश्वर्य का किंचित् प्रकाश था। किन्तु श्रीमाँ उन दैवी-सम्पदों के बाह्य-प्रकाश को भी दबा लेती थीं। स्वामी प्रेमानन्दजी का कथन है, "शक्तिस्वरूपिणी होने के कारण उनमें दबा लेने की शक्ति भी असीम है। ठाकुर प्रयत्न करने पर भी दबा नहीं पाते थे, बाहर प्रकाश हो ही जाता था। माँ की भाव-समाधियों का क्या किसी को पता तक लगता है?" फिर भी अपने स्वरूप के सम्बन्ध में श्रीमाँ किसी-किसी के समक्ष कभी थोड़ा-बहुत प्रकट कर देती थीं। एक दिन जयरामवाटी में किसी ब्रह्मचारी-

सन्तान ने अपने सन्देह के निराकरण के लिए श्रीमाँ से पूछा, "माँ, ठाकुर को लोग जो पूर्णब्रह्म-सनातन कहते हैं, इस सम्बन्ध में तुम्हारा क्या कहना है ?"

श्रीमाँ ने स्वाभाविक रूप से उत्तर दिया, "हाँ, मेरे लिए वे पूर्णब्रह्म सनातन हैं।"

भक्त का संशय और भी बढ़ गया। उन्होंने कहा, "सो तो हर एक पत्नी के लिए उसका पति पूर्णब्रह्म-सनातन है। मेरा पूछने का आशय यह नहीं है।"

उसी प्रकार स्वाभाविक रूप से श्रीमाँ पुनः बोलीं, "हाँ, वे पूर्णब्रह्म-सनातन हैं — पति-रूप से भी और ऐसे भी।"

तब तो श्रीमाँ का रूप धारण कर स्वयं जगदम्बा का ही आविर्भाव हुआ है—जैसे, सीता-राम, राधा-कृष्ण ? इसी भावना से प्रेरित हो भक्त ने फिर पूछा, "तो फिर यह जो तुम साधारण नारी की तरह बैठी हुई रोटी बेल रही हो, यह क्या है ? क्या यह माया है ?"

यह सुनकर श्रीमाँ का मुखमण्डल दिव्य गाम्भीर्य से दमक उठा। उन्होंने कहा, "माया ही तो है। माया न होती, तो मेरी दशा ऐसी क्यों होती ? वैकुण्ठ में नारायण के समीप में लक्ष्मी होकर बैठी रहती।" अनन्तर कुछ सहज स्वर में कहने लगीं, "भगवान नर-लीला करना पसन्द करते हैं न। तभी तो कृष्ण का जन्म ग्वाले के घर पर हुआ था और रामचन्द्र दशरथ के पुत्र हुए थे।"

जयरामबाटी के चौकीदार का नाम था अम्बिका। वह जाति का अछूत था। राम मुखर्जी के घर पर सारदा का जन्म, पागल जमाई के साथ उसका विवाह, विवाह के कुछ वर्षों के उपरान्त उसका विधवा होना तथा जयरामबाटी में उसका पुनः वापस आना — ये सारी घटनाएँ उसकी आँखों के सामने हुईं। तदनन्तर जयरामबाटी में क्रमशः जब दूर-दूर से लोग आकर सारदा को जगदम्बा मानकर पूजने लगे, तो

यह देखकर अम्बिका के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। एक दिन उसने श्रीमाँ से पूछा, "बहिन, लोग तुम्हें देवी भगवती और न जाने क्या-क्या कहते हैं! पर मुझे तो कुछ समझ में नहीं आता?"

उसकी इस बात को सुनकर बालिका की भाँति हँसते हुए श्रीमाँ ने कहा, "तुम्हें इन बातों को समझने का काम नहीं। तुम तो मेरे वही अम्बिका दादा हो और मैं तुम्हारी सारदा बहिन हूँ।"

क्या अम्बिका के लिए वह सब समझने की आवश्यकता रही? भगवती उस पर प्रसन्न हो चुकी थीं। कहा जाता है कि 'श्यामा-माँ यदि फिरकर देखे, सदानन्द-सुख-सागर तैरे।' पर यहाँ तो केवल फिरकर देखना मात्र नहीं है, उस पर तो श्यामा की सस्नेह दृष्टि पड़ चुकी थी। तब फिर उसके लिए बाकी ही क्या रहा?

जयरामवाटी में कैसे वातावरण में श्रीमाँ को रहना पड़ता था! — मानो श्मशानवासिनी के चारों ओर डाकिनी-योगिनियों और शृगालियों का जमघट लगा हो! अद्भुत स्वभाववाले आत्मीयों, परिजनों और पड़ोसियों के बीच उन्हें अपने दिन बिताने पड़ते थे। कलुषित मनोवृत्ति, छोटी-छोटी लालसाएँ और घोर स्वार्थ में ही वे लोग मग्न रहते थे, और श्रीमाँ उन्हीं के बीच मानो बँधी-सी रहती थीं। चिर-कल्याणमय श्रीरामकृष्ण जिस प्रकार पानी पीने की तुच्छ वासना का अवलम्बन कर जीव-कल्याणार्थ समाधि से साधारण भूमि पर अवतरित होते थे, मोक्षदायिनी श्रीमाँ भी उसी प्रकार 'राधू'-रूप योगमाया का आश्रय ले अपने अप्राकृत मन को आवृत करके अमृतमयी प्रशान्ति की भाँति जागतिक भूमि पर अवस्थान करती थीं।

कभी-कभी अपने स्वरूप के सम्बन्ध में श्रीमाँ थोड़ा-बहुत संकेत भी किया करती थीं, जिससे इस बात का पता चलता था कि 'राधू' का अवलम्बन कर क्यों उन्होंने अपने चित्त को मायाच्छन्न कर रखा है। एक दिन कुछ इधर-उधर की चर्चा करने के पश्चात् श्रीमाँ

बोलीं, "देखो, सब कोई कहते हैं कि मैं 'राधू-राधू' करती रहती हूँ — उस पर मेरी बहुत ही आसक्ति है! यदि यह आसक्ति न होती, तो ठाकुर का शरीर चला जाने पर यह शरीर भी नहीं रहता। उन्होंने अपने काम के लिए ही राधू के बहाने इस शरीर को रखा है। जिस दिन उसकी ओर से मेरा मन हट जायगा, उस दिन फिर यह शरीर न रहेगा।" श्रीमाँ की यह उक्ति किस प्रकार अक्षरशः सत्य हुई थी, इसका परिचय हमें क्रमशः प्राप्त होगा।

इस एक ही 'माया' का प्रकाश नाना प्रकार से, नाना रूपों से हुआ था। दया और विगलित-स्नेह उसी की अभिव्यक्तियाँ हैं। यह माया-अवलम्बन यदि न रहता, तो 'जीवत्राण'-रूप महान् कार्य कभी पूर्ण न हो पाता। भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में उनका यह जो कन्या, भगिनी, जाया, पड़ोसिन, माता एवं गुरु-रूप में तथा दया, करुणा, सेवा, सान्त्वना, स्नेह-ममता, भक्ति, मुक्ति एवं कृपामयी के रूप में अगणित नर-नारियों के सम्मुख विकास हुआ था, उस सबसे सभी को वंचित रहना पड़ता। और सर्वोपरि, यह जो कहा जाता है कि 'श्रीमाँ भारतीय नारियों के आदर्श के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण की अन्तिम वाणी हैं' — उससे, अर्थात् श्रीमाँ के अन्तर्जीवन की स्वर्गीय सौरभ-सुषमा से जगद्वासी अपरिचित ही रह जाते।

श्रीरामकृष्ण देव का जीवन ऐसे ऊँचे स्वर में बँधा था कि उससे स्वरैक्य होना साधारण मनुष्यों के लिए सम्भव नहीं था। त्याग, पवित्रता, उच्च आध्यात्मिक अनुभूति तथा भाव, महाभाव आदि सभी विषयों में वे इतने महान् थे कि साधारण लोग उनकी धारणा तक नहीं कर पाते थे। श्रीभगवान में उनकी इस प्रकार निरन्तर अवस्थिति थी कि वहाँ से रंच-भर भी नीचे उतरना उनके लिए असम्भव-सा होता था। उनका जीवन मानो सूर्य की तीव्र किरणों की भाँति आँखों को चौंधिया देनेवाला था। इसी लिए वे अपने साथ चन्द्रमा की स्निग्ध

ज्योत्स्ना-सदृश एक ऐसा जीवन लाये थे, जिसमें सभी स्तर के मनुष्य पूर्णता देख पाते थे, जो सबकी पहुँच के भीतर था। वह जीवन इतना सहज-सरल था कि संन्यासी-गृहस्थ, बालक-बालिका, ऊँच-नीच, पवित्र-अपवित्र, लँगड़े-लूले, दुर्बल-सबल, यहाँ तक कि समस्त देशों के सभी स्तर के लोग उससे अपने परम आत्मीय के समान, अपने अन्तरंग जन की भाँति निकटता अनुभव कर सकते थे।

श्रीरामकृष्ण विषयी व्यक्तियों की हवा तक सहन नहीं कर सकते थे, उनकी छाया स्पर्श करना भी उनके लिए सम्भव नहीं था। देवी-मन्दिर में देवताओं के सान्निध्य में ही उनका सारा जीवन व्यतीत हुआ था। किन्तु श्रीसारदा देवी एक ओर जिस प्रकार श्रीरामकृष्ण-रूप देवता की सेवा में संलग्न रहती थीं, निर्विकल्प समाधि में डूब जाती थीं, भावावेश में कभी हँसती और कभी रोती थीं, आत्मानन्द में विलास करती थीं, उसी प्रकार दूसरी ओर वे आनन्दपूर्वक आत्मीय-स्वजन, पागल-पगली, अड़ोस-पड़ोस, संसार-पंक में निमग्न आर्त-दुःखी, सबकी देख-भाल भी करती थीं। वे नाना प्रकार के लोगों के बीच निर्विकार चित्त से रहा करती थीं। करुणाविगलित स्वर्गीय मन्दाकिनी की भाँति वे सबको पवित्र और निर्मल बना देती थीं — मुक्ति का मार्ग बतलाकर सबके जीवन को धन्य कर देती थीं। कल्याणरूपिणी के पुनीत स्पर्श से सब कोई इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण प्राप्त कर रहे थे।

श्रीरामकृष्ण एक आदर्श संन्यासी थे। किन्तु श्रीसारदा देवी के जीवन में संन्यास एवं संसार का अपूर्व सम्मिश्रण था। श्रीरामकृष्ण रुपयों का स्पर्श तक नहीं कर सकते थे, उनके हाथ अकड़ जाते थे। किन्तु श्रीमाँ रुपयों को लक्ष्मी मानकर उन्हें अपने मस्तक से स्पर्श करती थीं। अर्थ ही समस्त अनर्थों का मूल है — इस बात को श्रीरामकृष्ण की तरह वे भी भलीभाँति जानती थीं। श्रीरामकृष्ण की

दृष्टि में सभी वस्तुएँ मिथ्या थीं, जगत् को भी वे मिथ्या ही मानते थे। एक बार उन्होंने कहा था, "अरे रामलाल, यदि यह जगत् सत्य होता, तो मैं तेरे कामारपुकुर को सोने से मढ़वा देता! पर मैं जानता हूँ कि सब कुछ मिथ्या है, एकमात्र भगवान ही सत्य हैं।" किन्तु सारदा देवी के व्यवहार को देखकर ऐसा प्रतीत होता था, मानो उनके समीप सब कुछ सत्य है। यद्यपि ये दोनों जीवन ऊपरी दृष्टि से परस्पर-विरोधी दिखाई देते हैं, फिर भी वेद एवं उसके भाष्य की तरह वे एक दूसरे के पूरक हैं। असीम के तट पर दोनों मानो एक दूसरे की बगल में बैठे हुए हैं।

'अद्वैत ज्ञान को आँचल में बाँधकर' संसार में कैसे रहा जाता है, श्रीसारदा देवी का जीवन इसका ज्वलन्त उदाहरण है। श्रीरामकृष्ण का उपदेश है — "शिव-बुद्धि से जीवों की सेवा करनी चाहिए।" अपने समग्र जीवन के द्वारा श्रीमाँ ने उक्त वेद-वाक्य की भाष्य-रचना की। सेवा के माध्यम से ही उनकी 'परानुरक्ति' का परिचय मिलता है। कन्या, भगिनी, जाया तथा जननी-रूप से उन्होंने अलग-अलग लोगों की सेवा की, और उस सेवा का विकास मानवी, देवी तथा गुरु-रूप से भी हमें देखने को मिलता है।

* * * *

एक दिन बागबाजार में रहते समय किसी महिला-भक्त की ओर देखते हुए श्रीमाँ ने कहा, "ठाकुर की कैसी अपूर्व लीला है, बेटी! देखो न, मुझे कैसा अद्‌भुत मातृ-वंश दिया है? कैसी बुरी सोहबत है, देखो न? एक तो पगली ही है, दूसरी भी पगली होने जा रही है। और यह देखो एक और। हाय, किसे पाल-पोसकर बड़ा किया, बेटी! उसके इतनी भी अकल नहीं है।... उसके ऐसी आसक्ति होगी, यह मैं नहीं जानती थी।" यह सुनकर उनके समीप जो आत्मीया बैठी हुई थी, वह मुँह फुलाकर चली गयी। श्रीमाँ पुनः उस महिला-

भक्त से कहने लगीं, "कितने सौभाग्य से यह मनुष्य-जन्म मिलता है, निरन्तर भगवान का स्मरण करते रहो। परिश्रम करना चाहिए, परिश्रम के बिना कुछ भी नहीं होता। संसार के काम-काज के बीच ही भजन के लिए समय निकाल लेना पड़ता है।"

वास्तव में श्रीमाँ के वंश के सभी लोगों का जन्म मानो 'योगमाया' के अंश से हुआ था! भाइयों का आचरण उनके नीच मन और रुचि के ही अनुरूप था। उन्हें सर्वदा रुपयों की ही चिन्ता बनी रहती थी। एक दिन श्रीमाँ ने बहुत असन्तुष्ट होकर भाइयों के सम्बन्ध में कहा था, "वे तो रुपयों के सिवा और कुछ भी नहीं जानते, दिन-रात 'पैसा-पैसा' करते रहते हैं। भूलकर भी कभी उन्होंने ज्ञान-भक्ति पाने की इच्छा नहीं की। ठीक है, जिसकी जो इच्छा है, वही ले!"

श्रीमाँ के ईश्वरीय-जीवन को देखकर कभी-कभी भाइयों को आश्चर्य होने लगता। एक दिन प्रसन्न ने आकर श्रीमाँ से कहा, "दीदी, मैंने सुना है कि तुमने किसी को स्वप्न में दर्शन देकर मन्त्र-दीक्षा दी है और यह भी कहा है कि उसकी मुक्ति होगी। तो फिर हम क्या सदा ऐसे ही रहेंगे, हमारा लालन-पालन तो तुमने स्वयं ही किया है?" यह सुनकर श्रीमाँ कुछ दुविधा में पड़ गयीं। गम्भीर स्वर से उन्होंने उत्तर दिया, "ठाकुर जो करेंगे, वही होगा। और देख, श्रीकृष्ण ने ग्वाल-बालों के साथ कितना खेला-कूदा था, हँसी-मजाक किया था, उनकी जूठन तक खायी थी, पर क्या वे लोग कृष्ण को पहचान पाये थे?" यह सुनकर प्रसन्न निरुत्तर हो गये।

जयरामबाटी में स्वजनों के अत्याचार से विरक्त होकर श्रीमाँ ने एक दिन कहा था, "देखो, तुम लोग मुझे अधिक परेशान न करो। इस शरीर के अन्दर जिनका निवास है, उनके एक बार नाराज हो जाने पर फिर ब्रह्मा, विष्णु, महेश — कोई भी तुम्हारी रक्षा न कर सकेंगे।"

नारी-रूपी श्रीमाँ के अन्दर जिनका निवास था, उन देवी ने अपनी ईश्वरीय-शक्ति से जिस प्रकार जीवोद्धार और जीव-कल्याण किया था, जगद्वासियों को भला उसका ज्ञान ही कितना है ? उस सम्वन्ध में जो दो-चार घटनाएँ लोगों को विदित हैं, उनकी आलोचना से ही आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता। ऐसा प्रतीत होता है, मानो हम पौराणिक युग में वस रहे हैं और मनुष्यों के साथ देव-देवियों की लीला हो रही है !

गिरिशवावू के जीवन की घटनाओं पर पहले ही प्रकाश डाला जा चुका है। उससे भी कहीं अधिक रोमांचकारी एक घटना का हम यहाँ उल्लेख करना चाहते हैं।

सन् १८९८ ई. की वात है। धार्मिक-जीवन प्राप्त करने के हेतु श्रीसुरेन्द्रकुमार सेन स्वामी विवेकानन्दजी के समीप आने-जाने लगे थे। उस समय स्वामीजी अमेरिका से लौटे ही थे। कुछ दिन तक ऐसा चलता रहा। प्रार्थी का आग्रह देख स्वामीजी ने दीक्षा देना स्वीकार कर लिया। तिथि निर्धारित की गयी। उस दिन दीक्षा लेने के लिए प्रस्तुत होकर सुरेनवावू आलमवाजार मठ में उपस्थित हुए। स्वामीजी पूजा-गृह में प्रविष्ट हो ध्यानमग्न हुए। ध्यान समाप्त होने पर स्वामीजी ने उनको वुलाकर कहा, "देख, ठाकुर कह रहे हैं कि मैं तेरा गुरु नहीं हूँ। उन्होंने मुझे यह दिखा दिया कि जो तुझे दीक्षा देंगे, वे मुझसे भी कहीं श्रेष्ठ हैं। तू हताश न हो, समय आने पर सव ठीक हो जायगा।"

यह सुनकर सुरेनवावू वड़े दुःखित हुए और मन-ही-मन सोचने लगे कि मुझे अयोग्य समझकर स्वामीजी ने कृपा नहीं की। भला उनसे वड़ा और कौन हो सकता है ?

इस घटना के कुछ दिन वाद सुरेनवावू जहाँ कार्य करते थे, वहाँ एक रात उन्होंने स्वप्न देखा कि वे श्रीरामकृष्ण की गोद में वैठे हुए हैं। ऐसे समय एक ज्योतिर्मयी देवी-मूर्ति उनके सम्मुख प्रकट हुई

और उससे कहने लगीं, "लो, मन्त्र लो।" यह सुनकर सुरेनबाबू बोले, "अब तो मैं ठाकुर की गोद में हूँ; अब मन्त्र से क्या करना है? मुझे मन्त्र-तन्त्र की कोई आवश्यकता नहीं है।" फिर भी देवी जब विशेष आग्रह करने लगीं, तब उन्होंने पूछा, "तुम कौन हो?" शान्त-स्मित दृष्टि से भक्त की ओर देखते हुए देवी-मूर्ति ने कहा, "मैं सरस्वती हूँ।" और यह कहकर उन्होंने मन्त्रोच्चारण किया।

मन्त्र प्राप्त कर पुनः सुरेनबाबू ने प्रश्न किया, "इस मन्त्र से क्या होगा?" उत्तर मिला, "कवि बन सकेगा।"

सुरेनबाबू कह उठे, "कवि? मैं कवि नहीं होना चाहता।" देवी के दीप्त कण्ठ से ध्वनित हो उठा, "कवि किसे कहते हैं, जानता है? कवि का अर्थ है ज्ञानी।" फिर देवी ने किस प्रकार मन्त्र-जप करना होगा यह बता दिया।

इस घटना के बाद सुरेनबाबू ने मठ में जाकर स्वामीजी से उक्त स्वप्न-वृत्तान्त की चर्चा की। सुनते ही स्वामीजी बहुत आनन्दित होकर कह उठे, "ठाकुर कहते थे कि देव सम्बन्धी स्वप्न सत्य होते हैं। इसी को स्वप्न-सिद्धि कहते हैं। इस मन्त्र के जपने से ही तेरा सब कुछ हो जायगा। और कुछ करने की जरूरत नहीं।"

किन्तु इतने पर भी सुरेनबाबू सोचने लगे कि स्वामीजी टालना चाहते हैं। उन्हें स्वप्न में विश्वास नहीं था। वे जीवित देवता की कृपा प्राप्त करना चाहते थे। स्वामीजी उनका मनोभाव भाँपकर बोले, "...इस समय धारणा बना ले। वास्तव में इस घटना को सत्य ही समझना। इस मन्त्र को जपते रह। बाद में उस मन्त्रदात्री देवी को तू साक्षात् देख सकेगा। वे 'बगला' की अवतार हैं, सरस्वती-रूप से इस समय आविर्भूत हुई हैं।... विश्वास हो या न हो, पर मन्त्र का जप करते रहना। अवश्य कल्याण होगा।" फिर भी सुरेनबाबू ने एक दिन भी उस मन्त्र का जप नहीं किया।

इस घटना के लगभग बारह वर्ष बाद सुरेनबाबू के मन में कामारपुकुर और जयरामबाटी के दर्शन की तीव्र अभिलाषा हुई। उन्होंने अनुभव किया, मानो कोई उन्हें बलपूर्वक उस ओर आकर्षित कर रहा है। वे व्याकुल-चित्त से अपने साथ एक भक्त को लेकर कामारपुकुर होते हुए जयरामबाटी पहुँचे। दूसरे दिन सायंकाल के बाद श्रीमाँ ने सुरेनबाबू को अपने समीप बुलवाया। श्रीमाँ अपने छोटे से पूजा-घर में श्रीरामकृष्ण के चित्रपट के सामने बैठी हुई थीं। भक्त के पहुँचते ही श्रीमाँ ने स्नेहपूर्वक पूछा, "बेटा, क्या लोगे?"

भक्त — "मैं तो यह नहीं जानता।"

श्रीमाँ — "जो चाहोगे, वही मिलेगा। शक्ति का (मन्त्र) लोगे?"

शरणागत-भक्त ने कातर-स्वर से कहा, "मैं शक्ति-वक्ति कुछ भी नहीं समझता। मेरा किससे मंगल होगा, यह भी नहीं जानता।... जो मेरे लिए मंगलप्रद हो, वही दो।"

श्रीमाँ का आदेश हुआ, "अच्छा, कल सवेरे होगा। कुछ फूल इकट्ठा करके रखना।"

दूसरे दिन निर्धारित समय पर भक्त दीक्षा के लिए प्रस्तुत होकर श्रीमाँ के समीप उपस्थित हुए। उन्हें पूजा के आसन पर बैठाकर माँ ने अपना दायाँ हाथ उनके मस्तक पर और बायाँ हाथ उनकी ठोड़ी पर रखकर उन्हें महामन्त्र प्रदान किया। मन्त्र के श्रवण मात्र से इतने समय पहले का वह स्वप्नकालीन दृश्य उनकी आँखों के सम्मुख झूलने लगा। वे आनन्द-विह्वल हो गये — बाह्य चेतना चली गयी। कुछ प्रकृतिस्थ होने पर उन्होंने देखा कि स्वप्न में दिखी देवी स्वयं माँ ही हैं।... स्वप्न में दिये हुए मन्त्र की बात स्मरण कर श्रीमाँ बोलीं, "कहो, ठीक मिलता है न?... बीच-बीच में ठाकुर के दर्शन मिलते हैं?..."

संशय-कुहरा छिन्न-भिन्न हो गया। दिव्य-ज्योति से सुरेनबाबू का हृदय समुद्भासित हो उठा। श्रीमाँ के पुनीत स्पर्श से उन्हें पूजन का स्वर्गीय सौरभ प्राप्त हुआ। यह सोचकर वे और भी अधिक विस्मित हुए कि श्रीमाँ कितने दिनों से उनके पीछे-पीछे स्नेह-छत्र लेकर घूम रही थीं! वे ही स्वयं उनसे दूर-दूर हटते जा रहे थे!

* * * *

भाई-भौजाइयों में परस्पर झगड़ा लगा ही रहता था। कभी-कभी श्रीमाँ बड़ी विचलित हो उठती थीं; फिर भी वे कुछ नहीं कहती थीं—सब कुछ सहन कर लेती थीं। एक दिन काली और बरदा दोनों भाइयों में एक साधारण-सी बात को लेकर विवाद होने लगा। क्रमशः हाथापाई होने की नौबत आ गयी! श्रीमाँ अब कब तक चुप रहें? दौड़कर वे दोनों भाइयों के बीच में जा खड़ी हुईं। कभी एक का हाथ पकड़कर अपनी ओर खींचतीं, तो कभी दूसरे को दूसरी ओर ढकेलतीं। कभी एक से कहतीं, "तेरा अन्याय है", फिर कभी दूसरे को फटकारती हुई कहतीं, "तेरा ही तो दोष है।" झगड़ा अच्छा जमा हुआ था। इतने में और भी दो-एक लोगों के वहाँ आ जाने के कारण दोनों क्रोध में एक दूसरे को गाली देते हुए दो ओर चले गये। श्रीमाँ भी अपने घर के बरामदे में लौट आयीं और हँसती हुई कहने लगीं, "महामाया की कैसी विचित्र लीला है! अनन्त पृथ्वी पड़ी हुई है और यह स्थान भी पड़ा रह जायगा। पर जीव यह समझ नहीं पाता!" और यह कहकर वे बराबर हँसती ही रहीं। बहुत देर तक उनका हँसना बन्द नहीं हुआ, मानो वह स्तब्धता की हँसी हो!

भाइयों के संसार में श्रीमाँ को कठोर परिश्रम करना पड़ता था। वे हण्डी-हण्डी भर धान सिझाती थीं, चावल तैयार करती थीं। रसोई बनाना, बरतन मलना, पानी खींचना, भतीजे-भतीजियों की देख-भाल करना आदि सब कुछ उन्हें करना पड़ता था। दिन-भर उन्हें कितने ही

काम करने पड़ते थे। इस प्रकार श्रीमाँ का 'योगमाया-आश्रित-जीवन' व्यतीत हो रहा था।

जयरामवाटी में क्रमशः भक्तगण अधिक संख्या में आने लगे। यात्रियों की 'माँ की जय हो' की ध्वनि से जयरामवाटी-महातीर्थ की महिमा उद्‌घोषित होने लगी। दूर-दूर से पुरुष-नारी, गृहस्थ-संन्यासी महाशक्ति के दुर्निवार्य आकर्षण से वहाँ एकत्र होने लगे। मातृ-रूप से श्रीसारदा देवी के दर्शन पाकर सब कोई कृतार्थ होने लगे। उन लोगों ने उनमें जगत्-तारिणी को देखा। वे गुरु-रूप से अपनी सैकड़ों पंगु-सन्तानों को भवसागर के पार पहुँचाने लगीं। उनमें देवीत्व और मातृत्व का अपूर्व सम्मिश्रण था।

एक भक्त-सन्तान दस दिन जयरामवाटी में श्रीमाँ के सान्निध्य में रहने के पश्चात् घर लौटने को तैयार हुए। श्रीमाँ के चरणों में प्रणाम कर वे विदा लेने को प्रस्तुत हुए। सिर उठाते ही उन्होंने देखा कि श्रीमाँ के नेत्र डबडबा आये हैं। उन्हें ऐसा लगा, मानो श्रीमाँ उनके शरीर पर अपने कोमल हाथ फेर रही हों। माँ दुःखित होकर बोलीं, "अहा, बच्चे को कुछ भी न खिला सकी!" और इधर देख-भाल में माँ ने कोई कसर नहीं उठा रखी थी; फिर भी उनके चित्त में एक अतृप्ति बनी ही रही। भक्त रोते हुए रवाना हुए, श्रीमाँ भी वेदनातुर हृदय से बहुत दूर तक साथ-साथ गयीं और जब तक वे आँखों से ओझल नहीं हो गये, तब तक माँ अपनी अश्रुपूर्ण दृष्टि से सन्तान को देखती रहीं। अन्त में कल्याणमयी के आँसू करुणा-बिन्दु बनकर झरने लगे। भक्त भी शून्य-हृदय लेकर रोते-रोते अग्रसर होने लगे। वहाँ से तीन मील दूर कामारपुकुर तक उनकी अश्रुधारा बन्द नहीं हुई।

इन थोड़े से दिनों में श्रीमाँ से उन भक्त को ऐसी कौनसी अमूल्य वस्तु प्राप्त हुई—मन में इस प्रकार का प्रश्न उठना स्वाभाविक है। उनके घर पर माता-पिता, भाई-बहिन सब कोई विद्यमान थे। बड़े

स्नेह-यत्न से उनका लालन-पालन हुआ था। सांसारिक प्रेम और आनन्द उन्हें जन्म से ही प्राप्त होते रहे थे। भविष्य में भी उन सुखों से वंचित होने की कोई सम्भावना नहीं थी। फिर भी, उनके लिए ऐसा कौनसा अभाव था, जिसकी पूर्ति श्रीमाँ के सान्निध्य में हुई? उनके जीवन में ऐसी कौनसी सार्थकता आ गयी, जिसके फलस्वरूप उन्हें रोते हुए वापस लौटना पड़ा? ऐसी दशा केवल इन एक ही भक्त की हुई, यह बात नहीं है। श्रीमाँ के चरणों में पहुँचकर सकड़ों सन्तानों ने जीवन की पूर्णता पायी। जागतिक स्नेह-ममता, भोग-ऐश्वर्य आदि से जो वस्तु नहीं मिल सकी, उसकी अनायास प्राप्ति श्रीमाँ के चरणों में हुई।

सांसारिक प्रेम में प्रतिदान की एक गुप्त आकांक्षा रहती है। 'आदान-प्रदान' के द्वारा ही उस प्रेम की अभिव्यक्ति और पूर्णता होती है। किन्तु ईश्वरीय प्रेम का स्वभाव केवल 'देने' में ही केन्द्रित है, देने से ही तृप्ति होती है। श्रीसारदा देवी में जो ईश्वरीय प्रेम और दैवी-मातृत्व का विकास हुआ था, वह और भी अनुपम है। उस दैवी-मातृत्व की प्रचण्ड शक्तिरूपी बाढ़ में आश्रित सन्तानों की सारी अपूर्णता, क्षुद्रता और दीनता वह जाती थी। 'माँ हैं'—यह अनुभव महामन्त्र का रूप धारण कर सन्तानों के हृदयों में दिव्य चेतना, अपूर्व परिपूर्णता, भाव-तन्मयता, अमोघ शक्ति और बाल-सुलभ निर्भरता का संचार कर देता था।

ऊपरी दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता था कि श्रीमाँ जयरामवाटी में आकर मानो आत्मीयों को लेकर बद्ध हो गयी हैं। पर यह तो उनके आत्मगोपन का बाहरी प्रकाश था। वे तो वहीं बैठकर अपनी ईश्वरीय शक्ति की प्रदीप्त किरणों को चारों ओर विकीर्ण करती थीं।

शिलांग से एक भक्त आये हुए थे। उन्होंने यह दृढ़ निश्चय किया था कि श्रीमाँ यदि वास्तव में अवतार हों, तो वे सात बार स्वप्न में

उन्हें दर्शन देंगी। श्रीमाँ की कृपा से उनका वह अभीष्ट पूर्ण हुआ। उन्हें स्वप्न में सात वार श्रीमाँ के दर्शन प्राप्त हुए। उनके अवतारत्व के वारे में निःसन्दिग्ध हो वे मातृ-दर्शन के निमित्त जयरामवाटी आये। मानव-देहधारिणी श्रीमाँ के दर्शन कर तृप्त-हृदय से वे वापस लौट रहे थे। अपराह्न के समय वे श्रीमाँ से विदा लेने के लिए उपस्थित हुए और उन्हें प्रणाम करके कहा, "माँ, आज्ञा दीजिए। क्या और कुछ आवश्यक है?" — मानो माँ का ही दायित्व हो। कुछ कुण्ठित होकर श्रीमाँ ने कहा, "हाँ, वेटा, अवश्य है। दीक्षा लेकर ही जाओ।" भक्त वोले, "सो वागवाजार (कलकत्ते) में ही हो जायगा।" फिर भी माँ ने कहा, "नहीं, वेटा, वह हो ही जाय। आज ही हो जाय।"

श्रीमाँ ने अयाचित ही उन्हें मन्त्र-दीक्षा दी। भक्त ने कहा था, "भोजन के वाद दीक्षा लेना कैसे सम्भव हो सकता है?"

श्रीमाँ वोलीं, "उससे कोई दोष न होगा।"

दीक्षा के लिए वाह्य आयोजन अथवा आनुष्ठानिक आडम्वर अपेक्षित नहीं है। श्रीमाँ ने भक्त के हृदय में मुक्ति-मन्त्र प्रदान किया।

शास्त्रों में वैधी दीक्षा का जो विधान है, उसका सम्वन्ध मानवी-गुरुओं से है। वह अतिमानवों के लिए नहीं है। उन्हें जिस क्षण भीतर से प्रेरणा मिलती है, उसी क्षण वे जीव-त्राण कर सकते हैं। वे देश-काल की सीमा के वाहर हैं और उनका दीक्षा-दान केवल मन्त्र-दान ही नहीं, वरन् 'मुक्ति-दान' है।

श्रीमाँ का यह मातृ-स्नेह आश्रित सन्तानों और परिजनों तक ही सीमित नहीं था। उसका क्षेत्र विशाल था। एक दिन कोयालपाड़ा से सिर पर वोझा ले एक वूढ़ी मजदूरनी आयी। वोझा उतारकर ज्योंही वह श्रीमाँ को प्रणाम करके सूखे मुँह से खड़ी हुई, श्रीमाँ ने पूछा, "मल्लाहिन, इतने दिन क्यों नहीं आयीं भला?" करुण स्वर से वुढ़िया ने जवाव दिया, "क्या करूँ, माँजी, आजकल मैं वड़े संकट में

हूँ। कुछ दिन हुए, मेरा एकमात्र कमाऊ जवान बेटा चल बसा।"

"कहती क्या हो, मल्लाहिन !" माँ ने दुःख-भरे कण्ठ से कहा। श्रीमाँ की सहानुभूति पाकर बुढ़िया उच्च स्वर से रोने लगी। माताजी भी उसके समीप बैठकर बरामदे के खम्भे पर सिर टेककर रोती रहीं। उनके रोने की आवाज सुनकर चारों ओर से महिलाएँ दौड़ आयीं — यह देखने के लिए कि क्या हुआ ? स्तब्ध होकर सब-की-सब खड़ी रहीं। पुत्रहीन जननी का शोक श्रीमाँ के अन्तस्तल में भिद गया। वे इस प्रकार वेदनाकुल हो गयीं, मानो उन्हीं को पुत्र-शोक प्राप्त हुआ हो।

रुदन का वेग कुछ कम होने पर श्रीमाँ ने नारियल का तेल मँगवाया और बुढ़िया के सिर पर डाला। फिर उसे मुरमुरा और गुड़ देकर विदा करते समय बड़े करुण स्वर से बोलीं, "फिर आना, मल्लाहिन।"

शोकहारिणी ने मानो उस बुढ़िया का सारा शोक अपने अन्दर खींच लिया। बुढ़िया शान्त होकर चली गयी।

जयरामवाटी में बैठकर श्रीमाँ अपने ईश्वरीय-मातृत्व की सुदीप्त प्रभा चारों ओर विकीर्ण करती थीं। पर इधर जयरामवाटी बड़े कष्ट का स्थान था, वहाँ पहुँचना बड़ा ही कष्टसाध्य था। आने-जाने में खर्च भी अधिक लगता था और समय भी बहुत चला जाता था। इन कारणों से प्रबल इच्छा रहते हुए भी बहुत से लोग वहाँ श्रीमाँ के समीप नहीं पहुँच पाते थे। इसलिए माँ को अनेक असुविधाएँ स्वीकार करके भी बहुधा कलकत्ते में रहना पड़ता था। सन् १९०८ ई. तक जब कभी श्रीमाँ कलकत्ते पधारीं, उन्हें बागबाजार अंचल में विभिन्न किराये के मकानों में अथवा किसी भक्त के घर पर रहना पड़ा था। उनका जीवोद्धार-रूप महान् कार्य क्रमशः व्यापक होने लगा। युगावतार की महिमा तथा उनके महान् उदार भावों का विस्तार ज्यों-ज्यों अधिक होने लगा, श्रीमाँ के समीप भक्त-सन्तानों का आगमन भी उतना ही

वढ़ने लगा। उनकी संख्या केवल वंगाल और वंगालियों तक ही सीमित न रही, वल्कि समग्र भारतवर्ष के लोग श्रीमाँ के चरण-दर्शन तथा कृपा-प्राप्ति के हेतु उनकी ओर आकृष्ट होने लगे।

श्रीमाँ के कलकत्ते में रहने की असुविधाओं को दूर करने के निमित्त, स्वामी सारदानन्दजी के अथक परिश्रम के फलस्वरूप वागवाजार में 'माँ' के लिए एक भवन निर्मित हुआ। (वहाँ पर इस समय 'उद्बोधन-कार्यालय' है।) सन् १९०९ ई. की २३ मई (वंगाब्द १३१६, ज्येष्ठ ९) को श्रीमाँ ने नवीन भवन में शुभ-पदार्पण किया और अपने हाथों से वहुजनहिताय श्रीरामकृष्ण देव को वहाँ प्रतिष्ठित किया। उस मकान में उन्हें किसी प्रकार की असुविधा नहीं थी। भक्त नर-नारियों को भी शान्ति प्राप्त करने के लिए एक स्थान मिला। स्वामी सारदानन्द की एकनिष्ठ साधना सार्थक हुई। उनकी मातृ-सेवा ने भविष्य में आनेवाले लोगों के लिए एक महान् उज्ज्वल आदर्श का रूप धारण किया। सारदानन्दजी की सेवा से सन्तुष्ट होकर माँ ने उनका नाम 'मेरा भारवाही', 'मेरा वासुकी' रखा था।

उस समय नवीन भवन में श्रीमाँ लगभग छः महीने रहीं। वाग-वाजार के इस मातृ-सदन में जप-ध्यान, भाव-समाधि कितनी ही हो गयी! कितने ही लोगों को मोक्षदायिनी के निकट 'मुक्ति-मन्त्र' प्राप्त करने का सौभाग्य मिला! जगन्माता का दर्शन-स्पर्शन करके वहुत से व्यक्ति कृतार्थ हो गये। श्रीमाँ की अन्तिम लीला का स्थल— यह मातृ-सदन महातीर्थ वन गया।

माताजी ने एक दिन अपनी किसी आश्रित सन्तान से कहा था, "अवकी वार ठाकुर का आविर्भाव गरीव-धनी, पण्डित-मूर्ख सभी के उद्धार के लिए हुआ है। मलय पवन जोरों से वह रहा है। जो थोड़ासा पाल खोल देगा, शरणागत होगा, वह धन्य हो जायगा। इस वार वाँस और घास को छोड़, जिसमें भी थोड़ासा सार है, वह भी चन्दन



'उद्बोधन' में पूजा-निरत माँ

बन जायगा। तुम्हें चिन्ता ही क्या है?" श्रीरामकृष्ण का यह जीवोद्धार-रूप कार्य मानो श्रीमाँ पर ही आ पड़ा था। तभी तो वे बिना किसी प्रकार विचार किये जीवोद्धार कर गयीं। जो कोई 'माँ' कहकर उनके समीप उपस्थित हुआ, उस पर कृपा कर उन्होंने उसे श्रीराम-कृष्ण के अभय चरणों में सौंप दिया।

अधिक जप-ध्यान करने में असमर्थ किसी दीक्षित भक्त ने एक बार श्रीमाँ से तदर्थ खेद प्रकट किया। स्नेहार्द्र हो करुणामयी उसे अभय देती हुई बोलीं, "अभी चाहे जो हो, अन्त में ठाकुर को (तुम लोगों को लेने) आना ही पड़ेगा। वे स्वयं कह गये हैं। क्या उनकी कही हुई बात कभी व्यर्थ हो सकती है? ... तुम लोग यह निश्चय जानना कि तुम्हारे पीछे एक (ठाकुर) सर्वदा विद्यमान हैं।"

एक भक्त दीक्षा लेने की इच्छा से उपस्थित हुआ। सेवक उसे लेकर श्रीमाँ के समीप पहुँचे। भक्त का परिचय कराते हुए बोले, "माँ, इसी ने वह पत्र लिखा था।" श्रीमाँ ने एक ही दृष्टि में उसके भीतर तक देख लिया। उसके प्रणाम करके उठते ही वे बोलीं, "इसने? यह तो अच्छा लड़का है।"

दीक्षा देने के बाद उन्होंने उपदेश दिया, "यह जो पानी देखते हो, जिसका स्वभाव ही नीचे की ओर जाना है, सूर्य-किरण उसे भी आकाश में खींच लेती है। इसी प्रकार मन की गति भी स्वभाव से निम्नगामी है — भोग की ओर है। भगवत्कृपा से वही मन ऊर्ध्वगामी हो जाता है।"

श्रीमाँ के कृपा-स्पर्श से उक्त भक्त के मन की गति भी भगवन्मुखी हो गयी। श्रीभगवान का कृपा-वारि प्राप्त करने के निमित्त वह चातक की भाँति ऊर्ध्वमुखी हो गया।

भक्तों के लिए ही वे 'अरूप-रत्न' रूप धारण करते हैं। मनुष्यों के सम्मुख अपने को अभिव्यक्त करने के निमित्त ही भगवान इस वचित्र्यमय विश्व की सृष्टि करते हैं। सृष्टि को स्पर्श करते-करते कदाचित् स्रष्टा को देखने की आकांक्षा उत्पन्न हो जाय — इसी उद्देश्य से यह विराट् रचना है। सृष्टि को देखते ही स्रष्टा की याद हो आती है। तुच्छ वस्तुओं का अवलम्बन करते हुए मनुष्य महत्तम के समीप उपस्थित होता है। 'सान्त' का आश्रय लेकर ही 'भूमा' में पहुँचना पड़ता है। "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।" उन विराट् पुरुष की अवस्थिति से ही चराचर विश्व-ब्रह्माण्ड का अस्तित्व है। उनके निःश्वास से ही सर्वत्र प्राण का स्पन्दन हो रहा है। उन ज्योतिर्मय की दीप्ति से ही सब कुछ प्रकाशित हो रहा है। माता-पिता में हृदय-भरा स्नेह, महात्मा के हृदय में दया — यह सब आया कहाँ से? वे ही तो अपने को स्नेह और दया रूप से प्रकाशित कर रहे हैं।

श्रीभगवान के स्नेह और दया के रूप में ही श्रीमाँ का आविर्भाव हुआ था। उन्होंने कहा था, "...मैं कभी-कभी दया से अपने को भूल जाती हूँ।" वे इस संसार में दयामयी-रूप से विद्यमान थीं।

जयरामवाटी में पगली मामी (राधू की माँ) के आत्मीय आये हुए थे। श्रीमाँ वरामदे में उनके भोजन के लिए आसन विछा रही थीं। गिलास में ज्योंही उन्होंने पानी डाला कि एक विल्ली ने आकर उसमें मुँह डुवा दिया। पगली मामी ने वह पानी वदल दिया। इस प्रकार

तीन वार पानी वदला गया, और तीनों वार विल्ली ने उसमें मुँह डाला। तव तो वड़ी उत्तेजित होकर पगली चिल्ला उठी, "ठहर जा, आज तो तुझे जान से मार डालूंगी !" यह सुनकर करुणार्द्र हो माँ कहने लगीं, "अहा, चैत का महीना है ! उसे प्यास लगी होगी, पीने दो।"

तेज-स्वर से पगली वोली, "रहने भी दो ! मनुष्य पर कितनी दया है — यह मैं जानती हूँ, विल्ली पर दया दिखाने चलीं !"

श्रीमाँ का मुखमण्डल गम्भीर हो उठा। उन्होंने कहा, "जिस पर मेरी दया नहीं है, वह वड़ा ही अभागा है। पर किस पर नहीं है, यह तो मैं ढूंढ़े भी नहीं पाती !" यह मानो मानवी का कण्ठ-स्वर नहीं था, देवी की वाणी थी ! पगली भी स्तव्ध होकर श्रीमाँ की ओर देखने लगी।

'स्वर्गापवर्गदे देवी' — यही हमारी माँ हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, जिसे जो चाहिए, माँ मुक्त-हस्त से उसे वही देती थीं। अपने स्नेहांचल से मानो सवको ढके रखती थीं। कृपाच्छादन देने के लिए ही तो इस वार हमारी माँ आँचल में ढकी-ढकी रहती थीं। विना किसी विचार के वे सवको अपनी गोद में उठा लेती थीं। कीचड़ से सने हुए और कुंकुम से सुशोभित में कोई भेद नहीं था। वृक्ष के नीचे और प्रासाद में रहनेवालों के वीच कोई भेद-दृष्टि नहीं थी। उनके लिए सव कोई 'सन्तान' थे, और वे सवों की 'असली माँ' थीं। सन्तानों के अंगों से धूल-कीचड़ पोंछने के लिए ही तो उनका आँचल इतना विस्तृत था। सन्तानों पर गर्व करनेवाली माँ का कहना था, "मेरी सन्तान यदि धूल-कीचड़ में अपने को सान ले, तो मुझे ही तो उसको साफ करना होगा।" श्रीमाँ तो 'मेरी सन्तान' कह रही हैं। अरे, तू भी एक वार कह न, 'मेरी माँ' ! तुझे पाप-पंक में निमग्न देखकर भी वे तो तुझे 'मेरी सन्तान' कह रही हैं, और

तू क्या थोड़ा सिर उठाकर माँ को एक वार भी 'माँ' कहकर नहीं पुकार सकता ?

गोलापसुन्दरी ने एक दिन कुछ व्यंगपूर्वक श्रीमाँ से कहा था, "तुम्हारा तो वस ऐसा ही है। जिसने भी तुम्हें 'माँ' कहा कि वस, उसी की ओर अपने पाँव वढ़ा देती हो।"

सुनकर श्रीमाँ का मुख विवर्ण हो उठा, आँखें डवडवा आयीं। वेदना-भरे कण्ठ से कहा, "गोलाप, क्या करूँ ? 'माँ' कहकर पुकारने पर मुझसे रहा नहीं जाता ! "

कातर-कण्ठ से उन्हें एक वार 'माँ' कहकर पुकारने से ही उनसे 'अमृत-अभय' की प्राप्ति हो जाती थी। उनका कहना था, "मैं सत् की भी माँ हूँ और असत् की भी। सती की भी माँ हूँ और असती की भी। "

सुदूर शिलांग से कुछ भक्त श्रीमाँ के दर्शनार्थ जयरामवाटी रवाना हुए। उनमें से एक भक्त को स्वप्न में श्रीमाँ के दर्शन हुए थे। वाद में श्रीमाँ का एक चित्र देखकर उन्होंने समझा कि उन्हें स्वप्न में इन्हीं देवी के दर्शन मिले हैं। जयरामवाटी पहुँचकर उन्होंने देखा कि वही स्वप्न की माँ स्थूल देह से वैठी हुई हैं। अपार आनन्द और विस्मय से भक्त विह्वल हो उठे।

उन सभी भक्तों ने श्रीमाँ से 'महामन्त्र' प्राप्त किया। माता ने सभी को धरती से अपनी अभय गोद में उठा लिया।

विदा लेते समय एक आश्रित भक्त ने श्रीमाँ के चरणों में प्रणाम करके पूछा, " माँ, मुझे और क्या करना होगा ? " उनके प्रश्न का आशय यह था कि श्रीमाँ शायद और कोई विशेष साधन-पद्धति, जप-पुरश्चरण, तपस्या इत्यादि के वारे में निर्देश करेंगी। श्रीमाँ ने वड़े स्वाभाविक कण्ठ से उत्तर दिया, " तुम्हें कुछ भी नहीं करना होगा।" विस्मित होकर भक्त ने पूछा, " मुझे कुछ भी नहीं करना होगा ? "

श्रीमाँ ने कहा, "नहीं।"

भक्त के विस्मय का ठिकाना न रहा, वे बोले, "कुछ भी नहीं?"

श्रीमाँ के मुख से पुनः वही बात निकली, "नहीं, कुछ भी नहीं।"

उनके कथन के साथ-ही-साथ भक्त का हृदय आलोकित हो उठा। वे समझ गये कि जिन्होंने कृपा की है, भव-बन्धन-मोचन का सारा भार भी उन्होंने स्वयं ले लिया है। वे ही अमरपददायिनी भवानी हैं — जगज्जननी हैं, फिर वे ही ज्ञानस्वरूपा हैं।

कुछ महीने जयरामवाटी में रहकर श्रीमाँ कलकत्ता आयीं (जनवरी, सन् १९१० ई.)। बागबाजार-स्थित श्रीमाँ का मकान भक्तों की दृष्टि में मानो ध्रुवतारा था। श्रीमाँ के आगमन के बाद अनेक भक्त वहाँ आने लगे। बहुत से व्यक्ति उनसे दीक्षा प्राप्त कर धन्य हुए। श्रीमाँ वहाँ लगभग एक वर्ष तक रहीं। क्रमशः जाड़े के दिन आये। माँ कभी कुरती आदि नहीं पहनती थीं। बगल के नीचे एक छोटी-सी गाँठ लगाकर वे इस प्रकार वस्त्र पहनती थीं कि उससे उनके सारे अंग ढके रहते थे। श्रीमाँ को जाड़े से कष्ट पाते देखकर भक्तों के हृदय में उन्हें गरम बनियाइन पहनाने की तीव्र इच्छा हुई। ऊन की एक सुन्दर बनियाइन खरीदी गयी। उन लोगों के सन्तोष के लिए श्रीमाँ ने उसे पहन लिया, पर तीन दिन बाद ही उसे उतारकर रख दिया और कहा, "स्त्रियों को यह सब शोभा नहीं देता, बेटा। फिर भी तुम लोगों के सन्तोष के लिए मैंने तीन दिन तक पहना।"

श्रीमाँ आधुनिक महिला नहीं थीं। वे शाश्वत, सनातनी जननी थीं। घड़ी में चाबी देना नहीं जानती थीं। लालटेन के कल-पुर्जों को देखकर हैरान हो जाती थीं।

और भी बाद की घटना है। श्रीमाँ बागबाजार के मकान में थीं। एक दिन राधू ने उनके समीप आकर शिकायत की कि उसके पति ने उसे थप्पड़ मारा है। यह भी पता लगा कि राधू ने पंखा फेंककर मारा था।

स्नेहास्पद राधू का पक्ष लेकर श्रीमाँ बोलीं, "पंछा फेंककर मारने पर क्या तमाचा मारना उचित है ?"

पास में ही एक सधवा महिला बैठी हुई थी। श्रीमाँ ने उससे पूछा, "अच्छा बहू, . . . तुम्हीं बताओ, यह क्या जमाई का अन्याय नहीं है ?"

महिला-भक्त ने कहा, "यदि राधू ने पंछा फेंककर मारा हो, तो उसका पति ऐसा अवश्य कर सकता है।"

श्रीमाँ ने आश्चर्यचकित होकर पूछा, "ऐसी बात है, बहू ? तुम लोगों में ऐसा होता है ? ठाकुर के साथ तो मेरा कभी ऐसा व्यवहार नहीं हुआ, इसी लिए मैं यह सब नहीं जानती। तब तो राधू का ही दोष है। अरी सुन, देख, बहू कह रही है कि पति के साथ ऐसा बरताव नहीं करना चाहिए।"

महिला-भक्त अवाक् होकर श्रीमाँ की सरलता के बारे में सोचने लगी।

शिव-सदृश अपने पतिदेव के साथ श्रीमाँ का सम्बन्ध ही दूसरा था। उनमें आपस में दैहिक सम्बन्ध नाम मात्र को भी नहीं था। था केवल हृदयों का मिलन — आत्मा का मिलन।

श्रीरामकृष्ण देव के परम भक्त स्वर्गीय बलराम बसु की धर्मपत्नी बहुत दिनों से श्रीमाँ को उड़ीसा-स्थित अपनी जमींदारी कोठार में ले जाकर कुछ दिन रखना चाहती थीं। भक्तिमती के आग्रह से श्रीमाँ ने वहाँ जाना स्वीकार कर लिया। बँगला सन् १३१७ के अगहन की १८वीं तिथि को बलरामबाबू के तथा अपने कुछ आत्मीयों, सेविका, महिला-भक्तों और कतिपय संन्यासी-सन्तानों के साथ श्रीमाँ कोठार के लिए रवाना हुईं। भद्रक स्टेशन पर उतरकर कोठार तक आठ-नौ कोस का रास्ता पालकी आदि से तय करना पड़ा।

कोठार पहुँचकर श्रीमाँ बहुत आनन्दित हुईं। विशेषकर भक्त-परिवार की आन्तरिकता, सेवा-यत्न और भक्ति बहुत ही मर्मस्पर्शी

थी। वहाँ के निर्जन वातावरण ने श्रीमाँ को और भी अन्तर्मुखी कर दिया। वे सदैव मानो भावावेश में तन्मय रहती थीं।

एक दिन दोपहर को एक सेवक ने देखा कि श्रीमाँ अनमनी-सी, शान्त, चुपचाप अकेली बैठी हुई हैं। दृष्टि असीम की ओर गड़ी हुई है। सेवक, भक्तों के पत्र पढ़कर सुनाने के लिए गये थे। पर उन्हें भाव-मग्न देख वे दूर खड़े रहकर प्रतीक्षा करने लगे। बहुत देर बाद श्रीमाँ का भावावेश प्रशमित हुआ। अपने सम्मुख सेवक को देखकर वे स्वतः ही कहने लगीं, "बार-बार आना — क्या इसका अन्त नहीं है? शिव-शक्ति एक साथ हैं; जहाँ शिव हैं, वहीं शक्ति भी है — छुटकारा नहीं है! फिर भी लोग समझ नहीं पाते। देखो न, ठाकुर बार-बार आते हैं — एक ही चाँद रोज-रोज उगता है। निस्तार नहीं है, पकड़ में आ गये हैं।... मैं बैठी-बैठी यही सोच रही थी। देखा, अन्त नहीं है। ठाकुर के कितना कष्ट है — कौन समझेगा?" तात्पर्य यह कि जीवोद्धार के लिए ही पतितपावन अपनी शक्ति के साथ बारम्बार शरीर-धारण करते हैं!

सेवक ने कहा, "माँ, केवल ठाकुर को ही क्यों, आपको भी तो कितना कष्ट उठाना पड़ता है? आप और ठाकुर तो एक हैं।"

संकोच के साथ श्रीमाँ बोलीं, "छिः, ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए, पगले! मैं तो उनकी दासी हूँ। क्या तुमने पढ़ा नहीं — 'तुम यन्त्री हो, मैं यन्त्र हूँ; तुम गृहिणी हो, मैं गृह हूँ। जैसा कराते हो, वैसा करता हूँ; जैसा चलाते हो, वैसा चलता हूँ।' सब कुछ ठाकुर ही हैं। उनको छोड़ कुछ भी नहीं है।"

उनके इस कथन के साथ मानो एक शाश्वत ज्योति की दीप्ति उतर आयी और विराट् निस्तब्धता छा गयी। ठाकुर रामकृष्ण ही उनकी अन्तरात्मा थे। उनका 'अहं' ठाकुर में लीन हो गया था, उसने 'तस्यैवाहं' का रूप धारण कर लिया था।

श्रीमाँ कोठार में लगभग दो महीने रहीं। उनकी उपस्थिति में वहाँ पर अत्यन्त धूम-धाम के साथ सरस्वती पूजा हुई। रात्रि में नृत्य-गीत के साथ पौराणिक अभिनय का आयोजन किया गया था। श्रीकृष्ण और श्रीराधिका बनकर अभिनय करनेवाले दो बालकों के मधुर संगीत एवं मनोहर नृत्य से श्रीमाँ इतनी मुग्ध हुईं कि उनकी विशेष इच्छा से दूसरे दिन रात में भी पुनः उसी अभिनय का आयोजन करना पड़ा।

कोठार के पोस्ट-मास्टर ब्राह्मण थे, किन्तु घटनावश यौवन में वे ईसाई हो गये थे। बाद में धर्म त्यागने के कारण उनके हृदय में घोर अनुताप होने लगा और वे अपने धर्म में वापस आने के लिए विशेष आग्रहवान् हुए। श्रीमाँ के आदेशानुसार विधिपूर्वक प्रायश्चित्त करने के पश्चात्, यज्ञोपवीत तथा गायत्री ग्रहण कर वे पुनः हिन्दू-धर्म में प्रविष्ट हुए। हिन्दू-धर्म ग्रहण करने के बाद दूसरे ही दिन माताजी ने उन्हें दीक्षा देकर कृतार्थ किया। श्रीमाँ ने प्रसादीस्वरूप उन्हें अपना एक वस्त्र दिया।

सर्वधर्मसमन्वय के लिए ही श्रीरामकृष्ण देव ने शरीर धारण किया था। अपने समग्र जीवन तथा साधनाओं द्वारा वे इसी समन्वय की प्रतिष्ठा कर गये। सभी धर्म सत्य हैं — यही सर्वधर्मसमन्वय का मूलमन्त्र है। धर्मान्तरित को पुनः स्वधर्म में वापस लाकर क्या श्रीमाँ ने सर्वधर्मसमन्वय का ही उदाहरण स्थापित किया था? माताजी के जीवन की यह घटना विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है।

हमारी धारणानुसार, 'सभी धर्म ईश्वर-प्राप्ति के सच्चे मार्ग हैं' — इस दृष्टिकोण से देखने पर धर्म-त्याग का कोई स्थान नहीं रहता। फिर, पूर्वोक्त परधर्म-ग्रहण सत्यान्वेषण की भावना से प्रेरित होकर नहीं था। उक्त ब्राह्मण-बालक को किसी अन्य कारण ने दूसरा धर्म ग्रहण करने के लिए उकसाया और प्रलोभित किया था।

हिन्दू-धर्म कोई गलत मार्ग नहीं है; हिन्दू-धर्म भी सत्य है। अतः उसे पुनः उस सत्य धर्म में वापस लाकर श्रीमाँ ने 'धर्म-समन्वय' की मर्यादा ही स्थापित की थी, विशेषकर जब कि धर्मान्तरित व्यक्ति स्वयं ही अपने आचरण के लिए अनुतप्त हो चुका था।

कोठार में रहते समय श्रीमाँ के मन में श्रीरामेश्वर-दर्शन की दीर्घकालीन इच्छा बलवती हो उठी। उनकी यह अभिलाषा जानकर मद्रास से स्वामी रामकृष्णानन्दजी ने श्रीमाँ के दक्षिण-भारत-भ्रमण का सारा दायित्व अपने ऊपर लेकर उन्हें सादर आमन्त्रित किया। तदनुसार फरवरी, सन् १९११ ई. में सेवक और साथ की महिलाओं को लेकर श्रीमाँ दक्षिण-भारत के प्रधान तीर्थ रामेश्वर के दर्शन के लिए कोठार से मद्रास की ओर रवाना हुईं। खुरदा-रोड स्टेशन के बाद गाड़ी सबेरे-सबेरे विस्तृत चिल्का-ह्रद के किनारे से होकर जा रही थी। सफेद बगुले पंक्ति में, माला का आकार धारण कर, नीले आकाश में उड़े जा रहे थे। इस दृश्य को देखकर श्रीमाँ बालिका की भाँति आनन्द से उछलने लगीं। ह्रद के बीच में छोटे-छोटे द्वीप हैं। वहाँ नीलकण्ठ आदि विभिन्न प्रकार के पक्षियों को उड़ते देखकर श्रीमाँ ने नीलकण्ठ को हाथ जोड़कर प्रणाम किया।

क्रमशः गाड़ी मद्रास पहुँची। स्वामी रामकृष्णानन्दजी देवी-योग्य स्वागत-सम्मान के साथ श्रीमाँ को स्टेशन से लिवा ले गये और मयलापुर-मठ के बिलकुल समीपवर्ती एक किराये के मकान में यत्नपूर्वक उन्हें कुछ दिन तक रखा। वहाँ पर अनेक नर-नारियों को श्रीमाँ से दीक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य मिला। बहुत से लोग उनके पुनीत दर्शन से कृतार्थ हुए।

मद्रास से श्रीमाँ और उनके साथियों को लेकर स्वामी रामकृष्णानन्दजी रामेश्वर के लिए रवाना हुए। मार्ग में वे लोग मदुरा में उतरे। मदुरा का विशाल मन्दिर स्थापत्य-कला की दृष्टि से

216

भारत में अद्वितीय है। मन्दिर में सुन्दरेश्वर स्वामी शिवलिंग और मीनाक्षी देवी की मूर्ति की पूजा होती है। मन्दिर की वगल में 'शिव-गंगा' नामक तालाव है। सवके साथ 'शिवगंगा' में स्नान करके श्रीमाँ ने देव-दर्शन किया। वहाँ की प्रथा के अनुसार उन्होंने उस तालाव के किनारे पर घी के दीपक भी जलाये। मदुरा से श्रीमाँ रामेश्वर आयीं।

प्रसिद्ध रामेश्वर का मन्दिर रामनाद के राजा के अधिकार में है। वे स्वामी विवेकानन्दजी के शिष्य थे। राजा ने तार द्वारा मन्दिर के कर्मचारियों को यह समाचार भेजा — "मेरे गुरु की गुरु—परमगुरु का शुभागमन हो रहा है, उनके लिए सव प्रकार की सुव्यवस्था की जावे।"

श्रीमाँ रामेश्वर में तीन दिन रहीं। दक्षिण-भारत की तत्कालीन प्रथा के अनुसार पुरोहितों के अतिरिक्त अन्य किसी ब्राह्मण-यात्री को भी गर्भ-मन्दिर में जाकर पूजा करने नहीं दिया जाता था। किन्तु राजा की विशेष आज्ञा से अपने साथियों के साथ श्रीमाँ ने गर्भ-मन्दिर में जाकर स्वयं अपने हाथों से पूजा की। श्रीरामेश्वर शिवमूर्ति के दर्शन कर श्रीमाँ वहुत ही गहरे भाव में मग्न हो गयीं। उन्होंने गंगा-जल से शिवजी को नहलाकर, स्वामी रामकृष्णानन्दजी द्वारा संगृहीत एकसौ-आठ स्वर्ण-निर्मित विल्व-पत्रों तथा अन्यान्य उपकरणों से उनकी यथाविधि अर्चना की। पूजा करते समय भावाविष्ट हो वे अपने आप कह उठीं, "जैसे मैं रख गयी थी, ठीक वैसे ही है!" समीपवर्ती किसी सेवक ने उस वात को सुनकर रोमांचित हो प्रश्न किया, "माँ, तुमने वह क्या कहा?" श्रीमाँ तत्काल ही सँभलकर वोलीं, "कुछ नहीं, वैसे ही एक वात मुँह से निकल गयी।" †

---

† त्रेतायुग में श्रीरामचन्द्र दुष्पार समुद्र पर सेतु बाँधकर, लंका से सीताजी का उद्धार करने के पश्चात् अयोध्या की ओर वापस लौट

श्रीमाँ प्रतिदिन श्रीरामेश्वर की पूजा और आरती देखने जाती थीं। पण्डों से उन्होंने श्रीरामेश्वर-माहात्म्य श्रवण किया। पौराणिक कथाएँ सुनते समय, प्राचीन रीति के अनुसार वे हाथों में पान, सुपारी और पैसा लेकर बैठती थीं। पण्डों को एक दिन उन्होंने भलीभाँति भोजन कराया और प्रचुर दक्षिणा दी। श्रीमाँ आचार-नियमों का यथाविधि पालन करती थीं।

राजा ने अपने कर्मचारियों को आदेश दिया था कि मन्दिर का रत्न-भाण्डार खोलकर श्रीमाँ को दिखाया जाय तथा वे जो भी वस्तु पसन्द करें, उन्हें उपहारस्वरूप दे दी जाय। श्रीमाँ जब रत्नागार देखने गयीं, वे एक समस्या में पड़ गयीं। उनके कथन से पता चलता है — "अहा! शशी (स्वामी रामकृष्णानन्द) ने १०८ सोने के बेलपत्रों से मेरे द्वारा श्रीरामेश्वर की पूजा करवायी। रामनाद के राजा ने अपने दीवान को आदेश दिया कि मुझे राजप्रासाद और खजाना आदि सब कुछ खोलकर दिखाया जाय और यदि मैं कोई चीज पसन्द करूँ, तो उसी समय वह मुझे उपहार में दे दी जाय। क्या कहूँ यह मैं निश्चय नहीं कर सकी। अन्त में बोली, 'बेटा, मुझे कुछ नहीं चाहिए। हमारी जो-जो आवश्यकताएँ थीं, उन सबकी व्यवस्था तो शशी ने ही कर दी है।' फिर भी उन्हें कहीं खेद न हो इसलिए

रहे थे। सीताजी के मन में श्रीरामचन्द्र की अक्षय कीर्ति को शाश्वत बनाने की इच्छा हुई। इसलिए उन्होंने समुद्र-तट पर बालुका-निर्मित शिव-लिंग की प्रतिष्ठा कर उनका पूजन किया। सीताजी द्वारा प्रतिष्ठित एवं पूजित उसी शिव-लिंग का अब भी पूजन हो रहा है। त्रेतायुग में श्रीरामचन्द्र के साथ जो जनकनन्दिनी सीता थीं, वे ही इस समय श्रीरामकृष्ण-शक्ति-स्वरूपिणी सारदा हैं। इसी लिए बालुकामय श्रीरामेश्वर शिव-लिंग के दर्शन से श्रीमाँ का मन वर्तमान स्थिति को भूलकर त्रेतायुग में चला गया था।

मैंने कहा, 'अच्छा, राधू को यदि किसी चीज की जरूरत हो, तो वह माँग लेगी।' राधू से मैंने कहा, 'देख, अगर कुछ चाहिए, तो ले सकती है।' बाद में जब हमें हीरा-जवाहिरात की चीजें दिखायी गयीं, तब तो मेरी छाती धड़कने लगी। व्याकुल होकर ठाकुर से मैं प्रार्थना करने लगी, 'ठाकुर, देखना, राधू के मन में किसी प्रकार की वासना न जगे।' राधू ने कहा, 'यह सब क्या लूँ? मुझे इसमें का कुछ नहीं चाहिए। मेरी पेन्सिल कहीं खो गयी है, मुझे एक पेन्सिल खरीद दो।' उसकी बात सुनकर मेरे जी में जी आया और बाहर आकर एक दुकान से उसके लिए दो पैसे की एक पेन्सिल खरीद दी।"

रामेश्वर से पन्द्रह मील की दूरी पर धनुष्कोटि-तीर्थ है। वहाँ पर सोने अथवा चाँदी के तीर-धनुष देकर पूजा करने की विधि है। श्रीमाँ का वहाँ जाना सम्भव न हुआ, फिर भी उन्होंने सेवकों के हाथ से चाँदी के तीर-धनुष समुद्र की पूजा के निमित्त धनुष्कोटि में भेजे थे।

रामेश्वर से मदुरा होकर श्रीमाँ मद्रास वापस आयीं। पुनः वहाँ पर भक्त-समागम होने लगा; श्रीमाँ लोगों को दर्शन और दीक्षा देकर कृतार्थ करने लगीं। वह एक बड़ी आश्चर्यजनक बात थी। गुरु-शिष्य एक दूसरे की भाषा से अनभिज्ञ थे, एक दूसरे की बोली नहीं समझ पाते थे। दीक्षा देते समय श्रीमाँ अपनी आध्यात्मिक शक्ति के संचार द्वारा शिष्यों के हृदयों को आलोकित कर देती थीं; वे जो कुछ कहतीं, शिष्य उसे समझ लेते थे, उनका हृदय तृप्त हो जाता था।

मद्रास में कुछ दिन रहने के बाद बँगलोर के मठाध्यक्ष के आग्रह से श्रीमाँ सबको लेकर बँगलोर पहुँचीं (चैत्र १०, बँगला सन् १३१७)। शहर की सीमा पर, वृक्ष आदि से सुशोभित मनोरम निर्जन मठ-भवन में आ श्रीमाँ बड़ी आनन्दित हुईं। वहाँ पर सारा मठ-भवन

उनके रहने के लिए खाली कर दिया गया। देव-मन्दिर में श्रीमाँ के रहने की व्यवस्था की गयी। उनके साथ की महिलाएँ विभिन्न कमरों में ठहरीं। मठ के संन्यासी, ब्रह्मचारी तथा श्रीमाँ के सेवकों के रहने के लिए मठ के आँगन में तम्बू ताने गये। श्रीमाँ के शुभागमन के कारण मठ में बहुत से लोग आने लगे। श्रीमाँ ने कहा था, "बँगलोर में लोगों की कितनी भीड़ रहती थी! गाड़ी से उतरते ही लोग फूल बरसाने लगे। रास्ते में फूलों का ढेर लग गया। ठाकुर का भाव सब ओर फैल गया है, तभी तो इतने लोग आते थे।"

बँगलोर में माताजी केवल सात दिन रहीं। एक दिन अपराह्न में, शहर और मन्दिर आदि दिखाने के निमित्त श्रीमाँ को कुछ समय के लिए गाड़ी में बैठाकर बाहर ले जाना हुआ था। इस बीच ही मठ का आँगन दर्शनार्थियों से भर गया। उनके लौटने की आवाज सुनते ही उस विशाल जनता ने यन्त्रचालित मूर्तियों की भाँति धरती पर गिरकर उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। उस समय का दृश्य बड़ा ही मर्मस्पर्शी था। यह देख श्रीमाँ विह्वल हो गाड़ी से उतर पड़ीं और अभय-मुद्रा धारण कर अपना दाहिना हाथ उठाकर देवी-मूर्ति की भाँति कुछ देर निश्चल खड़ी रहीं। एक अचिन्त्य दिव्य शक्ति के प्रभाव से सब कोई मुग्ध हो गये; अनिर्वचनीय आनन्द से सबका हृदय पूर्ण हो उठा। श्रीमाँ धीर, शान्त गति से मठ में आयीं। उनके लिए भक्त मन्त्र-मुग्ध की भाँति स्तब्ध होकर बैठे हुए थे। श्रीमाँ की मौन अवस्थिति मात्र से सभी के हृदयों में एक अनिर्वचनीय आनन्द-धारा प्रवाहित होने लगी। वह एक स्वर्गीय दृश्य था, एक अतीन्द्रिय अनुभूति थी! उस प्रगाढ़ निस्तब्धता को भंग करते हुए श्रीमाँ ने अपने समीपवर्ती सेवक से कहा, "यदि मैं इन लोगों की भाषा जानती होती, तो दो बातें कहती, उससे इन्हें बहुत शान्ति मिलती।" उक्त सेवक ने ज्योंही अँगरेजी में श्रीमाँ की वाणी का अनुवाद कर उन लोगों को

सुनाया, भक्तगण नतमस्तक हो कह उठे, "नहीं, नहीं, यही अच्छा है। इसी से हमारा हृदय आनन्द से भर गया है। ऐसे समय भाषा की कोई आवश्यकता नहीं।" आनन्दमयी की उपस्थिति से ही चारों ओर आनन्द-सौरभ विकीर्ण होने लगता था।

बँगलोर के आश्रम-प्रांगण में ही चन्दन-वृक्ष और एक छोटासा पहाड़ देखकर श्रीमाँ अत्यन्त आनन्दित हुईं। एक दिन सायंकाल सूर्यास्त के पहले श्रीमाँ उस पहाड़ पर चढ़कर अपने आप में मग्न हो सूर्य को अस्त होते देख रही थीं। यह समाचार सुनते ही भाव-विह्वल हो स्वामी रामकृष्णानन्दजी बोले, "अच्छा, माँ पर्वतवासिनी हुई हैं?" यह कहकर वे तुरन्त उस पहाड़ पर चढ़कर, श्रीमाँ के चरणों में प्रणाम करके उनकी स्तुति करने लगे —

"सर्वमंगलमांगल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके।
शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोऽस्तु ते॥"

और करुण-कण्ठ से कहने लगे, "कृपा, कृपा!" श्रीमाँ ने उनके मस्तक पर हाथ रखकर उन्हें बहुत आशीर्वाद दिया। पहाड़ पर श्रीमाँ ने कुछ समय तक जप-ध्यान भी किया। वह स्थान श्रीमाँ के पवित्र चरण-स्पर्श से पुण्य तीर्थ बन गया।

बँगलोर से मद्रास लौटकर एक-दो दिन वहाँ विश्राम लेकर श्रीमाँ कलकत्ते के लिए रवाना हुईं। मार्ग में राजमहेन्द्री में एक दिन के लिए उतरकर उन्होंने गोदावरी में स्नान किया और जगन्नाथपुरी में तीन-चार दिन रहकर बँगला चैत्र की २८ वीं तिथि को (सन् १३१७) कलकत्ता वापस आयीं।

तीर्थ-दर्शन करके तथा दक्षिण-भारत के बहुत से भक्तों के हृदयों में दिव्य चेतना संचार कर श्रीमाँ कलकत्ता लौटीं। उसके कुछ दिन बाद ही स्वामी ब्रह्मानन्दजी प्रभृति श्रीरामकृष्ण देव के त्यागी शिष्यगण उनका सादर आह्वान कर उन्हें बेलुड़-मठ ले गये। मठ के प्रवेश-

द्वार पर मंगलघट और केले के खम्भे स्थापित किये गये थे। जगज्जननी का शुभागमन हो रहा था! श्रीमाँ की गाड़ी के मठ के फाटक के अन्दर प्रवेश करते ही, स्वामी ब्रह्मानन्दजी के आदेशानुसार, संन्यासी एवं भक्तों ने सम्मिलित कण्ठ से "सर्वमंगलमांगल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके" मन्त्रों से देवी की वन्दना की। सब लोग हाथ जोड़कर भक्तिविनम्र-हृदय से दोनों ओर खड़े थे। श्रीमाँ मृदु-मन्द गति से सचल विग्रह की भाँति आगे की ओर बढ़ रही थीं।

स्वामी ब्रह्मानन्दजी का यह विशेष निर्देश था कि उस समय कोई भी श्रीमाँ का चरण-स्पर्श न करे। श्रीमाँ धीरे-धीरे अग्रसर हो रही थीं। इसी समय अकस्मात् एक संन्यासी द्रुत गति से आकर, श्रीमाँ की चरण-वन्दना कर अदृश्य हो गये। इधर ब्रह्मानन्दजी चिल्ला उठे, "देखो, देखो, कौन है, पकड़ लो।" पता चला कि वह संन्यासी और कोई नहीं, स्वयं खोका महाराज (स्वामी सुबोधानन्दजी) हैं। तब तो चारों ओर हँसी की लहर फैल गयी।

महेश्वरी के शुभागमन के अवसर पर मठ के विस्तृत आँगन में संन्यासियों ने एक साथ मिलकर 'काली-कीर्तन' प्रारम्भ किया। स्वामी ब्रह्मानन्दजी भी उसमें शामिल हुए। मातृ-गुणगान में सब लोग मत्त हो गये। 'काली-कीर्तन' सुनते-सुनते ब्रह्मानन्दजी गहरी समाधि में डूब गये। क्रमशः 'काली-कीर्तन' समाप्त हुआ; सब लोग मुग्ध होकर उस समाधि-मग्न मूर्ति को देखने लगे। इस प्रकार बहुत समय बीत गया, फिर भी ब्रह्मानन्दजी की समाधि नहीं उतरी।

मठ के ऊपर के कमरे में श्रीमाँ के विश्राम की व्यवस्था की गयी थी। श्रीमाँ से 'राखाल' की समाधि के बारे में कहते ही, कुछ देर तक मौन रहने के पश्चात् उन्होंने किसी संन्यासी को एक मन्त्र बता दिया। ब्रह्मानन्दजी के कानों में उस मन्त्र का बारम्बार उच्चारण करने पर उनका मन समाधि से क्रमशः सहज भूमि पर

उतर आया। स्वामी ब्रह्मानन्दजी समाधि से उठकर गायकों को उत्साह देते हुए कहने लगे, "हाँ, चलने दो, चलने दो।" — मानो वे थोड़ासा यों ही अन्यमनस्क मात्र हुए थे।

श्रीमाँ दिन-भर मठ में रहीं। संन्यासी और भक्त सन्तानों को कृतार्थ किया। जाग्रत्-शक्तिरूपिणी के अवस्थान मात्र से सभी के हृदयों में आध्यात्मिक शक्ति जागृत हो उठती थी। श्रीरामकृष्ण देव के अन्तरंग शिष्य स्वामी विज्ञानानन्दजी ने एक दिन श्रीमाँ की अलौकिक ईश्वरीय शक्ति के बारे में कहा था, "तब तक मुझे माँ के दर्शन नहीं हुए थे। उनके दर्शन के लिए गया। माँ ऊपर थीं। मैं नीचे बैठा हुआ था — मेरा हृदय-कमल विकसित हो उठा।" सम्भवतः यह घटना सन् १८९८ ई. की है। श्रीमाँ उस समय बागबाजार में किराये के मकान में थीं।

रामेश्वर से लौटकर श्रीमाँ एक महीने से कुछ अधिक समय तक बागबाजार में रहीं। बँगला सन् १३१८ के ज्येष्ठ की ३री तिथि (१७ मई, १९११ ई.) को उन्होंने जयरामबाटी की ओर यात्रा की। विष्णुपुर तक रेल थी; उसके बाद कोयालपाड़ा होकर लगभग तीस मील पैदल चलना पड़ता था। उनके एवं उनके साथियों के लिए बैलगाड़ी की व्यवस्था की गयी थी।

कोयालपाड़ा में तब तक वहाँ के निवासियों ने मिलकर एक छोटासा आश्रम स्थापित कर लिया था। आश्रमवासी इस बार श्रीमाँ को आश्रम में लाने के लिए व्यग्र हो उठे, नवीन देव-मन्दिर को सुन्दर रूप से सजाया गया; जगज्जननी के शुभागमन के उपलक्ष में रास्तों को साफ करके वस्त्राच्छादित मार्ग पर ढेर-के-ढेर पुष्प बिछाये गये। बड़े उत्कण्ठित हो सब कोई श्रीमाँ के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे। श्रीमाँ का शुभागमन हुआ। गाड़ी से उतरकर वे मृदु-हास्य के साथ उस पुष्प-बिछे हुए मार्ग पर चलने लगीं। आश्रमवासियों की

भक्ति देखकर माँ सन्तुष्ट हुईं। स्नान, पूजन और भोजन के पश्चात् कुछ देर विश्राम करके श्रीमाँ पालकी में जयरामवाटी की ओर रवाना हुईं। एक-एक करके सबों ने प्रणाम किया, माताजी ने सबके मस्तकों पर हाथ रख बहुत आशीर्वाद दिया और बोलीं, "देखती हूँ, ठाकुर ने यहाँ भी अपना आसन जमा लिया है। हम लोगों के लिए भी रास्ते में विश्राम लेने का स्थान बना।" कोयालपाड़ा के बारे में श्रीमाँ का कहना था, "यह तो मेरा बैठकखाना है।" तब से कलकत्ता जाते-आते समय श्रीमाँ कोयालपाड़ा में विश्राम लेती थीं और कभी-कभी उन्होंने वहाँ पर निवास भी किया था।

जयरामवाटी आकर दूसरे वर्ष बँगला ज्येष्ठ की २७वीं तिथि को श्रीमाँ ने बड़े समारोह के साथ अपनी लाड़ली राधू का विवाह किया। विपुल दहेज दिया गया। राधू को सिर से लेकर पैर तक आभूषणों से सजाया गया। बराती, घराती, जयरामवाटी एवं उसके आस-पास के गाँववालों तथा दीन-दुखियों को डटकर भोजन कराया गया। नृत्य-गीत और क्रीड़ा-कौतुकों से जयरामवाटी मुखरित हो उठा। श्रीमाँ के आनन्द का ठिकाना न रहा!

राधू के विवाह के बाद माताजी कुछ दिन के लिए कामारपुकुर गयीं। श्रीरामकृष्ण के भतीजे रामलाल और भतीजी लक्ष्मीमणि वहीं थे। एक दीक्षित भक्त भी माँ के दर्शनार्थ वहाँ पहुँचा। वह बड़ा सरल स्वभाव का था, इसलिए श्रीमाँ का उस पर बहुत स्नेह था। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि सरल हुए बिना भगवत्प्राप्ति नहीं होती। बालकों की सरलता का दृष्टान्त देकर वे कहते कि अनेक जन्मों के पुण्य से शिशु-सुलभ सरलता प्राप्त होती है।

श्रीमाँ ने बड़े स्नेह के साथ उसे खिलाया-पिलाया। उससे कितनी ही बातें कीं, कितना ही आशीर्वाद दिया! स्नेह और आन्तरिकता की सीमा न थी। वह भक्त श्रीरामकृष्ण देव की पुण्य

जन्मभूमि कामारपुकुर में, जगज्जननी के अगाढ़ स्नेहपूर्ण वातावरण में बड़े आनन्द से था। पता नहीं क्यों दूसरे ही दिन अकस्मात् श्रीमाँ ने उससे पूछा, "तुम घर कब जाओगे ?"

भक्त को यह प्रश्न कुछ अटपटा-सा प्रतीत हुआ। साथ ही मन में कुछ खेद भी हुआ। साधारणतया श्रीमाँ के समीप कोई भक्त आने पर वे उसे छोड़ना नहीं चाहतीं, न उसे जाने की आज्ञा ही देतीं। कुछ खिन्न होकर भक्त ने उत्तर दिया, "माँ, मैंने बेलुड़-मठ नहीं देखा है, इसलिए मठ होते हुए घर जाऊँगा।"

माँ बोलीं, "इस समय मठ जाने की आवश्यकता नहीं, तुम आज ही घर चले जाओ।"

भक्त — "माँ, इतनी दूर आया हूँ, मठ के दर्शन किये बिना मैं घर लौटना नहीं चाहता।"

"नहीं, तुम घर लौट जाओ। मेरी आज्ञा की अवहेलना नहीं करनी चाहिए।" श्रीमाँ के कण्ठ में कुछ आदेश-जैसा स्वर ध्वनित हो उठा। फिर भी भक्त उस समय तक कुछ निश्चय न कर पाया। एक ओर मठ जाने की तीव्र अभिलाषा थी, और दूसरी ओर माँ का आदेश था! अन्त में घर लौटने का ही निश्चय कर दूसरे दिन वह श्रीमाँ से विदा लेने के लिए उपस्थित हुआ। उसके प्रणाम करके मस्तक उठाते ही श्रीमाँ ने उसका नाम लेकर कहा, "बैकुण्ठ, मुझे पुकारते रहना।"

उस समय श्रीमाँ मानो दूसरी ही हो गयीं, कण्ठ में देवी का स्वर ध्वनित हो उठा। दूसरे ही क्षण अपने को सँभालकर वे बोलीं, "ठाकुर को पुकारते रहना। उन्हें पुकारने से ही हो जायगा।"

श्रीरामकृष्ण की भतीजी लक्ष्मीमणि उनके समीप ही बैठी हुई थीं। श्रीमाँ का कण्ठ-स्वर सुनकर वे चौंक उठीं और उनकी वह मूर्ति देखकर उनके विस्मय का ठिकाना न रहा। कुछ रुककर वे बोलीं,

"नहीं, माँ, यह कैसी बात है ? यह तुम्हारा सरासर अन्याय है। इस प्रकार सन्तानों को भुलावा देने से कैसे काम चलेगा ?"

सहज-स्वर में श्रीमाँ ने पूछा, "क्यों भला, मैंने क्या किया ?"

लक्ष्मीमणि — "माँ, अभी तो तुमने वैकुण्ठ से कहा, 'मुझे पुकारते रहना।' और फिर अब कह रही हो, 'ठाकुर को पुकारना'।"

श्रीमाँ ने फिर भी उसी बात को — उसी सार बात को — दुहराया, "क्यों भला, ठाकुर को पुकारने से ही तो सब हुआ !"

भक्त का पक्ष लेती हुई तब लक्ष्मीमणि बोलीं, "माँ, इस प्रकार भुलावा देना तुम्हारे लिए ठीक नहीं है।" भक्त की ओर देखकर उन्होंने कहा, "देखो वैकुण्ठ, मैंने आज यह पहली बार माँ को कहते हुए सुना कि 'मुझे पुकारना'। तुम यह बात मत भूलना।... तुम्हारा यह सौभाग्य है कि माँ ने स्वयं तुमसे यह बात कही है। तुम माँ को ही पुकारते रहना।" फिर श्रीमाँ की ओर देखकर बोलीं, "क्यों माँ, अब ठीक हुआ न ?"

इस प्रकार पकड़ में आ जाने के कारण श्रीमाँ का मुखमण्डल लज्जा से आरक्त हो उठा, मौन धारण कर मानो उन्होंने अपनी मूक-सम्मति प्रदान की।

श्रीमाँ ने फिर से भक्त से कहा, "तुम यहाँ से सीधे घर जाना, अभी मठ या यहाँ-वहाँ कहीं जाने की आवश्यकता नहीं। घर जाकर माता-पिता की सेवा करो। इस समय पिता की सेवा करना उचित है।"

घर पहुँचकर भक्त ने देखा कि उसके पिता अकस्मात् सख्त बीमार हो गये हैं। कामारपुकुर जाते समय वे पूरी तरह स्वस्थ थे। छः-सात दिन बाद ही उनका देहान्त हो गया।

त्रिकालदर्शिनी माँ ने उसे क्यों बलपूर्वक घर भेजा था, यह समझना भक्त के लिए बाकी न रहा।

इस बार लगभग आठ महीने बाद श्रीमाँ कलकत्ता जा रही थीं।

वह स्वदेशी आन्दोलन का युग था। कोयालपाड़ा-आश्रम में करघे-चरखों के प्रावान्य की ओर श्रीमाँ की दृष्टि पड़ चुकी थी। इसलिए कलकत्ता रवाना होने से कुछ दिन पूर्व श्रीमाँ ने जयरामबाटी में कोयालपाड़ा-आश्रम के अध्यक्ष से कहा, "देखो, बेटा, तुम लोगों ने जब ठाकुर के निमित्त मन्दिर और हम लोगों के लिए मार्ग में विश्राम लेने के हेतु एक स्थान की व्यवस्था की है, तो मेरी इच्छा है कि अबकी बार कलकत्ता जाते समय वहाँ ठाकुर को बिठा जाऊँ। तुम सब तैयारी करके रखना। अब से पूजा, भोग, आरती आदि सब नियमित रूप से करना। खाली स्वदेशी-आन्दोलन से क्या होगा? हम लोगों के लिए ठाकुर ही सब कुछ हैं। वे सबके मूल में हैं, वे ही आदर्श हैं। जो कुछ करना हो, उनका आश्रय लेकर करो, फिर उसमें किसी प्रकार की अड़चन नहीं होगी।"

स्वामी विवेकानन्दजी की स्वदेश-सेवा की भावना से प्रेरित होकर ही उक्त आश्रम के अध्यक्ष ने अपने आश्रम में करघे और चरखे का प्रवर्तन किया था। इसलिए उन्होंने कहा, "स्वामीजी ने तो देश-सेवा करने के लिए बहुत कहा है और देश के युवकों को प्रोत्साहित करके निष्काम-कर्म का प्रवर्तन किया है। यदि आज वे जीवित होते, तो इस कार्य में न जाने कितनी प्रगति हो जाती।"

स्वामीजी का नाम सुनते ही श्रीमाँ के अन्तस्तल में एक करुण-स्वर झंकृत हो उठा। वे बोलीं, "अरे बेटा, आज यदि मेरा नरेन जीवित होता, तो क्या 'कम्पनीवाले' † उसे छोड़ देते? उसे जेल में ठूँस देते। मैं तो वह दृश्य नहीं देख सकती। नरेन मानो म्यान से निकली हुई नंगी तलवार था। विलायत से लौटकर वह मुझसे कहने लगा, 'माँ, आपके आशीर्वाद से इस युग में छलाँग न मारकर, उन लोगों के बनाये हुए जहाज पर चढ़कर उस देश में गया था, और

† अँगरेज सरकार।

देखा कि वहाँ भी ठाकुर की कैसी अपार महिमा है! कितने ही सज्जनों ने मुझसे ठाकुर की बातें सुनीं और उनका भाव ग्रहण किया।' वे भी तो मेरी ही सन्तानें हैं — क्या कहते हो!"

श्रीमाँ की इस प्रकार आवेगपूर्ण बातें सुनकर सभी स्तब्ध हो गये।

९

कलकत्ता जाते हुए श्रीमाँ यथासमय कोयालपाड़ा आश्रम में आयीं। उनके निर्देशानुसार आश्रम में श्रीठाकुर की विशेष पूजा का आयोजन पहले ही हो चुका था। श्रीमाँ ने स्वयं ठाकुर का और अपना चित्र पास-पास रखकर पूजा समाप्त की, तथा एक संन्यासी के द्वारा यथारीति होमादि कार्य सुसम्पन्न कराया। †

---

† श्रीमाँ अपना चित्र उतरवाने नहीं देती थीं। उनका प्रथम चित्र सम्भवतः सन् १८९९ ई. में उतारा गया था। श्रीमाँ चित्र उतरवाने को बिलकुल राजी न थीं; क्योंकि उसी समय उनकी प्रिय सन्तान और सेवक स्वामी योगानन्द का शरीर-त्याग हुआ था। अतः वे अत्यन्त शोकाकुल थीं। स्वामी विवेकानन्दजी की पाश्चात्य महिला-शिष्या सारा बुल ने कातर-वाणी से कहा, "माँ, मैं आपका चित्र अमेरिका ले जाकर उसकी पूजा करूँगी।" बहुत अनुनय-विनय करने पर अन्त में माताजी सहमत हुईं और चित्र उतारा गया। यही श्रीमाँ का प्रथम चित्र था।

बाद को समय-समय पर श्रीमाँ के दूसरे चित्र भी लिये गये थे। एक बार उनका एक नया चित्र छपकर आया और उनके हाथों में दिया गया। उन्होंने लेते ही उस चित्र को अपने मस्तक से छुलाया। इस पर वहाँ उपस्थित लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। अपने ही चित्र को प्रणाम करना! कौतूहल-भरे प्रश्न को सुनकर श्रीमाँ ने कहा, "क्यों? इसमें ठाकुर जो हैं!" उत्तर सुनकर प्रश्नकर्ता विस्मित और स्तब्ध रह गया। यह वेदान्त-दृष्टि द्वारा सर्वत्र ब्रह्म-दर्शन नहीं है। श्रीठाकुर

श्रीमाँ २४ नवम्बर, सन् १९११ ई. (बँगला ८ अगहन, सन् १३१८) को कलकत्ता पहुँचीं। उनके आगमन से भक्तों के हृदय में आनन्द का स्रोत उमड़ आया। श्रीमाँ के कृपा-प्रार्थी होकर नाना स्थानों से भक्तगण आने लगे। श्रीमाँ ने कृपा-द्वार उन्मुक्त कर दिया। कोई वंचित न रहा उस कृपा से। उस पारसमणि के स्पर्श से सैंकड़ों जीवन स्वर्ण में परिणत होने लगे।

"संसार को मातृ-भाव की शिक्षा देने के लिए ही सारदा देवी का देह-धारण हुआ था।" वे पहले थीं 'माँ', और बाद में 'गुरु'। उनके मातृ-भाव ने गुरु-भाव को छा लिया था। जिस किसी ने उन्हें 'माँ' कहकर पुकारा, उसी को उन्होंने अपनी स्नेह-भरी गोद में उठा लिया। वहाँ रूपवान-कुरूप, पुरुष-स्त्री, बालक-बालिका, सबल-दुर्बल का कोई भेद नहीं था। 'माँ' की पुकार उनके हृदय में प्रबल हलचल उत्पन्न कर देती थी। गोद में लिये बिना, आश्रय दिये बिना वे शान्त नहीं रह सकती थीं। आश्रितों के लिए वे तो केवल इहकाल की ही नहीं, वरन् परकाल की भी सम्बल हैं — उनको वे भवसागर-पार ले जायँगी।

श्रीसारदा देवी में गुरु-भाव की जो अभिव्यक्ति थी, वह मानो मातृ-भाव की ही परिणति थी। जिन्हें एक बार उन्होंने गोद में ले लिया, उन्हें तो वे फेंक नहीं सकतीं! इसी लिए वे गुरु-रूप में आश्रित सन्तानों को भवसागर के उस पार ले जा रही थीं। वहीं

और श्रीमाँ अभिन्न जो हैं! श्रीमाँ ने चित्र को प्रणाम करके अपने को सारे जगत् के लिए प्रणम्य कर दिया। उनका ज्ञान है प्रत्यक्षानुभूति पर प्रतिष्ठित विज्ञान, ब्रह्मवादियों की भाषा मात्र नहीं। श्रीरामकृष्ण देव भी अपना चित्र देखकर भावस्थ हो गये थे। उन्होंने चित्र को नमस्कार करते हुए कहा था कि यह बहुत ऊँची समाधि-अवस्था का चित्र है। यह भी कहा, "घर-घर में इसकी पूजा होगी।"

। -- माँ और सन्तान। चिर-मिलन। उनका मातृ-स्नेह दैवी
तृ-स्नेह जो है!

अपनी आश्रित सन्तानों के लिए उन्हें कितनी चिन्ता, कितनी
कण्ठा रहती थी! विपत्ति के समय उनकी रक्षा में वे प्राणपण से
ा जाती थीं। पक्षी-माता की भाँति वे अपने स्नेह-पंख फैलाकर
तानों को घेरे रखती थीं और सब प्रकार की विपत्तियों से उनकी
ता करती थीं। किसी आश्रित सन्तान की निराशा देखकर करुणा-
र्त श्रीमाँ ने कहा था, "...तुम लोग क्या सोचते हो, यदि ठाकुर
ह शरीर न भी रखें, तो भी जिन लोगों का भार मैंने लिया है,
नमें से एक के भी बाकी रहते मेरी छुट्टी होगी? नहीं, उन सबके
थ रहना होगा। उनके भले-बुरे का भार लेना जो पड़ा है!...
नको अपना समझकर स्वीकार किया है, उनको तो फेंक नहीं
कती!..." आवेग से श्रीमाँ का कण्ठ रुद्ध हो आया।

शास्त्रों में शिष्य के लिए गुरु-सेवा का विधान है। गुरु शिवमूर्ति
— भगवान के नररूप हैं। गुरुरूपी भगवान की तन-मन-वचन से सेवा
बसे उत्तम साधना है और सिद्धि का द्वार है। पर श्रीमाँ में इसका
परीत व्यवहार दीख पड़ता था। वे केवल गुरु नहीं, वे तो माँ हैं!
ी लिए वे अपनी शिष्य-सन्तानों की अकुण्ठित सेवा, स्नेह-माधुर्यमय
ता करती थीं। उन लोगों को अपनी सेवा करने का कोई अवसर ही
हीं देती थीं। वे शिष्यों का निषेध नहीं मानती थीं। इससे शिष्यों के
न में विशेष क्षोभ उत्पन्न होता था; किन्तु माँ के हृदय में असीम
प्त होती थी!

एक दिन बागबाजार में श्रीमाँ के दर्शनार्थ एक भक्त आया।
ह ग्रीष्म के प्रचण्ड सूर्यातप में जल-भुनकर आया था। अनेक प्रकार
सांसारिक अशान्ति से दग्ध हो, स्निग्धता की चरण-छाया में आया
। पसीने से लथपथ, ऊपर जाकर ज्योंही उसने शान्तिमयी के चरणों

में प्रणाम किया, त्योंही वे एक पंखा लेकर शीतल व्यजन करने लगीं। सन्तान के उस उत्ताप-तप्त मुख की ओर देखकर करुणामयी माँ का हृदय रो उठा। शिष्य के लाख मना करने पर भी वे न मानीं। कोमल स्वर से कहने लगीं, "नहीं वेटा, तुम वैठो, मैं पंखा झलती हूँ।" उस मंगल समीर के स्पर्श से शिष्य के मन-प्राण शीतल हो गये। गरमी से तपा हुआ मलिन मुखमण्डल तृप्ति के आनन्दोल्लास से उज्ज्वल हो उठा। अशान्ति-दग्ध प्राण शान्ति-मलयानिल के स्पर्श से स्निग्ध हो गये।

श्रीमाँ की स्नेह-ममता का रस जिसने एक दिन के लिए भी पाया है, वही जानता है कि उनका अपनी सन्तानों के प्रति कितना गम्भीर आकर्षण था। उन पुण्य-स्मृतियों ने अम्लान-ज्योति की भाँति सन्तानों के हृदय-मन्दिर को आलोकित कर रखा है। वे सभी को अपने स्नेहपूर्ण अंक में खींच लेती थीं। ठीक माता के ही समान, वे भी अपनी सन्तानों से कोई आड़ न रखती थीं। वे सचमुच की माँ जो थीं!

एक दिन श्रीमाँ की एक महिला-शिष्या पाठशाला की छुट्टी के वाद मध्याह्न की कड़ी धूप में माताजी के निकट आयी। माँ वड़ी व्यग्र हो उठीं। कहने लगीं, "अरे, भोजन के वाद ही दौड़ी आ रही हो? अच्छा, अव थोड़ी देर मेरे पास सो जाओ।"

श्रीमाँ के विछौने पर सोने में शिष्या को संकोच होने लगा। वे तो गुरु हैं, जगज्जननी हैं — उनके विछौने पर सोना! श्रीमाँ प्रेमपूर्वक वोलीं, "उसमें क्या है, वेटी; आओ, लेट जाओ। मैं कहती हूँ, लेट जाओ।" निरुपाय हो शिष्या को श्रीमाँ के पास लेटना पड़ा।

और एक दिन वही महिला-सन्तान दोपहर में स्कूल की छुट्टी के समय माताजी के निकट आयी। गरमी के दिन थे — धूप वड़ी तेज थी। उसे पसीने से लथपथ देख श्रीमाँ वहुत व्यग्र हो उठीं। तुरन्त मसहरी पर से पंखा ले, झलती हुई वोलीं, "जल्दी कुरती खोल लो, शरीर में हवा लगने दो।"

संकुचित हो शिष्या जितना ही अनुरोध करने लगी, "पंखा मुझे दीजिए, मैं झल लेती हूँ", उतना ही माँ करुण-स्वर में कहने लगीं, "रहने दो, पहले कुछ ठंडी हो लो।"

अनन्तर सन्तान को ठंडा जल और कुछ मिठाई खिलाकर तब कहीं माँ के प्राण शीतल हुए। यह घटना है तो सामान्य, पर श्रीमाँ के अहेतुक स्नेह-सौरभ से वह असामान्य हो गयी है।

श्रीमाँ जब-जब बागबाजार में रहती थीं, वहाँ विभिन्न स्थानों से आये हुए भक्तों की भीड़ लग जाती थी। सवेरे से रात के ग्यारह बजे तक उनके पास भक्तों का ताँता लगा रहता था। स्त्री-भक्तों की संख्या ही अधिक रहती थी। सेवकगण भी इस भीड़ को रोकने में असमर्थ होते थे। एक दिन किसी सेवक ने दुःखित होकर कहा, "माँ, सारे दिन भक्तों की भीड़ लगी रही। तुम्हें जरा भी विश्राम न मिला।"

माँ ने करुण-स्वर से कहा, "मैं तो ठाकुर से दिन-रात प्रार्थना करती रहती हूँ, 'ठाकुर, यह सब कम कर दो, थोड़ा विश्राम तो लेने दो।' पर वैसा होता कहाँ है? जितने दिन हूँ, ऐसा ही चलेगा। अब चारों ओर (ठाकुर की वाणी का) प्रचार हो गया है न, इसी लिए इतनी भीड़ होती है।... मैं कितना कहती हूँ, 'अपने कुल-गुरु से मन्त्र-दीक्षा लो, वे (कुल-गुरु) कुछ पाने की आशा रखते हैं। मैं तो कुछ नहीं चाहती।' पर क्या करूँ, वे लोग नहीं मानते, रोते हैं। देखकर दया होती है। फिर, मेरे भी तो दिन अब पूरे हो चले हैं। अब जितने दिन रहूँगी, ऐसा ही चलेगा।"

श्रीमाँ के पास कितने प्रकार के भक्त आते थे! उनकी कैसी भाव-प्रवणता और कैसी विचित्र भक्ति थी! एक दिन सवेरे की बात है, श्रीमाँ पूजा करके उठी ही थीं कि एक भक्त फूलों का ढेर लिये उनकी चरण-पूजा के लिए आ पहुँचा। वे अपना सारा शरीर चादर से

ढककर, पैर नीचे लटकाकर खाट पर बैठ गयीं। भक्त भी उनके चरणों में फूल चढ़ाकर प्रणाम करके उनके सामने काठ-सा बनकर बैठ गया और नाक दबाकर लगा प्राणायाम करने !

सभी लोग अपने-अपने काम में व्यस्त थे, श्रीमाँ के पास कोई न था। बहुत समय बाद गोलाप-माँ श्रीमाँ के कमरे में आयीं। देखते ही उन्होंने सारा मामला समझ लिया। झटपट भक्त का हाथ पकड़कर उसे उठाती हुई कुछ ऊँचे स्वर से बोलीं, "यह क्या तुमने काठ का देवता पाया है, जिसको तुम अपने प्राणायाम से चेतन करने जा रहे हो ? इतनीसी भी बुद्धि नहीं है ? माँ को पसीने से कितना कष्ट हो रहा है !"

और एक दिन की बात है। एक भक्त श्रीमाँ को प्रणाम करने आया। प्रणाम करते समय उसने उनके पैर के अँगूठे पर अपना सिर जोर से पटक दिया। श्रीमाँ पीड़ा से 'उफ' कर उठीं। पास में उपस्थित लोगों ने उस भक्त से कहा, "यह तुमने क्या किया ?" इस पर वह बोला, "माँ के पैर पर सिर पटककर पीड़ा दिये जा रहा हूँ। जब तक यह दर्द रहेगा, तब तक माँ को मेरी याद बनी रहेगी।"

सो वह यथार्थ में माताजी की याद में बना रहा ! कितनी ही बार कितने ही लोगों के पास श्रीमाँ ने हँसते-हँसते इस भक्त की बात कही थी।

एक दिन दोपहर में एक भावुक भक्त आया और बड़ी गड़बड़ी मचाने लगा। जिस प्रकार गिरिश घोष श्रीरामकृष्ण देव के पास हठ करते थे, उन पर अपना अधिकार प्रदर्शित करते थे, यहाँ तक कि उनको भली-बुरी भी सुना देते थे, यह भक्त भी मानो उन्हीं का अनुकरण कर रहा था। भक्त ने श्रीमाँ के पास जिद पकड़ ली, "ठाकुर को दिखा दो, क्यों न दिखाओगी ? भगवान के नाम में मुझे

पागल बना दो — मैं समाधिस्थ होकर रहना चाहता हूँ।" और भी कितने प्रकार की जिद! बड़ी गड़बड़ी मचा दी थी उसने। उसी घटना का जिक्र कर श्रीमाँ कहने लगीं, "उन्होंने (ठाकुर ने) किसी को (मेरे बारे में) पता तक न लगने दिया — कितनी सावधानी से रखा था। पर अब तो बाजार में ढोल पीट दिया गया है। यह सब मास्टर ('म') का ही काम है। नाना प्रकार की बातें 'कथामृत' (श्रीरामकृष्णवचनामृत) में छपाकर लोगों का दिमाग खराब कर दिया है।... मन्त्र लेने के लिए क्या यही एक जगह है? ... मैं तो यहाँ तक कह चुकी हूँ कि कुल-गुरु को त्यागने से महापाप होता है। तो भी कोई सुनता नहीं।"

सेवक—"तुम मन्त्र जो देती हो, वह तो इच्छा करके ही देती हो।"

आवेग से श्रीमाँ का मुखमण्डल रक्तिम हो उठा। कुछ चुप रहकर बोलीं, "दया के वश हो मन्त्र देती हूँ। वे लोग मानते नहीं, रोते हैं, देखकर दया आती है। कृपा के वश हो मन्त्र दे देती हूँ। नहीं तो मेरा क्या लाभ? मन्त्र देने से शिष्य का सारा पाप ले लेना पड़ता है। सोचती हूँ, शरीर तो जायगा ही, तो फिर इन लोगों का कुछ लाभ हो जाय न।"

भगवान की प्राप्ति मानो बड़ी सहज और साधारण बात है! कई भक्त ऐसी ही भावना लेकर श्रीमाँ के पास नाना प्रकार के हठ करते थे। उसके लिए कितनी तपस्या, कितना साधन-भजन आवश्यक है; पर कष्ट उठाना कोई नहीं चाहता। और तिस पर चाहते हैं कि उनको ईश्वर-दर्शन करा दिया जाय! इस प्रसंग में एक दूसरे समय श्रीमाँ ने कहा था, "अहा, उस समय (ठाकुर के समय) कैसे सुन्दर भक्त थे सब। अब तो जो भी आता है, बस यही कहता है, 'ठाकुर को दिखा दो।' न साधना है, न भजन, न जप-तप; पिछले जन्मों में न जाने क्या-क्या सब किया है — कितनी गो-हत्या, ब्रह्म-हत्या, भ्रूण-

हत्या की है। यह सब धीरे-धीरे कटेगा, तब तो होगा? आकाश में चन्द्रमा बादलों से घिर गया है। जब हवा से मेघ तितर-बितर हो जायेंगे, तब तो चन्द्रमा दिखेगा। चटपट क्या कभी कुछ होता है? यह भी ऐसा ही है।

"धीरे-धीरे कर्मों का क्षय होता है। भगवान की प्राप्ति होने पर उनकी कृपा से अन्तःकरण में ज्ञान और चैतन्य की स्फूर्ति होती है। वही आत्मानुभूति है।"

एक दिन सन्ध्या समय श्रीमाँ को प्रणाम करने दस-बारह वर्ष का एक लड़का अन्य भक्तों के साथ आया। माताजी को प्रणाम करते ही वह उनके चरण पकड़कर फूट-फूटकर रोने लगा। रोने का कारण पूछने पर उसने कहा, "माँ की कृपा चाहिए।" संन्यासी-सेवक बोले, "कृपा कैसी रे! होगी, बाद में होगी। अब चल।" तो भी उसका रोना न रुका। पता चला कि वह मन्त्र-दीक्षा लेना चाहता है। सेवक ने सोचा — शायद सुनी हुई बात कह रहा है। इतना छोटा लड़का मन्त्र की सार्थकता क्या समझ सकता है?

दूसरे दिन भी वह लड़का आया। सेवक ने देखा कि वह बहुत से भक्तों के साथ बाहर के चबूतरे पर बैठा हुआ है। ऐसे तो कितने ही भक्त आते रहते थे, इसलिए किसी ने उसकी विशेष पूछ-ताछ नहीं की।

सेवक बाजार से सौदा लेकर लौट रहे थे। रास्ते में उस बालक से भेंट हो गयी। वह आनन्द से नाचता हुआ चला जा रहा था। सेवक ने पूछा, "क्यों रे, क्या हुआ है?" आनन्द से भरा उत्तर मिला, "मेरी दीक्षा हुई है।" सेवक ने लौटकर सुना कि श्रीमाँ ने राधू से कहा था, "देख, नीचे चबूतरे पर एक लड़का बैठा हुआ है, उसे बुला ला।" लड़के को बुलाकर श्रीमाँ ने उसे मन्त्र-दीक्षा दी।

श्रीमाँ से भेंट होते ही सेवक ने पूछा, "माँ, इतने छोटे लड़के को भला क्या दीक्षा दी? वह समझता ही क्या है?"

उन्होंने उत्तर दिया, "जो हो, बेटा, बच्चा ही तो है। कल पैर पकड़कर इतना रोया। भगवान के लिए कौन रोता है भला? ऐसा कितनों को होता है?" एक ओर तो माँ मानो और कुछ नहीं कर सकतीं, और दूसरी ओर करती हैं इस प्रकार अयाचित कृपा! इसी भाँति श्रीमाँ का जीवत्राणरूपी महान् कार्य चल रहा था।

धीरे-धीरे शारदीया-पूजा का दिन आ पहुँचा। इस वर्ष (बंगाब्द १३१९) बेलुड़ मठ में भी दशभुजा-देवी की आराधना होनेवाली थी। स्वामी प्रेमानन्द श्रीमाँ की अनुमति और आशीर्वाद ले देवी-पूजा के आयोजन में जी-जान से लग गये। प्रेमानन्दजी की विशेष प्रार्थना से श्रीमाँ पूजा के कुछ दिन मठ के पास ही रहने को सम्मत हो गयीं। आनन्दमयी का आगमन होनेवाला था! साधु-भक्तों के हृदयों में आनन्द के स्वर बज उठे।

बोधन के दिन अपराह्न में श्रीमाँ बागबाजार से बेलुड़-मठ आनेवाली थीं। मठ के उत्तर ओर के उद्यान-भवन में उनके निवास की व्यवस्था की गयी थी। सन्ध्या होने ही वाली थी। श्रीमाँ के आगमन में विलम्ब देखकर प्रेमानन्दजी व्याकुल-चित्त से इधर-उधर दौड़ने लगे। मठ के प्रवेश-द्वार में केले के खम्भे और मंगल-घट की स्थापना न हुई देखकर वे बोल उठे, "अभी तक मंगल-घट की स्थापना नहीं हुई — भला, माँ आयेंगी कैसे?"

इधर देवी का बोधन ज्योंही समाप्त हुआ, त्योंही उधर श्रीमाँ की गाड़ी मठ के फाटक पर आ पहुँची। तुरन्त स्वामी प्रेमानन्दजी ने साधु-भक्तों की सहायता से गाड़ी का घोड़ा खोल दिया और सब मिलकर गाड़ी को मठ-प्रांगण में खींच लाये। माँ जो आयी थीं! श्रीमाँ की गाड़ी खींचते-खींचते प्रेमानन्दजी भाव में — प्रेमानन्द में मतवाले हो डगमगाने लगे! उनके अंग-प्रत्यंग पर आनन्द की दीप्ति बिखर गयी।

एक संगिनी ने श्रीमाँ का हाथ पकड़कर बड़ी सावधानी से उन्हें

गाड़ी से उतारा। सारी व्यवस्था देखकर वे आनन्दित हो बोलीं, "सब बिलकुल सजा हुआ है। हम लोग सज-बजकर मानो दुर्गा देवी बनकर आयी हैं।" श्रीमाँ संगिनियों को लेकर आयी हैं। योगीन-माँ और गोलाप-माँ मानो जया और विजया हैं, फिर साथ में लक्ष्मीमणि आदि भी हैं।

श्रीमाँ के शुभागमन से सभी लोग देवी का चिन्मय-आविर्भाव अनुभव कर कृतकृत्य हो गये। पूजा के तीन दिन सैकड़ों भक्तों ने 'जीवन्त दुर्गा' को प्रणाम किया, उनके दर्शन किये। कुछ भाग्यवानों ने मन्त्र-दीक्षा भी पायी। तीन दिन तक मठ में दिव्यानन्द का स्रोत उमड़ता रहा।

एक लड़के ने स्वप्न में मन्त्र पाया था। श्रीरामकृष्ण ने उसे गोद में लेकर मन्त्र दिया था। वह लड़का श्रीमाँ के पास मन्त्र-जप की प्रणाली आदि जान लेने के लिए आया। श्रीमाँ ने उस प्रसंग में कहा, "यह देखो न, ठाकुर ने उस ब्राह्मण-पुत्र को गोद में लेकर मन्त्र दिया है।"

सेवक ने पूछा, "माँ, तुमने क्या फिर से उसे मन्त्र दिया?"

श्रीमाँ—"नहीं। मैंने कहा, 'तुम कृपा-सिद्ध हो। तुम इस मन्त्र के जप से ही सिद्ध हो जाओगे।' मैं भला उसका मन्त्र क्यों सुनने लगी? मैंने उसे जप करने की विधि बतला दी।"

विजयादशमी के दिन सन्ध्या के बाद प्रतिमा को नौका में ले जाकर गंगा में विसर्जन किया जा रहा था। श्रीमाँ भी गंगा के तीर पर खड़ी प्रतिमा-विसर्जन देख रही थीं। एक भक्त प्रतिमा के सम्मुख नाना प्रकार की अंग-भंगी और हास्य-विनोद के साथ नृत्य कर रहा था। श्रीमाँ यह देखकर बड़ी आनन्दित हुईं। पर एक मार्जित-रुचि ब्रह्मचारी को वह सब अच्छा न लगा। श्रीमाँ यह जानकर बोलीं, "नहीं, नहीं, यह सब ठीक है। गीत-वाद्य, हास्य-विनोद — सब प्रकार से देवी को आनन्द देना चाहिए।"

मठवासियों को आशीर्वाद दे श्रीमाँ विजयादशमी के दूसरे दिन कलकत्ता लौट गयीं।

इसके कुछ दिन पश्चात् श्रीमाँ को काशी की यात्रा करनी पड़ी। उनके साथ सेवक, भक्त, स्त्री-भक्त आदि बहुत से लोग गये। काशी-स्थित अद्वैताश्रम में श्यामा-पूजा का आयोजन हुआ था। बंगाब्द १३१९ सन्, कार्तिक की २०वीं तिथि, एकादशी, मंगलवार को श्रीमाँ सबको लेकर काशी पहुँचीं। आश्रम के निकट ही एक भक्त के नवनिर्मित दुमंज़िले मकान में श्रीमाँ के रहने की व्यवस्था हुई थी। अद्वैताश्रम में कुछ समय तक विश्राम कर श्रीमाँ अपने निवास-स्थान पर चली गयीं।

श्रीमाँ ने काशी में शुभागमन किया है, विश्वेश्वर के समीप विश्वेश्वरी आयी हुई हैं! इस आनन्द-महोत्सव में सहयोग देने के लिए श्रीरामकृष्ण देव के अन्तरंग पार्षदों में से ब्रह्मानन्द, शिवानन्द, तुरीयानन्द, सुबोधानन्द और मास्टर महाशय (श्री 'म') भी आ गये। अविमुक्तपुरी काशी में, विश्वनाथ के धाम में विश्वजननी और उनकी सन्तानों का समावेश हुआ! सबके भीतर दिव्यानन्द का समारोह चलने लगा!

दूसरे ही दिन श्रीमाँ विश्वनाथ और अन्नपूर्णा के दर्शनों के लिए गयीं। अद्वैताश्रम में श्यामा-पूजा बड़े समारोह और आनन्द के साथ सम्पन्न हुई। श्यामा-पूजा के दूसरे दिन सबेरे श्रीमाँ स्थानीय रामकृष्ण-मिशन-सेवाश्रम में पधारीं। वहाँ उन्होंने रोगियों का वासस्थान, औषधि आदि देने की जगह, बगीचा, मकान आदि सब घूम-घूमकर देखा। वह सब देखकर वे बड़ा आनन्द प्रकट करने लगीं। उन्होंने पूछकर सेवाश्रम की स्थापना का प्रारम्भिक इतिहास मालूम कर लिया। सब कुछ देख-सुनकर वे सन्तोष प्रकट करती हुई बोलीं, "यहाँ ठाकुर स्वयं विराजमान हैं, और माता लक्ष्मी पूर्ण

होकर अवस्थित हैं।" और भी कहा, "यह स्थान इतना सुन्दर है कि मेरी इच्छा काशी में रह जाने की हो रही है।" अपने निवास-स्थान पर लौटकर श्रीमाँ ने उसी समय सेवाश्रम के दान-भंडार के निमित्त दस रुपये का एक नोट भिजवा दिया। वह नोट स्वयं लक्ष्मी की प्रसन्नता के चिह्नस्वरूप एक महारत्न के रूप में आज भी सेवाश्रम में सावधानी से सुरक्षित रखा हुआ है।

सेवाश्रम देखकर श्रीमाँ जब अपने निवास-स्थान पर लौट आयीं, तब एक भक्त ने उन्हें प्रणाम करके पूछा, "माँ, सेवाश्रम कैसा देखा?" श्रीमाँ ने शान्त भाव से उत्तर दिया, "देखा, ठाकुर वहाँ प्रत्यक्ष रूप से विराजमान हैं — इसी लिए यह सब काम हो रहा है। यह सब उन्हीं का काम है।"

श्रीमाँ का यह अनुमोदन जब स्वामी ब्रह्मानन्दजी को बतलाया गया, तो वे बड़े आनन्दित हुए और स्वामी शिवानन्दजी को इस सम्बन्ध में बतलाया। इसी समय मास्टर महाशय भी अद्वैताश्रम में आ पहुँचे। मास्टर महाशय की धारणा थी कि स्वामीजी (स्वामी विवेकानन्द) ने जिस सेवा-धर्म का प्रवर्तन किया है, वह श्रीरामकृष्ण देव के भाव के प्रतिकूल है। इस सम्बन्ध में परमहंस देव के शिष्यों के बीच विचार और बहस भी हुई थी। इसी हेतु सेवा-कार्य के सम्बन्ध में श्रीमाँ का मत मास्टर महाशय को बतलाया गया। सुनकर मास्टर महाशय हँसते-हँसते बोले, "अब तो अस्वीकार करने का कोई उपाय नहीं!"

श्रीमाँ के मतामत पर श्रीरामकृष्ण के शिष्यगण कितनी गहरी श्रद्धा रखते थे — यह गम्भीर रूप से ध्यान देने की बात है।

इसके पहले भी श्रीमाँ दो बार काशी आयी थीं, पर अधिक दिन तक वहाँ रहने का सुयोग नहीं हुआ था। इस समय वे लगभग अढ़ाई महीने काशी में रहीं। इस बीच उन्होंने विश्वनाथ, अन्नपूर्णा, दुर्गा-

वाड़ी, केदार तिलभाण्डेश्वर तथा और भी नाना देवी-देवताओं के दर्शन किये। श्रीतिलभाण्डेश्वर के दर्शन कर उन्होंने कहा, "यह स्वयम्भू लिंग है।" फिर केदारनाथ के मन्दिर में आकर गंगा-दर्शन के पश्चात् उन्होंने आरती देखी। बाद में कहा था, "यह केदार और वह (हिमालय का) केदार दोनों एक हैं — परस्पर योग है।" श्रीमाँ गंगा-स्नान करती थीं और मन्दिर-मन्दिर में पूजा चढ़ाती थीं। उन्होंने श्रद्धासहित सम्पूर्ण काशीखण्ड सुना था। वे नित्य भागवत का पाठ भी सुनती थीं।

काशी के विख्यात यति चमेलीपुरी श्रीमाँ को बड़े भले लगे थे। उनके दर्शन करके आकर श्रीमाँ ने कहा था, "अहा, बूढ़े का चेहरा आँखों के सामने झूल रहा है — मानो ठीक छोटासा बच्चा हो।" दूसरे दिन उन्होंने इन संन्यासीप्रवर के लिए फल-मिठाई आदि और एक कम्बल भिजवा दिया।

एक दिन श्रीमाँ को बग्घी में सारनाथ दिखाने ले जाना हुआ। दूसरी फिटन में स्वामी ब्रह्मानन्द आदि गये। सारनाथ के प्राचीन ऐतिहासिक अवशेषों को देखकर श्रीमाँ बहुत ही पुलकित हुईं। लौटते समय स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने विशेष आग्रह करके श्रीमाँ को अपनी गाड़ी पर चढ़ाकर वापस भेजा। पहले तो श्रीमाँ किसी प्रकार राजी न हुईं। कहने लगीं, "नहीं, नहीं, उस गाड़ी में राखाल आया है, राखाल आदि उसमें जायँगे। मुझे इस गाड़ी में कोई तकलीफ न होगी।" ब्रह्मानन्दजी के विशेष अनुरोध करने पर अन्त में निरुपाय हो श्रीमाँ को फिटन में लौटना पड़ा। और श्रीमाँ जिस बग्घी में आयी थीं, उसमें ब्रह्मानन्दजी आदि बैठे। श्रीमाँ की गाड़ी कुछ ही दूर गयी थी कि स्वामी ब्रह्मानन्दजी की बग्घी का घोड़ा भड़क गया और रास्ते के किनारे एक गड्ढे में गाड़ी समेत उलट पड़ा। ब्रह्मानन्दजी के सारे शरीर में चोट लगी। पर वे तुरन्त अपनी शारीरिक वेदना भूल गये

और प्रफुल्ल-चित्त से कहने लगे, "भाग्य से माँ इस गाड़ी में नहीं गयीं!" बाद में यह घटना सुनकर श्रीमाँ ने कहा था, "यह दुर्घटना मेरे भाग्य में ही लिखी थी। पर राखाल ने जोर करके वह अपने ऊपर ले ली। नहीं तो गाड़ी में बच्चे-कच्चे सब थे — न जाने क्या होता!" श्रीमाँ के साथ भूदेव, राघू आदि थे।

काशी में एक दिन सन्ध्या समय श्रीमाँ अपने निवास-स्थान में बठी हुई थीं। पास में कुछ स्त्री-भक्त भी थीं। श्रीरामकृष्ण देव की बातें कहते-कहते श्रीमाँ मानो उस अतीत युग में चली गयीं। दक्षिणेश्वर और श्रीरामकृष्ण देव की उन स्मृतियों ने उन्हें विह्वल कर दिया। वे उत्साहपूर्वक कहने लगीं, "...जिसने एक बार भी ठाकुर को पुकारा है, उसके लिए भय की कोई बात नहीं। ठाकुर को पुकारते रहने पर उनकी कृपा होती है, तब कहीं प्रेम-भक्ति होती है। बेटी, वह प्रेम गोपनीय वस्तु है। व्रज-गोपियों को प्रेम-भक्ति हुई थी। वे कृष्ण को छोड़ और कुछ नहीं जानती थीं। नीलकण्ठ के गाने में है, 'ओ प्रेम रत्नधन, राखते हय अति जतने' (वह प्रेम रत्न-धन है, उसे बड़े यत्न से रखना पड़ता है)।" यह कहकर श्रीमाँ यह गाना गाने लगीं। अहा, कैसा मधुर कण्ठ था! कैसी माधुरी थी उनके गाने में! गाना होने पर कुछ देर तक भाव से विह्वल हो रहीं। तत्पश्चात् कहने लगीं, "अहा, नीलकण्ठ का गीत कैसा सुन्दर है! ठाकुर को बहुत ही प्रिय था। ठाकुर जब दक्षिणेश्वर में थे, नीलकण्ठ कभी-कभी आकर उन्हें गाने सुना जाता था। कितने आनन्द में थी मैं! कितने प्रकार के लोग उनके (ठाकुर के) पास आते थे! दक्षिणेश्वर में मानो आनन्द का मेला लग जाता था।"

अबकी बार श्रीमाँ के काशी-आगमन के साथ-ही-साथ एक बड़ी आश्चर्यजनक घटना घटी थी। कलकत्ते से रवाना होने के एक-दो दिन पूर्व उनका ब्रह्मचारी-सेवक अपने पितरों के उद्धारार्थ गया में

पिण्ड-दान करने गया। जाते समय श्रीमाँ को प्रणाम करके बोला, "माँ, देखना कि उनकी सद्गति हो।" ब्रह्मचारी ने जिस दिन गया में पिण्ड-दान किया, उसी रात को काशी में श्रीमाँ के पास सोये हुए उनके भतीजे भूदेव ने स्वप्न देखा कि श्रीमाँ पंचपात्र सामने रख जप करने बैठी हैं, और बहुत से लोग आ-आकर प्रार्थना कर रहे हैं — 'हमारा उद्धार कीजिए, हमारा उद्धार कीजिए।' यह सुनकर श्रीमाँ उनके शरीर पर पंचपात्र से शान्ति-जल लेकर छिड़कती हुई कह रही हैं, 'जा, तेरा उद्धार हो।' इस पर वे सब मुक्त होकर अत्यन्त आनन्द के साथ चले जा रहे हैं। सबसे अन्त में एक व्यक्ति आया। श्रीमाँ बोलीं, 'अब न कर सकूँगी।' उसकी कातर-प्रार्थना से विगलित हो श्रीमाँ ने उसका भी उद्धार कर दिया। गया में पिण्ड-दान करते समय, हृदय के आवेग में उक्त ब्रह्मचारी को जिस-जिसका नाम मन में आया, सबके निमित्त उसने पिण्ड-दान किया था।

दूसरे दिन भूदेव से स्वप्न का वृत्तान्त सुनकर श्रीमाँ ब्रह्मचारी का नाम लेकर बोलीं, "उसने गया में पिण्ड दिया है न, इसलिए इतने लोग मुक्त हो गये।" ब्रह्मचारी ने गया में पिण्ड दिया और अमरपद-दायिनी की कृपा से सबने मुक्ति पा ली!

एक दिन काशी में कुछ स्त्रियाँ श्रीमाँ के दर्शन करने आयीं। श्रीमाँ राधू, भूदेव आदि बच्चों को लेकर बड़ी व्यस्त थीं। उनकी साड़ी भी कुछ फट गयी थी, इसलिए उन्होंने एक स्त्री-भक्त से उसे सी देने को कहा। यह सब देखकर आयी हुई महिलाओं में से एक ने कहा, "माँ, आप तो घोर माया में बद्ध दीखती हैं।" अस्फुट स्वर में श्रीमाँ बोलीं, "क्या करूँ, बेटी, स्वयं ही माया हूँ।" यह माया-आवरण उनके जीवन का सर्वश्रेष्ठ माधुर्य है।

एक दिन दोपहर के बाद श्रीमाँ विश्राम कर रही थीं। घर भी शान्त और निस्तब्ध था। श्रीमाँ को कुछ नींद लग गयी थी। ऐसे

समय एक भिखारिनी करुण-कण्ठ से गाना गाने लगी। श्रीमाँ सहसा उठकर पूछने लगीं, "कौन गा रही है? चलो तो, बेटी, बरामदे में जाकर देखें।" आकर सबने विस्मित-नयनों से देखा कि बरामदे में एक भिखारिन लड़की व्याकुल-हृदय से गाना गा रही है और अश्रुधारा से उसका वक्षस्थल प्लावित हुआ जा रहा है।

श्रीमाँ के वहाँ पर आकर बैठते ही भिखारिन ने भक्ति-भाव से उन्हें प्रणाम किया। आवेग-भरे हृदय से वह बोली, "माँ, मेरी इतने दिनों की आशा आज पूरी हुई। आज मुझे कितना आनन्द हो रहा है, कह नहीं सकती, माँ!"

श्रीमाँ ने उसे बहुत आशीर्वाद दिया। परिचय पूछकर उससे और एक गाना गाने को कहा। भिखारिन गाने लगी —

(भावार्थ) — "माँ, मुझ पर दया करके मुझे शिशु के समान बनाये रखो। शैशव का सौन्दर्य छोड़ मुझे बड़ा मत होने दो। शिशु सुन्दर और सरल-हृदय होता है, मान-अपमान का उसे ज्ञान नहीं होता। ईर्ष्या, निन्दा, लज्जा, घृणा आदि वह कुछ भी नहीं जानता।"

श्रीमाँ उस भिखारिन लड़की की भक्ति देख बड़ी प्रसन्न हुई और उसे बहुतसा प्रसाद दिया। कहा, "फिर आना, बेटी।"

बाद में श्रीमाँ ने कहा था, "वह लड़की बड़ी भक्तिमती दिखती है।"

एक दूसरे दिन श्रीमाँ अपने कमरे के बरामदे में बैठी हुई थीं। समीप दो स्त्री-भक्त भी थीं। ऐसे समय वही भिखारिन लड़की श्रीमाँ को प्रणाम करने आयी — हाथ में एक अमरूद था। बड़ी कुण्ठित हो डबडबायी आँखों से वह कहने लगी, "माँ, आज भिक्षा में यह अमरूद पाया है। बड़ी इच्छा है कि आपको कुछ दूँ। यह तो बिलकुल तुच्छ चीज है। इसी लिए देने का साहस नहीं हो रहा है, माँ।" उसके कण्ठ में आकुल-प्रार्थना का स्वर था। "सो बहुत अच्छा किया। अहा,

दो, वेटी !" यह कहकर श्रीमाँ ने हाथ वढ़ाकर अमरूद ले लिया और उसे अपने मस्तक से छुलाया। फिर कहने लगीं, "यह अमरूद तो वहुत अच्छा है। मैं जरूर खाऊँगी। भिक्षा की चीज वड़ी पवित्र होती है। ठाकुर भिक्षान्न वहुत पसन्द करते थे।"

यह तो आशातीत हुआ! कितने भक्त कितने उपचार से श्रीमाँ की पूजा करते हैं, उन्हें कितनी अच्छी-अच्छी चीजें खाने को देते हैं! और यह ठहरा एक सामान्य अमरूद! भिखारिन के नेत्र के कोनों से आनन्दाश्रु झरने लगे। आवेग से उसका गला भर आया। वोली, "मुझ पर इतनी कृपा! मैं तो, माँ, आपकी भिखारिन छोकरी हूँ।" श्रीमाँ उसकी भक्ति देख सस्नेह वोलीं, "तुम वहुत मधुर गाती हो। एक गाना सुनाओ।" वह गाने लगी —

(भावार्थ) — "आ, वेटा गोपाल, तुझे सजा दूँ। फिर एक वार वैसा ही घूम-घूमकर नाचना भला!"

श्रीमाँ वोलीं, "वड़ा अच्छा गाना है। और एक गाओ न।"

उसने और एक मधुर गाना गाया। श्रीमाँ ने उसे वहुत आशीर्वाद दिया और भरे-हृदय से विदा दी। वह भक्ति का नैवेद्य था। तभी तो श्रीमाँ को वह सामान्य अमरूद भी इतना प्रिय मालूम हुआ!

अपराह्न में कुछ स्त्रियाँ आयीं। उन्होंने श्रीमाँ का नाम सुना था, इसलिए उन्हें प्रणाम करने आयी थीं। श्रीमाँ वरामदे में वैठी थीं — वगल में गोलाप-माँ आदि थीं। गोलाप-माँ देखने में अच्छी हट्टी-कट्टी थीं — रोवीला चेहरा था। आगन्तुक महिलाओं ने सोचा — शायद ये ही श्रीमाँ हैं। अपनी ओर उनको प्रणाम करने आती देखकर गोलाप-माँ ने श्रीमाँ की ओर इंगित करते हुए कहा, "ये हैं, ये हैं माँ।" श्रीमाँ का चेहरा सीधा-सादा था। अतः उन स्त्रियों के मन में कुछ खटका-सा लगा। गोलाप-माँ के पुनः कहने पर ज्योंही वे लोग श्रीमाँ को प्रणाम करने के लिए वढ़ीं, त्योंही श्रीमाँ किंचित् हँसकर

बोलीं, "नहीं, नहीं, वे ही माताजी हैं।" वे लोग बड़ी दुविधा में पड़ गयीं और किंकर्तव्यविमूढ़-सी खड़ी रहीं। अन्य उपस्थित स्त्रियाँ यह कौतुक देख हँसने लगीं। अन्त में गोलाप-माँ को ही श्रीमाँ स्थिर कर वे आगन्तुक महिलाएँ ज्योंही उन्हें प्रणाम करने के लिए गयीं, त्योंही वे कुछ कड़े स्वर में बोलीं, "तुम लोगों के क्या बुद्धि-विचार नहीं है ? इतना भी नहीं देखतीं, मनुष्य का चेहरा है या देवता का ? मनुष्य का चेहरा क्या ऐसा होता है ?"

श्रीमाँ के करुणापूर्ण प्रसन्न मुखमण्डल पर कुछ ऐसा असाधारणत्व का भाव था, जो भावुक जनों के हृदयों में दैवी भाव की उद्दीपना कर देता था।

काशी में बहुत से लोग श्रीमाँ के पास दीक्षाप्रार्थी होकर आये, पर उन्होंने वहाँ किसी को दीक्षा नहीं दी। वे कहा करती थीं, "काशी में मन्त्र देने से सद्योमुक्ति हो जायगी।" काशी मुक्ति-क्षेत्र है और श्रीमाँ हैं मुक्तिरूपिणी !

श्रीमाँ की दृष्टि में शिवलिंग पाषाण-खण्ड मात्र न था। वे तो काशीपुराधिपति विश्वनाथ को जीवन्त, चिन्मय रूप से देखती थीं। इसी लिए एक दिन सवेरे सेवक के साथ बातचीत के सिलसिले में उन्होंने कहा, "(विश्वनाथ को) क्यों छूने दिया जाय ? दूर से दर्शन करने से ही तो हुआ। कितने सारे लोगों के पाप आकर लग जाते हैं (छूने से)।" फिर अपने सम्बन्ध में कहने लगीं, "कुछ लोग ऐसे हैं, जिनके छूने से सारा शरीर गरम हो जाता है, जलने लगता है। इसी लिए पैर धो डालने पड़ते हैं।... यहाँ तो भी लोगों की भीड़ कलकत्ते से कम है।"

पगली मामी (राधू की माँ) ने काशी में भी श्रीमाँ को सताना बन्द नहीं किया। श्रीमाँ धैर्यपूर्वक सब सहती ही जाती थीं। तो भी एक दिन उन्होंने कहा ही, "शायद मैंने काँटा समेत बेल-पत्र शिव के

सिर पर चढ़ाया था, तभी तो मेरे लिए यह काँटा वनी हुई है।" सेवक यह सुनकर विस्मित हो गये। कहा, "यह कैसी वात है? अनजान में चढ़ाने से दोप कैसे हो सकता है?"

श्रीमाँ ने उत्तर में कहा, "नहीं, नहीं; शिव-पूजा वड़ी कठिन वात है। उससे भी भारी दोष होता है।" वाद में उस पगली के अत्याचार का जिक्र करती हुई खिन्न होकर दुःख-भरे स्वर में कहने लगीं, "मुझे तो याद नहीं आता कि जन्म से लेकर आज तक मैंने कोई पाप किया हो। पाँच साल की उमर में उन्हें (ठाकुर को) छुआ था। हो सकता है, मैं उस समय न समझती होऊँ, पर उन्होंने भी तो छुआ था। फिर मेरे इतना दुःख-कष्ट क्यों? उनको स्पर्श करके दूसरे सव लोग माया-मुक्त हो रहे हैं, और क्या अकेले मेरे ही इतनी माया है? मेरा मन तो दिन-रात ऊपर उठा चाहता है, दया के वश हो उसे मैं वलपूर्वक नीचे थामे रखती हूँ।... फिर मुझे इतनी यन्त्रणा क्यों?"

महामाया के योगमाया-आश्रित जीवन का विलास वड़ा ही विस्मयकर है!

काशी से श्रीमाँ सब लोगों के साथ माघ मास की तीसरी तिथि (बंगाब्द १३१९ सन्) को कलकत्ता आयीं और लगभग एक मास वहाँ रहीं।

श्रीमाँ के पास दीक्षा लेने के लिए बहुत से भक्त आते रहते थे। यह देखकर ब्रह्मचारी-सेवक को आश्चर्य होता था। एक दिन उसने श्रीमाँ से पूछा, "माँ, यह जो इतने लोग मन्त्र लेते हैं, इनको क्या मिलता है भला ? बाहरी दृष्टि से तो ऐसा दिखता है कि दीक्षा लेने के पहले व्यक्ति जैसा था, दीक्षा के बाद भी वैसा ही है।"

श्रीमाँ ने उत्तर दिया, "मन्त्र के माध्यम से शक्ति संचारित होती है। गुरु की शक्ति शिष्य में जाती है, और शिष्य के पाप-ताप गुरु में आते हैं। इसी लिए मन्त्र देने से, पाप अपने ऊपर लेने के कारण, देह में इतनी व्याधियाँ होती हैं। गुरु होना बड़ा कठिन है — शिष्य के पाप लेने पड़ते हैं। † ... इसी लिए राखाल (स्वामी ब्रह्मानन्द) मन्त्र देना नहीं चाहता। कहता है, 'माँ, मन्त्र देते ही स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। मन्त्र देने के नाम से तो मुझे बुखार चढ़ आता है'।"

ऐसी बात न थी कि लोग केवल मुक्तिकामी होकर श्रीमाँ के पास आते थे। उनके पास तो नाना प्रकार के लोग आते थे नाना प्रकार की कामनाएँ लेकर। कोई आता सन्तान-कामी होकर, और कोई रोग से छुटकारा पाने की कामना लेकर। फिर बहुत से लोग

---

† अवश्य यह बात श्रीमाँ ने अपने सम्बन्ध में ही कही है। विशेष शक्तिसम्पन्न गुरु ही शिष्य का सारा भार लेने में समर्थ होते हैं।

ऐश्वर्य की इच्छा लेकर आते थे। सभी आर्त थे। और वे दयामयी माँ भी अभीष्ट वर देकर सबकी कामनाएँ पूरी कर देती थीं। कई बार तो उन्होंने दूसरे का रोग भी अपनी देह में खींच लिया। उनकी दया का अन्त न था, सीमा न थी। सन्तानों में से जिनको जहाँ पर वेदना की टीस होती, श्रीमाँ वहीं पर अपना शान्ति-हस्त फेर देती थीं। किसी भी प्रकार का दुःख देखकर उनका मातृ-हृदय रो उठता था। वे व्याकुल हो जातीं और सारी अपूर्णताओं को दूर कर देतीं — अपने कोमल हाथों से आँसू पोंछ देतीं।

बागबाजार में श्रीमाँ के घर के सामने एक मैदान था। वहाँ एक झोपड़ी में एक पछाँही परिवार रहता था। एक दिन उस परिवार की स्त्री अपने रुग्ण बच्चे को गोद में लेकर श्रीमाँ का आशीर्वाद लेने आयी। अहा! उसके प्रति श्रीमाँ ने कितनी दया, कितना अपनापन और कितनी सहानुभूति प्रदर्शित की! आशीर्वाद दिया, "अच्छा हो जायगा।" फिर दो बड़े अनार और कुछ अंगूर श्रीठाकुर की प्रसादी करके उसके हाथ में देकर कहा, "अपने बीमार बच्चे को खिलाना।" उस निर्धन स्त्री के आनन्द की सीमा न रही! वह कृतज्ञता प्रकट करती हुई श्रीमाँ को बारम्बार प्रणाम करने लगी।

बरिशाल के एक भक्त को असाध्य यक्ष्मा-रोग हो गया। उसके मुँह से खून गिरने लगा। वह मृत्यु-शय्या पर पड़ा अपनी अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा था। उस रोग-क्षीण सन्तान के हृदय में एकमात्र कामना थी श्रीमाँ के श्रीचरण-दर्शन की। पर वह तो यमलोक का राही बन रहा था। अतः श्रीमाँ के पास कैसे जाय, कैसे उनके दर्शन करे! उसने अपने हृदय की अन्तिम इच्छा कातर-प्रार्थना से भरे पत्र में निवेदित की — उसने श्रीमाँ को चिट्ठी में लिखा, "माँ, अब मैं नहीं बचूँगा। एकमात्र इच्छा है तुम्हें देखने की। पर मैं तो आ न सकूँगा। अतः तुम ही आ जाओ, माँ, अपने इस बच्चे को देख जाओ।"

सुदूर वरिशाल में आना श्रीमाँ के लिए कितना असम्भव है, यह उस भक्त-सन्तान ने एक वार भी न सोचा। चिट्ठी पाकर श्रीमाँ वहुत व्यग्र हो उठीं। रुग्ण सन्तान का पीला चेहरा उनकी आँखों के सामने झूलने लगा। नेत्र आँसुओं से भर गये। उन्हें मर्मान्तिक वेदना होने लगी। कल्पलता माँ ने चिट्ठी में लिखवाया, "वेटा,... डर नहीं है। तुम्हारी वीमारी ठीक हो जायगी। उतनी दूर जाना तो मेरे लिए सम्भव नहीं है! मैं अपना फोटो भेजती हूँ। उसी को देखना और 'उद्वोवन' पढ़ना।" ('उद्वोधन' मासिक पत्रिका में उस समय 'श्रीश्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग'† धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो रहा था।)

मृत्युंजयी माँ ने चिट्ठी में भेजा आरोग्य-आशीर्वाद, और चित्र में वे स्वयं गयीं। उस पीड़ित सन्तान ने श्रीमाँ के चित्र को सिरहाने रख दिया। जव कभी उसे श्रीमाँ को देखने की इच्छा होती, वह उस चित्ररूपी माँ को देख लेता। उसका हृदय आनन्द और शान्ति से भर जाता। श्रीमाँ आयीं अचला-भक्ति के रूप में। मुक्तिदात्री की कृपा से वह भक्त ऐसी प्राणघातक वीमारी से मुक्त हो गया!

दूसरों के पाप-ताप, रोग-शोक अपने ऊपर लेने के कारण ही तो श्रीमाँ को इतने शारीरिक कष्ट सहने पड़े थे!

पगली मामी के मुँह में लगाम न थी। मुँह में जव जो आता, वक देती थी। श्रीमाँ उसकी वातों पर ध्यान नहीं देती थीं। कहतीं— "आखिर दो शब्द ही तो हैं!" अर्थात् गाली-गलौज मुँह के दो शब्द के सिवा और क्या है? कई वार वे उसकी वातों को हँसकर उड़ा देतीं।

पर केवल एक दिन श्रीमाँ के मुख से आवेगपूर्ण प्रतिवाद निकला। उस दिन पगली की गाली-गलौज चरम सीमा पर पहुँच

† यह ग्रन्थ हिन्दी में 'श्रीरामकृष्णलीलामृत' के नाम से दो भागों में श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर द्वारा प्रकाशित हुआ है।

गयी थी। वहुत से कटु वाक्य कहकर अन्त में उसने श्रीमां को 'सर्वनाशी' कहा। 'सर्वनाशी' शब्द सुनते ही श्रीमां आशंका से सिहर उठीं। वोलीं, "मुझे और चाहे जो कह लो, पर सर्वनाशी न कहना। दुनिया-भर में मेरी सन्तानें हैं। उनका अकल्याण होगा।..."

एक दिन दो स्त्रियां श्रीमां के पास आयीं। उन्हें कुछ गोपनीय वात कहनी थी। अतः श्रीमां उन्हें वगल के वरामदे में ले गयीं। वहां श्रीमां के पास वैठकर सलज्ज भाव से उन्होंने अपने हृदय का अभाव आकुल प्रार्थना में प्रकट किया। वे निःसन्तान थीं -- मां होने की इच्छा थी। श्रीमां को उन पर दया आ गयी। उन्होंने आशीर्वाद दिया, उनकी प्रार्थना पूरी कर दी। श्रीमां ने उनसे कहा, "ठाकुर के पास मन की वात प्रकट कर उनसे प्रार्थना करना, हृदय की अभाव-वेदना रो-रोकर निवेदित करना — देखोगी, वे तुम्हारी गोद भर देंगे।..." श्रीमां ने और भी वहुतसी वातें वतलायीं। श्रीमां की दया से उन स्त्रियों का मनोरथ पूर्ण हुआ था।

नाना प्रकार के लोगों का पाप-भार अपने ऊपर लेते-लेते अव श्रीमां मानो और लेने में अपने को समर्थ न पाती थीं! 'सर्वंसहा' जननी के लिए भी अव यह सव मानो असह्य हो उठता था। वे देह में अपार पीड़ा और जलन का अनुभव करतीं। हृदय में भीषण वेदना होती। एक दिन की वात है, इसी प्रकार वहुत से लोगों की प्रार्थना पूरी करते-करते अन्त में वे मानो अस्थिर हो उठीं। उस समय रात काफी हो चुकी थी। दर्शनार्थियों के चले जाते ही उन्होंने कमरे में गंगा-जल छिड़कने को कहा। फिर नीचे विछौने पर लेटकर शरीर पर का कपड़ा थोड़ा सरकाकर, एक स्त्री-भक्त के हाथ में पंखा देते हुए कहा, "थोड़ा झलो तो, वेटी, शरीर तो जल-भुन गया! प्रणाम है इस कलकत्ते को! कोई कहता है मुझे यह दुःख है, कोई कहता है मुझे वह दुःख है। अव और नहीं सह सकती। फिर कोई-कोई

न जाने क्या-क्या कर्म करके आते हैं ! किसी के पचीस लड़के-लड़कियाँ हैं — उनमें से दस मर गये इसी लिए रोता है। ये क्या मनुष्य हैं ! सब-के-सब पशु हैं, पशु ! न संयम है, न कुछ !

"ठाकुर कहा करते थे, 'अरे, एक सेर दूध में चार सेर पानी मिला हुआ है। फूंकते-फूंकते तो मेरी आँखें जल गयीं ! अरे त्यागी बच्चो ! कहाँ हो रे ? आओ, आओ ! तुमसे बातें करके जी तो ठण्डा करूँ !' ठाकुर ठीक ही कहते थे। थोड़ा जोर से झलो, बेटी। आज चार बजे से लोगों का ताँता लगा हुआ था। लोगों का दुःख अब देखा नहीं जाता।"

दूसरे दिन फिर वही क्रम चलने लगता था — वही दर्शन, वही प्रार्थना-पूर्ति और वही कृपा-वितरण का क्रम।

कितने भक्त कितने प्रकार से आशीर्वाद पाते थे करुणामयी श्रीमाँ से ! कृपामयी ने कृपा का अमृत-भंडार खोल रखा था। एक दिन एक युवक-भक्त आया और श्रीमाँ के चरणों पर सिर रखकर कहने लगा, "माँ, मैंने संसार में बहुत कष्ट पाया है। तुम्हीं मेरी गुरु हो, तुम्हीं मेरी इष्ट हो। मैं और कुछ नहीं जानता। सचमुच मैंने इतने अनुचित कर्म किये हैं कि तुम्हारे पास भी कहते लज्जा होती है। फिर भी तुम्हारी दया से ही मैं बचा हुआ हूँ।"

युवक मन के आवेग के कारण और न बोल सका। श्रीमाँ मानो वात्सल्य-रस से सराबोर हो गयीं और स्नेह-स्निग्ध मधुर स्वर में बोलीं, "बेटा, माँ के पास बच्चा, बच्चा ही है।" प्रत्येक शब्द से स्नेहामृत बरसने लगा। मानो श्रीमाँ एक छोटे बच्चे को गोद में लेकर प्यार कर रही हों — समझा-बुझा रही हों !

मातृ-स्नेह से अभिभूत हो युवक बोला, "हाँ, माँ। पर देखना, तुम्हारी इतनी दया मुझे मिली है, इसलिए कहीं ऐसा न समझने लग जाऊँ कि तुम्हारी दया पाना बड़ा सहज है।"

भक्त की आँखें डबडबा आयीं। परितृप्त हृदय से उसने विदा ली।

एक दिन वागवाजार में श्रीमाँ के वासस्थान पर भक्तगण उनकी अयाचित कृपा के सम्बन्ध में चर्चा कर रहे थे। श्रीमाँ विना विचार किये कितने लोगों को दीक्षा दे रही हैं और उन सवके पाप-ताप आप ले रही हैं! अहा, माँ की करुणा कैसी अपार है! उनका स्नेह-दुलार, सन्तान-वात्सल्य कैसा असीम है! — भक्तों में यही प्रसंग चल रहा था। श्रीमाँ भी कुछ दूरी पर वैठी हुई थीं।

योगीन-माँ ने हँसते-हँसते श्रीमाँ की ओर देखकर कुछ ऊँची आवाज में कहा, "माँ हम लोगों को भले ही कितना भी प्यार करें, पर ठाकुर के समान नहीं कर सकतीं। लड़कों के लिए उनकी (ठाकुर की) कैसी व्याकुलता, कैसा प्यार देखा है मैंने, व्यक्त नहीं कर सकती!"

सुनकर श्रीमाँ कुछ स्मित-स्वर से वोलीं, "सो नहीं होगा? उन्होंने तो सव चुन-चुनकर शिष्य वनाये, और फिर उस पर यहाँ-वहाँ स्पर्श करके उन लोगों में अपनी मन्त्र-शक्ति द्वारा आध्यात्मिकता भर दी। और मेरे लिए? — मेरे पास तो उन्होंने एकदम चींटियों की जमात ठेल दी है!"

हाँ, सचमुच चींटियों की जमात ही तो थी वह! माँ का स्नेह असीम जो है! माँ का आकर्षण रक्त का आकर्षण है — हृदय का आकर्षण है! तभी तो उस विश्वजननी ने विना विचार किये असंख्य जीवों को मुक्ति दे दी।

एक संन्यासी-सन्तान ने शाश्वत शान्ति की प्राप्ति के लिए विशेष व्याकुल हो श्रीमाँ से हठ पकड़ लिया। वे श्रीमाँ के चरणों पर गिरकर अपने हृदय की आकुल प्रार्थना नाना प्रकार से प्रकट करने लगे। श्रीमाँ ने उन्हें वहुत आश्वासन दिया, हृदय से आशीर्वाद दिया। वहुत उपदेश देकर अन्त में श्रीमाँ ने कहा, "... जप वढ़ा दो।"

संन्यासी — "माँ, आप बता दीजिए कि कितना जप करूँ, जिससे मन एकाग्र हो।"

श्रीमाँ — "अच्छा, रोज दस हजार जप करो। दस हजार, बीस हजार — जितना भी कर सको।"

संन्यासी — "माँ, एक दिन मैं पूजा-घर में रोता हुआ पड़ा था कि मैंने देखा — आप मेरे सिर के पास खड़ी हो कह रही हैं, 'तुझे क्या चाहिए?' मैंने कहा, 'माँ, मैं आपकी कृपा चाहता हूँ — जैसी सुरथ पर आपने की थी।' फिर मैंने कहा, 'नहीं, माँ, वह तो दुर्गा-रूप में आपने उस पर कृपा की थी, मुझे वह रूप नहीं चाहिए, मैं तो आपके इसी रूप में कृपा चाहता हूँ।' आप तनिक हँसकर चली गयीं। तब मन और भी व्याकुल हो गया। कुछ भी अच्छा न लगता था। मन में आया — जब उनको न पा सका, तब और रहकर ही क्या लाभ?"

श्रीमाँ आश्वासन देती हुई बोलीं, "क्यों भला, यह जो तुमने पाया है, इसी को लेकर क्यों नहीं रहते? मन में सोचना — और कोई भले ही न हो, पर मेरी एक 'माँ' तो हैं। ठाकुर तो कह ही गये हैं — यहाँ (उनके पास) आये हुए सब लोगों को वे आखिरी दिन दर्शन देंगे ही। दर्शन देकर साथ में ले जायेंगे।"

एक त्यागी-सन्तान का हृदय भगवद्दर्शन के लिए व्याकुल हो गया। वे श्रीमाँ के पास आये और उनसे अपनी मानसिक अवस्था निवेदित करके कहा, "जो कुछ कहो, माँ, त्याग-वैराग्य ही मुख्य है। सो क्या हम लोगों के न होगा?" श्रीमाँ ने मुक्त-कण्ठ से उत्तर दिया, "होगा, अवश्य होगा। ठाकुर की शरण जाने से सब होगा। उनका त्याग ही तो उनका ऐश्वर्य था। . . . अहा, एक दिन भोजन के बाद वे नौबतखाने में आये। उनके बटुए में मुखशुद्धि का मसाला न था। मैंने थोड़ासा उन्हें खाने को दिया और थोड़ासा कागज में बांधकर उनके हाथ पर देते हुए कहा, 'लेते जाओ'। वे नौबतखाने से अपने कमरे

के लिए लौटे। पर कमरे की ओर न जाकर वे सीधे दक्षिण ओर, नौबतखाने के पास जो गंगा का घाट है, उधर चले गये—रास्ता देख न पा रहे थे, होश भी न था। कहने लगे, 'माँ, डूब जाऊँ? माँ, डूब जाऊँ?' मैं इधर छटपटा रही थी—गंगा भरी-पूरी थी। उस समय में नववधू थी, कहीं बाहर नहीं निकलती थी; कहीं पर किसी को देख भी न पा रही थी, किसे भेजूं? संयोग से काली-मन्दिर का एक ब्राह्मण उधर से निकला। उससे मैंने हृदय को बुलवाया। हृदय खाने बैठा था, झटपट जूठे हाथ ही वह दौड़ आया और उन्हें पकड़कर उनके कमरे में ले गया। तनिक भी देर होने से वे गंगा में गिर पड़ते!"

त्यागी-सन्तान—"वे दक्षिण ओर क्यों गये?"

श्रीमाँ—"हाथ में थोड़ासा मसाला दिया था न, इसलिए! साधु को संचय नहीं करना चाहिए, इसी लिए वे रास्ता न देख पाये। उनका त्याग पूरे सोलह आने जो था!"

* * * *

काशी से कलकत्ता लौटकर, एक महीने बाद ही श्रीमाँ विष्णुपुर होते हुए कोयालपाड़ा के मार्ग से जयरामबाटी चली गयीं। कोयालपाड़ा उनका 'बैठकखाना' था। श्रीरामकृष्ण देव ने एक बार श्रीमाँ से कहा था, "सुनो, विष्णुपुर गुप्त-वृन्दावन है। तुम देखना।" श्रीमाँ ने इस पर कहा, "मैं ठहरी स्त्री की जात; मैं कैसे देखूंगी?" तो भी श्रीरामकृष्ण ने कहा, "नहीं, नहीं; देखना, अवश्य देखना।" इसी लिए विष्णुपुर से होकर जाते समय लालबाँध तालाब के किनारे बैठकर श्रीमाँ ने कहा था, "ठाकुर की बात तो आज सत्य हो गयी।" इसके बाद और भी कई बार श्रीमाँ विष्णुपुर के मार्ग से आयी-गयी थीं।

श्रीमाँ को उन्मुक्त ग्राम्य वातावरण प्रिय था। कहतीं, "गाँव में आकर ही मुझे शान्ति मिलती है। कलकत्ते में तो मानो पिंजड़े में रहना पड़ता है; बातचीत भी बड़ी सँभलकर करनी पड़ती है—न

जाने कौन किस वात से असन्तुष्ट हो जाय। पर गाँव में तो जो मुँह में आया, कह देती हूँ और वे (गाँव के) लोग भी जैसा वना दो-चार वात कहकर चले जाते हैं। इससे मुझे भी कुछ वुरा नहीं लगता और वे लोग भी कुछ वुरा नहीं मानते। गाँव में आने पर स्वाधीन होकर इधर-उधर चल-फिर सकती हूँ।"

श्रीमाँ कोयालपाड़ा में आनेवाली थीं। आश्रमवासियों के आनन्द का ठिकाना नहीं था! कुछ ब्रह्मचारी पहले से ही श्रीमाँ के दर्शन करने के लिए विष्णुपुर के मार्ग से काफी दूर चले गये।

श्रीमाँ कोयालपाड़ा पहुँचीं। स्नान आदि से निपटकर उन्होंने स्वयं श्रीठाकुरजी (श्रीरामकृष्ण) की पूजा की। आश्रम के अध्यक्ष का हृदय आनन्द से भर गया। श्रीमाँ के समीप वैठते हुए उन्होंने कहा, "माँ, आपकी सभी सन्तानें विद्वान् हैं--वस हमीं ये कुछ लोग विलकुल मूर्ख हैं।" श्रीमाँ सस्नेह वोलीं, "यह क्या कहते हो? ठाकुर को देखो न, वे तो लिखना-पढ़ना कुछ न जानते थे! भगवान में मन होना ही असल वात है।... इस वार धनी-निर्धन, पण्डित-मूर्ख सभी का उद्धार करने के लिए ठाकुर का आगमन हुआ है। तुम लोगों पर मेरा स्नेह है — तुम सव मेरे अपने जन हो।"

एक सेवक वटवृक्ष का एक वीज श्रीमाँ को दिखाते हुए विस्मय-पूर्वक वोला, "माँ, देखा तुमने! यह चौलाई के वीज से भी छोटा है। इसी से इतना वड़ा पेड़ हो जाता है! कैसा आश्चर्य है!"

श्रीमाँ ने कहा, "क्यों, नहीं होगा? यही देखो न, भगवान के नाम का वीज कितनासा है। पर उसी से कालान्तर में भाव, भक्ति, प्रेम, सव कुछ होता है!"

सेवक मुग्ध होकर सोचने लगा -- अहा! कैसी सुन्दर वात कही है माँ ने! यह तो मैंने कभी नहीं सोचा था! कितनी ठीक वात है!

भोजन के उपरान्त कुछ देर विश्राम कर श्रीमाँ पालकी में जयरामवाटी चली गयीं (१३ फाल्गुन, १३१९ वंगाव्द)।

* * * *

जयरामवाटी में भक्तों का समागम और दीक्षादि कार्य दिनोंदिन वढ़ता ही चला। यह देखकर कि गाँव में श्रीमाँ के साथ घनिष्ठ रूप से मिलने का और इच्छा-भर उनकी सेवा, सत्संग आदि करने का अवसर प्राप्त होता है, वहुत से भक्त इस सुदूर ग्राम में आते थे। कई लोग उत्कण्ठापूर्वक श्रीमाँ के जयरामवाटी में आगमन की प्रतीक्षा में रहते थे। जिसने एक दिन के लिए भी श्रीमाँ को उनके अपने स्वतन्त्र वातावरण में सहज-गम्भीर रूप से देखा है, वही जानता है कि वे कितनी सन्तान-वत्सला थीं। उन सव छोटी-मोटी मधुर घटनाओं की शीतल स्मृति सारे जीवन को मधुमय वना देती है। जो लोग एक-दो दिन नहीं, वरन् वर्षों तक दिन-रात आठों पहर श्रीमाँ के पास रहे, उन्होंने भी श्रीमाँ की उस छलकती हुई स्नेह-ममता में एक क्षण के लिए भी तनिक भी ह्रास नहीं पाया। वह प्रेम सुवास-सुषमा ले छोटी-वड़ी अनेक घटनाओं में से अपने आपको अनन्त प्रकार से प्रकाशित करता था। सन्तान को प्यार करके, उसकी सेवा और देख-रेख करके माता के हृदय में कितनी गम्भीर तृप्ति होती है, यह श्रीमाँ की सन्तान-सेवा देखकर समझ में आ जाता था।

किसी सन्तान ने कहा, "माँ, वड़ा सिर-दर्द हो रहा है।" वस श्रीमाँ व्यग्र हो उठीं। "शायद गरमी से ऐसा हुआ है," यह कहते-कहते वे झटपट एक पत्ते में थोड़ा घी और कपूर पानी में मिलाकर हाथ से मथती हुई सन्तान के सिरहाने आकर वैठ गयीं और उसके कपाल पर उसकी मालिश करने लगीं। कहने लगीं, "ठाकुर को जव सिर-दर्द होता था, तव वे यह दवा लगाते थे।" वहुत देर तक मालिश करने पर दर्द मिटा। तव कहीं श्रीमाँ की जान में जान आयी।

एक सेवक के हाथों में बहुत खुजली हो गयी। श्रीमां नीम के पत्ते पानी में उबालकर उस पानी से उसके हाथ धो दिया करती थीं। सेवक अपने हाथ से खा नहीं सकता था। श्रीमां सवेरे-शाम दोनों समय उसे अपने हाथ से खिला देती थीं। यहां तक कि जूठी पत्तल भी फेंक आती थीं। घटना है तो छोटी, पर श्रीमां के स्नेह-सौरभ से वह महान् बन गयी है।

मातृ-स्नेह सर्वजयी है। वे बनायी हुई मां तो हैं नहीं—वे हैं सचमुच की मां, असली मां! जयरामबाटी में श्रीमां के वासस्थान का निर्माण-कार्य चला हुआ था। एक सेवक इस कार्य के सम्बन्ध में पास के गांव में गया हुआ था। जाड़े के दिन थे। उसको लौटते बहुत देर हो गयी। सूर्यास्त के कुछ पहले लौटकर उसने देखा कि श्रीमां ने अभी तक भोजन नहीं किया है। सन्तान की प्रतीक्षा में निराहार बैठी हुई हैं। सेवक विस्मित हो गया और अभियोग के स्वर में बोला, "क्यों मां, एक तो तुम्हारा स्वास्थ्य अच्छा नहीं है, और उस पर तुम शाम तक बिना खाये हुए ही हो ?"

श्रीमां ने स्नेह-स्निग्ध स्वर से कहा, "तुम्हारा खाना हुआ नहीं, मैं भला कैसे खा सकती थी ?"

इस पर सेवक भला क्या कहे ? वह सिर नीचे कर भोजन करने बैठा।

शिष्यगण जयरामबाटी में गुरुगृह में आनन्द से भर-पेट प्रसाद पाते थे। धनदा अन्नपूर्णा श्रीमां स्वयं सन्तानों के भोजन के समय खड़ी-खड़ी पूछ-ताछ करती थीं। बच्चों की तृप्ति से उनके मुखमण्डल पर भी सन्तोष की झलक खेल उठती थी। वे सन्तानों को जूठी पत्तल उठाने नहीं देती थीं। कहतीं, "तुम लोग जाओ, हाथ-मुंह धोओ।" फिर अपने हाथ से पान देतीं—और वह भी दो बीड़े से कम किसी को नहीं। तत्पश्चात् सारे जीवों की सेवा-सान्त्वना में तत्पर जगन्माता

स्वयं अपने हाथों से वह सव जूठन आदि साफ कर डालती थीं।

यह देख एक संन्यासी-सन्तान के मन में विषम आशंका हुई। इसी लिए श्रीमाँ का निषेध न मानते हुए जव वे अपनी जूठी थाली हाथ में लेकर उठे, तो श्रीमाँ उनका रास्ता रोककर खड़ी हो गयीं। उनके हाथ से थाली छीनकर वोलीं, "नहीं, मैं ही ले जाऊँगी।" संन्यासी शंकित-हृदय से वोले, "माँ, आप यह जो हम लोगों की जूठन साफ़ करती हैं, यह विलकुल अच्छा नहीं है। इससे हमारा अकल्याण होगा।"

श्रीमाँ के आवेग-भरे स्वर में स्नेह झंकृत हो उठा, वे वोलीं, "वेटा, तुम लोग तो मेरे लड़के हो। माता वच्चों का कितना मल-मूत्र साफ करती है; तुम लोग तो वड़े होने पर मेरे पास आये हो। मैंने ऐसा कौनसा दोष किया है भला, जिससे तुम लोगों की यह सामान्य देख-भाल भी न कर सकूँ ?"

संन्यासी ढूंढ़ने पर भी कोई उत्तर न पा सके। चुपचाप चले गये।

क संन्यासी-सन्तान ने श्रीमाँ से पूछा था, "माँ, आप हम लोगों को किस दृष्टि से देखती हैं ?"

श्रीमाँ—"नारायण-दृष्टि से।"

संन्यासी—"हम लोग तो आपकी सन्तान हैं, नारायण-दृष्टि से देखने पर सन्तान-दृष्टि से देखना तो नहीं हो सकता ?"

श्रीमाँ ने उत्तर दिया, "नारायण-दृष्टि से भी देखती हूँ और सन्तान-दृष्टि से भी।"

दैवी-मातृत्व और जागतिक-मातृत्व में पार्थक्य वस इसी दृष्टि-कोण का है।

* * * *

श्रीमाँ की परिश्रम करने की शक्ति असाधारण थी। अपने

अन्तिम दिनों में काशी के 'वेणीमाधव के धरहरे' को दिखलाते हुए उन्होंने कहा था, "तुम लोग इस समय मुझे ऐसी असमर्थ पा रहे हो, पर जब ठाकुर के देह-त्याग के बाद मैं काशी में आयी थी, उस समय इस वेणीमाधव के धरहरे पर चढ़ी थी। हरिद्वार में चण्डी के पहाड़ पर और पुष्कर में सावित्री-पहाड़ पर चढ़ी थी।" अन्तिम जीवन में भी उनकी इतनी कर्मशक्ति थी कि रात के तीन-चार घण्टे के विश्राम को छोड़कर शेष सारे समय वे कुछ-न-कुछ काम करती ही रहती थीं।

जयरामवाटी में 'भक्त-सेवा' में उन्हें काफी व्यस्त रहना पड़ता था। एक दिन अत्यधिक परिश्रम के कारण थकावट से चूर-चूर हो उन्होंने कहा था, "बेटा, सारे दिन मानो कुश्ती ही लड़ती रही हूँ—एक के बाद दूसरा भक्त लगातार चला आ रहा है। यह शरीर अब नहीं चलता। ठाकुर से कहकर 'राधू, राधू' करते हुए मैंने किसी प्रकार मन को रखा है।"—'योगमाया' का आश्रय ले बहुजनहिताय वे किसी प्रकार शरीर धारण किये हुए थीं।

समय-असमय भक्तों का आगमन होता ही रहता था। फिर उन सब भक्तों के भी कैसे-कैसे संकल्प, कैसे-कैसे हठ रहते थे!

कोई तीसरे पहर तीन बजे आया है—पर यह दृढ़ संकल्प लेकर कि दीक्षा लिये बिना 'जलग्रहण' न करूँगा, तो कोई आया है रात को नौ बजे और उसे उसी समय श्रीमाँ के दर्शन चाहिए! श्रीमाँ को ही सब ओर सँभालना पड़ता था—सबको तृप्त करना पड़ता था।

एक भक्त आया यह इच्छा लेकर—'अच्छा, श्रीमाँ ने नाग-महाशय को जिस प्रकार अपने हाथ से खिलाया था, उसी प्रकार क्या मुझे भी खिलायेंगी? देखूँ, वे अन्तर्यामिनी हैं या नहीं! मन की इच्छा उनके पास प्रकट नहीं करूँगा!' अहा! अन्तर्यामिनी ने उस भक्त की मूक प्रार्थना पूर्ण कर दी—उन्होंने स्नेहपूर्वक भक्त को अपने हाथों से खिला दिया!

जयरामवाटी आकर एक भक्त को वासी-भात † खाने की इच्छा हुई। उसने जब श्रीमाँ को अपनी इच्छा बतलायी, तो उन्होंने प्रसन्न होकर कहा, "ठहरो, मैं जरा मिर्च और बड़े भून देती हूँ। तुम्हारी ओर लोग मिर्च बहुत पसन्द करते हैं।" फिर ग्रामोफोन के स्वर का अनुकरण करती हुई बोलीं, "आठ गण्डे से एक भी कम नहीं देने की।" और यह कहकर हँसते-हँसते भक्त के वासी-भात खाने के लिए उन्होंने मिर्च और बड़े भून दिये।

और भी कितनी ही नित्य नयी घटनाएँ होती रहती थीं!

फिर इधर यदि एक-दो दिन कोई भक्त न आता, तो श्रीमाँ खिन्न-सी हो जाती थीं। दुःखित स्वर से कहतीं — कोई आया नहीं! ...श्रीरामकृष्ण देव ने कहा था — उनका बहुतसा काम अभी भी वाकी है। कृपाभिलाषियों के आने-जाने से श्रीमाँ का हृदय पुलकित हो उठता था।

एक वर्ष जगद्धात्री-पूजा के समय जयरामवाटी में बहुत से साधु-भक्तों का समागम हुआ। वहाँ आनन्द-स्रोत उमड़ पड़ा। श्रीमाँ अकेली ही कितना काम करती थीं! भंडार की देख-रेख से लेकर लोगों को खिलाने-पिलाने तक सब कुछ उन्हीं को करना पड़ा था।

देवी की सन्ध्या-आरती के बाद साधु-भक्तों ने एक-स्वर से भजन गाना आरम्भ किया —

(भावार्थ) — "माँ को देखने की अब और चिन्ता न करो। वह तो केवल तुम्हारी-हमारी माँ है नहीं, वरन् सारे विश्व की माँ है। भगवती माँ अपने बच्चों के मुँह से 'माँ-माँ' की वाणी सुनने के लिए छिपकर देखती है, क्योंकि उसे डर है कि मुझे देखने पर कहीं बच्चे माँ-माँ की पुकार बन्द न कर दें।"

श्रीमाँ बगल के कमरे में अन्यान्य महिलाओं के साथ गाना सुन

---

† रात का बासी-भात पानी मिलाकर रखा हुआ।

रही थीं। रात को सेवक से उन्होंने कहा, "अहा, गाना खूब जमा था! भक्तों की भला जात कैसी? सभी लड़के एक हैं। इच्छा होती है, सबको एक पत्तल में बिठाकर खिलाऊँ। पर इस (जयरामवाटी) ओर जाति-पाँति का बड़ा भेद है!"

दूसरे दिन श्रीमाँ ने श्रीरामकृष्ण देव को बहुतसी जलेबी का भोग लगाया और फिर एक बड़े थाल में बहुतसा मुरमुरा तथा वह प्रसादी जलेबी सजाकर भक्तों के लिए भेज दी। साधु और भक्तगण उस थाल के चारों ओर बैठ गये और आनन्दपूर्वक एक पात्र में से प्रसाद खाने लगे। श्रीमाँ बगल के कमरे में खड़ी-खड़ी सन्तानों का आनन्द देखने लगीं। उनका मुखमण्डल तृप्ति के आनन्द से उज्ज्वल हो उठा।

दो ब्राह्मण युवक-भक्त जयरामवाटी में आये। उनके हृदय में तीव्र वैराग्य था। वे ईश्वर-प्राप्ति के लिए व्याकुल हो श्रीमाँ के समीप आये थे। वे बहुत से कमल के फूल संग्रह कर लाये और श्रीमाँ के श्रीचरणों में अंजलि दी। दो दिन रहने के बाद उनमें से एक श्रीमाँ से कहने लगा, "माँ, मुझे संन्यास दो।"

श्रीमाँ ने किंचित् हँसकर उत्तर दिया, "सब हो जायगा, बेटा, चिन्ता क्या है?"

उस भक्त ने पुनः हठ किया, "नहीं, माँ, संन्यास देना ही होगा। हम लोगों को गेरुआ वस्त्र दो।"

इस पर श्रीमाँ कुछ गम्भीर हो बोलीं, "गेरुआ से क्या होगा, बेटा? ... जो-जो आवश्यक है, सब धीरे-धीरे हो जायगा।"

भक्त पुनः बोला, "माँ, इच्छा होती है कि जनेऊ, कपड़े आदि फेंककर त्रैलंग स्वामी की तरह सदा भगवान के चिन्तन में विभोर होकर रहूँ।"

श्रीमाँ ने हँसते-हँसते केवल इतना ही कहा, "होगा, बेटा, होगा।"

भक्त बहुत ही विचलित हो कहने लगा, "फेंक देता हूँ, माँ, जनेऊ-कपड़ा सब फेंक देता हूँ।"

अब यह वाणी मात्र न रही, भक्त सचमुच वैसा करने को उद्यत हो गया। यह देख श्रीमाँ ने कुछ व्यग्र हो कहा, "रहने दो, रहने दो — समय आने पर आप ही खिसक जायगा।" बाद में कुछ शान्त हो दोनों भक्त श्रीमाँ को प्रणाम करके बाहर आये।

पूर्वोक्त भक्त की ईश्वर-लाभ की आकुलता और भी बढ़ चली। वह अपने घर से पुनः जयरामवाटी आया। उसका भाव यह था कि श्रीमाँ इच्छा मात्र से उसे श्रीरामकृष्ण देव के दर्शन करा दे सकती हैं; पर तो भी नहीं दिखा रही हैं। इसी लिए श्रीमाँ पर उसे रोष था।

अबकी बार आकर वह श्रीमाँ से कहने लगा, "माँ, ठाकुर को क्या नहीं दिखाओगी?" श्रीमाँ ने स्नेह-भरे स्वर में उत्तर दिया, "होगा, बेटा, होगा। इतने उतावले क्यों हो रहे हो?"

भक्त अत्यन्त अधीर हो उठा। रोष-भरे स्वर में उसने श्रीमाँ से कहा, "बस, जी चुरा रही हो! यह लो अपनी जप की माला, मुझे और कुछ नहीं चाहिए।"—यह कहकर उसने जपमाला वापस कर दी।

श्रीमाँ ने शान्त-स्वर से कहा, "अच्छा, रहने दो। ठाकुर की सन्तान बने रहो।" भक्त पल-भर भी न रुककर अपनी जिद में अकड़ा हुआ चला गया।

भक्त के इस माला लौटाने की बात के सम्बन्ध में सेवक ने एक दिन श्रीमाँ से पूछा, "माँ, उसने क्या मन्त्र भी लौटा दिया था? माला तो उसने लौटा दी। पर क्या मन्त्र भी कभी लौटाया जा सकता है?"

श्रीमाँ ने उत्तर दिया, "सो क्या कभी होता है? यह सजीव मन्त्र है। उसने एक बार जो मन्त्र पाया है — महामन्त्र, वह क्या कभी वापस दिया जा सकता है? ... एक-न-एक दिन, जब उसकी चेतना जगेगी, वह फिर से आकर सबके पैर पकड़ेगा।"

और हुआ भी वैसा ही था। कुछ समय बाद उक्त भक्त युवक श्रीमाँ के चरणों में उपस्थित हुआ था। श्रीमाँ के उपदेशों और सान्त्वना-भरे वचनों को सुनकर तथा उनका विशेष आशीर्वाद प्राप्त कर उसकी जीवन-धारा बदल गयी थी।

एक दूसरे समय दो भक्त श्रीमाँ से दीक्षा लेने का संकल्प कर जयरामबाटी आये। श्रीमाँ ने उनको देखते ही समझ लिया कि उनका शरीर और मन कितना अशुद्ध है! इसी लिए उन्होंने उन लोगों से कहा, "मेरी तबीयत उतनी अच्छी नहीं है। दीक्षा नहीं होगी।"

यह सुनकर दोनों व्यक्ति खूब रोने लगे। उनका आकुल क्रन्दन सुन एक दीक्षित भक्त के मन में दया का उद्रेक हुआ। वे सोचने लगे — देखूँ, यदि किसी प्रकार माँ को राजी कर सकूँ। दीक्षित भक्त के अपने समीप आते ही अन्तर्यामिनी सब कुछ जान गयीं। तो भी पूछा, "क्यों बेटा, कुछ कहना है?" उस भक्त ने कहा, "दीक्षा नहीं होगी यह सुनकर दोनों बहुत रो रहे हैं, माँ।"

श्रीमाँ ने उदासीन-भाव से कहा, "स्वास्थ्य उतना अच्छा नहीं है, दीक्षा कैसे दूँ भला?"

फिर भी भक्त ने कहा, "वे दोनों बहुत रो रहे हैं, माँ! आप कृपा न करेंगी, तो वे और किसके पास जायेंगे भला?"

करुणा से द्रवित हो श्रीमाँ बोलीं, "तुम भी ऐसा कहते हो?"

भक्त ने अनुरोध किया, "हाँ, माँ। इनका कुछ उपाय कर दीजिए।"

कुछ क्षण चुप रहकर श्रीमाँ ने कहा, "पर उनकी देह तो अशुद्ध है!"

अब भक्त को श्रीमाँ के मुख की ओर ताकने का साहस नहीं हुआ। वे चुप होकर खड़े रहे। कुछ देर बाद कल्पलतिका जननी ने स्वयं उपाय बतला दिया। बोलीं, "अच्छा, उनसे यहाँ तीन रात रहने

को कहो। यहाँ तीन रात रहने से ही शरीर शुद्ध हो जायगा। यह शिव की पुरी जो है !"

जहाँ जगन्माता हैं, सदाशिव भी वहीं हैं। मुक्तिदायिनी महाकाली को वक्ष पर धारण कर जयरामवाटी महातीर्थ वन गया है, और महाकाल के पूत पाद-स्पर्श से पवित्र हो गया है। श्रीमाँ ने इसी का संकेत किया। आलोकमयी के आलोक से दीक्षित भक्त का हृदय-मन्दिर उद्भासित हो उठा। दीक्षाप्रार्थी भक्तों का जीवन धन्य हो गया।

इसी भाँति श्रीमाँ की जयरामवाटी की जीवन-धारा बहती रहती थी। आखिर सब उन्हीं की तो सन्तान हैं। उन्हीं के अपने जन हैं— सारा उन्हीं का घर-संसार है। सब ओर सँभालने का दायित्व उन्हीं का है। वे माँ जो हैं ! वे नित्य-नवीन प्रीति के साथ सब कुछ करती जाती थीं। श्रीमाँ का यह अविराम सेवामय जीवन सभी स्तरों के मनुष्यों के लिए आदर्श-स्वरूप है। वे कहा करती थीं, "सदैव काम करते रहना चाहिए। कर्म से देह-मन शुद्ध होते हैं।"

श्रीसारदा देवी के जीवन की सर्वश्रेष्ठ देन है—'सेवा'। एक ओर तो ब्रह्म में स्थिति, और दूसरी ओर निरन्तर कर्म। साधन-भजन और सेवा में समज्ञान, समभाव।

योगमायारूपिणी राधारानी—श्रीमाँ की लाड़ली राधू—लगातार भुगत रही थी। उसके पीछे एक-न-एक बीमारी लगी ही रहती थी। उसे फिर से वही बुखार हो आया—वही पीड़ा होने लगी। इस सम्बन्ध में श्रीमाँ कहने लगीं, "अब इस राधी पर मेरा इतनासा भी मन नहीं रहा। इसकी सेवा-शुश्रूषा करते-करते अब मेरा मन उचाट हो गया है। बलपूर्वक मन को खींचे रखती हूँ। कहती हूँ, 'ठाकुर, राधी पर जरा मन लगा दो।...' ऐसा रोग भी तो नहीं देखा मैंने।"

और पुनः उसकी सेवा-टहल में लग गयीं। श्रीमाँ के हाथ से खाये बिना राधू का पेट नहीं भरता था ! इसी लिए उसका पथ्य

तैयार कर श्रीमाँ उसे खिलाने के लिए बैठीं। कह रही हैं, "खा, खा, गाँदाल का झोल † है; ठाकुर खाते थे। गाँदाल, गूलर और कच्चे केले ठाकुर को प्रिय थे। (ठाकुर को) पेट की बीमारी थी न, इसलिए!"

पर राधू किसी तरह नहीं खाने की। फिर कह रही हैं, "ले, यह दूध पी ले।... ले, थोड़ासा ले ले।"

श्रीमाँ की एक और भतीजी थी—नाम था नलिनी। वह भी उनको तंग करने में कोई कम न थी। एक दिन वह दोपहर में गीले कपड़ों में आयी और कहने लगी कि कौए ने उसके कपड़े पर पेशाब कर दिया है, इसलिए वह इस असमय में स्नान करके आयी है। यह सुन श्रीमाँ विस्मित हो कहने लगीं, "मैं बूढ़ी होते चली, पर यह आज तक न सुना कि कौआ पेशाब करता है! तुम्हारे मन में पाप है। महापाप न हो, तो क्या मन अशुद्ध होता है? कृष्ण बोस की बहिन को ऐसी ही शुचिता-बाई थी। गंगा में डुबकी लगाते समय लोगों से पूछा करती थी, 'चोटी डूबी क्या?' इसी को शुचिता-बाई कहते हैं। मन किसी भी प्रकार शुद्ध नहीं होता। अशुद्ध मन सहज ही शुद्ध नहीं हो जाता। फिर यह भी है कि इस शुचिता-बाई को जितना बढ़ाओगे, वह उतनी ही बढ़ेगी।" फिर गम्भीर होकर कहने लगीं, "बहुत तपस्या करने पर तब कहीं यह मन शुद्ध होता है। 'साधना बिना शुद्ध-वस्तु कभी नहीं मिलती।' भगवान की प्राप्ति होने पर और क्या होता है? क्या उसके दो सींग निकल आते हैं? नहीं, मन शुद्ध हो जाता है। शुद्ध मन में ज्ञान-चैतन्य की स्फूर्ति होती है।"

श्रीसारदा देवी का अपने भाइयों के प्रति भी बड़ा प्रेम था।

---

† गाँदाल एक तरह की बेल है। पेट की बीमारी में उसके पत्तों को पानी या तरकारी के साथ उबालकर दिया जाता है। झोल रसेदार तरकारी को कहते हैं।

विशेषत: अपनी जन्मदात्री माता श्यामासुन्दरी की मृत्यु (सन् १९०६ ई.) के वाद से एक प्रकार से वे ही परिवार की चलानेवाली थीं। उनके भाई प्रत्येक काम में, छोटी-वड़ी सभी वातों में अपनी 'दीदी' पर ही निर्भर रहते थे।

धीरे-धीरे सव भाई वड़े हो गये। उनका विवाह भी हो गया और वे अलग-अलग रहने लगे। पर तो भी 'दीदी' के विना उनका कोई भी काम नहीं होता था। इस वार जयरामवाटी आने पर, कुछ महीने पश्चात् श्रीमाँ ने अपने मझले भाई के लड़के भूदेव के विवाह की व्यवस्था की (२४ वैशाख, वंगाब्द १३२०)। भाई की पत्नियाँ, भतीजे, भतीजियाँ सभी श्रीमाँ के स्नेह-दुलार की छत्रछाया में पले थे। एक दिन भूदेव की माँ ने वालिका-वधू को कुछ डाँट दिया। यह सुन श्रीमाँ हँसते-हँसते अपनी भ्रातृजाया सुवोधवाला से कहने लगीं, "अरी, मझली वहू, चुप रह, चुप रह! वह क्या ऐसे ही आयी है? उसके विवाह में कितने वाजे-गाजे वजे हैं!" फिर गम्भीर हो कहने लगीं, "तू डाँट क्यों रही है इतनी? कितना लाड़ली वहू है यह!"

११

श्रीमाँ का दैनिक जीवन अनुपम था। वे सारे समय कुछ-न-कुछ काम करती ही रहती थीं। वह कार्य कर्म के रूप से, जीवत्राण रूप से, जीव-सेवा रूप से तथा दया के रूप से प्रकाशित होता था। वह एक अपूर्व सम्मिश्रण था। आलस्य में अथवा व्यर्थ की बातों में समय बिताते श्रीमाँ को कभी पाया नहीं गया। प्रतिदिन ब्राह्म-मुहूर्त में, लगभग तीन बजे उठकर पहले वे श्रीरामकृष्ण देव के चित्र को देखती थीं। यही उनके कर्म-व्यस्त जीवन का सुस्थिर रंगपट था---सर्व आरम्भों की स्थिर यवनिका थी। उठने के समय वे आवेग-भरे कण्ठ से श्रीरामकृष्ण का नाम-स्मरण करती थीं। प्रातःकृत्य समाप्त कर ठाकुरजी का जागरण करातीं और फिर जप करने बैठ जाती थीं। इतने सबेरे उठने का अभ्यास उन्हें दक्षिणेश्वर से था। अन्तिम दिन तक भी इस नियम का उल्लंघन शायद ही कभी देखा गया हो। वे कहा करती थीं, "भोर के तीन बजते ही, जहाँ भी रहूँ कान के पास मानो बाँसुरी की आवाज आने लगती थी।" जब जो करने का हो, श्रीमाँ उसमें बिलकुल आलस्य नहीं करती थीं।

सबेरा होते ही वे घर बुहारतीं, कपड़े धोतीं, तरकारी काटतीं और फिर अपने ही हाथों से पूजा का आयोजन करतीं। फूल, बेल-पत्र आदि ठीक करना, फल काटना, नैवेद्य सजाना इत्यादि सारे कार्य सुन्दर ढंग से पूर्ण कर वे आठ बजे के अन्दर ही पूजा में बैठ जातीं। जब तक शरीर में शक्ति रही, तब तक श्रीरामकृष्ण की पूजा वे स्वयं करती रहीं। पूजा समाप्त होने पर अपने हाथों से पत्तों पर प्रसाद सजाकर

साधुओं और भक्त सन्तानों के लिए भेज देती थीं। वे स्वयं ठाकुर के प्रसाद का थोड़ासा मिश्री का शरबत ले लेती थीं। किसी-किसी दिन तो वह भी दूसरों के लिए भेज देती थीं।

श्रीमाँ पूजा शीघ्र समाप्त करने के पक्ष में थीं। वे स्वयं भी वैसा ही करतीं। एक दिन एक संन्यासी पूजा करने बैठे। उन्होंने खूब स्तोत्र पाठ करना आरम्भ किया। इधर भक्तों को प्रसाद देने में देरी होने लगी। अतः श्रीमाँ ने कहा, "पहले पूजा और भोग समाप्त कर ले, फिर जितनी इच्छा हो, स्तोत्र-पाठ करे!"

फिर इसी बीच चलता रहता था भक्तों का समागम — उन लोगों को दर्शन देना, दीक्षा देना, धर्मोपदेश करना, शोकातुरों को सान्त्वना प्रदान करना एवं गरीब-दुखियों के अभाव दूर करना—यह सब। सभी लोग अपने ऐहिक और पारत्रिक समस्त दुःख-कष्टों का बोझा श्रीमाँ के चरणों पर डालकर छुटकारा पाना चाहते थे।

मध्याह्न में ठाकुर को भोग निवेदित कर, भक्त-सन्तानों को खिला-पिलाकर श्रीमाँ के भोजन करते लगभग दो बज जाते थे। बिना सन्तानों को खिलाये श्रीमाँ स्वयं नहीं खा सकती थीं। यहाँ तक कि उनके अन्तिम दिनों में, जब उनका स्वास्थ्य बहुत गिर गया था, तब भी भक्त-सन्तानों के भोजन के पहले उन्हें खिलाना सम्भव न होता था। बहुत अनुनय-विनय करने पर, भोजन के लिए सन्तानों के बैठने पर वे आहार करने को सम्मत हुई थीं। एक समय (२० पौष, १३२० बंगाब्द) की बात है। श्रीमाँ जयरामबाटी में थीं। उनकी जन्मतिथि का उत्सव वहीं अनुष्ठित हुआ। इस अवसर पर जगह-जगह से बहुत से संन्यासी और भक्तजन जयरामबाटी में इकट्ठे हुए। आनन्द का मेला लग गया! श्रीरामकृष्ण देव की पूजा के बाद भक्तों ने श्रीमाँ के चरणों में भक्ति-अर्घ्य निवेदन किया। श्रीमाँ नये वस्त्र पहनकर नये गलीचे के आसन पर बैठी थीं। गले में भक्तार्पित

सुरभित फूलों की माला शोभा पा रही थी। मुखमण्डल स्नेह और करुणा से पूर्ण था। भक्तों ने उनके पादपद्मों में पुष्पांजलियाँ दीं; उन्होंने भी सबको आशीर्वाद दिया। फूलों का एक बड़ा ढेर लग गया था वहाँ। वह एक अद्भुत दृश्य था! पूजा-ग्रहण और आशीर्वाद-दान बहुत देर तक चलता रहा। बाद में श्रीमाँ ने कहा, "जरा जल्दी करो, तुम लोगों को जलपान कराना है, देर हो जायगी।" सन्तानों को खिलाने के लिए श्रीमाँ व्यग्र हो उठीं।

दूसरे पहर श्रीठाकुर की पूजा और भोग आदि समाप्त हुआ। भक्तों की इच्छा थी कि श्रीमाँ पहले खाने बैठें, जिससे सब लोग उनका प्रसाद पा सकें। विशेष दिन होने के कारण श्रीमाँ ने संन्यासी और भक्त सन्तानों की समवेत प्रार्थना पर मौन सम्मति दी। सभी विशेष आनन्दित हुए और बारम्बार जय-जयकार करने लगे।

ठाकुरजी का प्रसाद लाया गया। श्रीमाँ प्रसाद पाने बैठीं। ठाकुर का भोग उत्तम हुआ देखकर उनके मुखमण्डल पर तृप्ति का आनन्द झलक उठा। उन्होंने सभी पदार्थों को स्पर्श कर भक्तिभाव से मस्तक से छुलाया। फिर थोड़ासा मुख में डालकर, बड़े कातर और करुण भाव से सामने बैठे हुए भक्तों की ओर देखती हुई कहने लगीं, "बच्चों को भोजन कराने के पहले गले के नीचे कुछ भी नहीं उतर रहा है; तुम लोग शीघ्र अपने भोजन का प्रबन्ध करो।" इतना कहकर वे भोजन के आसन से उठ गयीं।

हाथ-मुँह धोकर वे खड़ी-खड़ी आनन्दपूर्वक सन्तानों का भोजन देखने लगीं। बच्चों का पेट भरने से ही माता का हृदय भर जाता है। बच्चों को खिलाकर ही माता की तृप्ति होती है। उस दिन श्रीमाँ निराहार रहीं, पर सन्तोष के उल्लास से उनका हृदय परिपूर्ण हो गया था।

श्रीमाँ की पूजा एक अद्भुत चीज थी — वह अनुभव की वस्तु

थी ! उसमें दिखावा नहीं था — थी केवल आन्तरिकता और अन्तरंगता। उनकी सेवा-पूजा आदि देखकर ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता था कि वे जीते-जागते ठाकुर के सम्मुख ही वह सब कर रही हैं। दक्षिणेश्वर में वे जैसा करती थीं, वाद में भी ठीक वैसा ही करती थीं। अन्तर केवल इतना था कि अब स्थूल के वदले था सूक्ष्म — सहज के वदले था भाव।

नैवेद्य-गृह में भोग सजा लिये जाने पर श्रीमाँ जब श्रीरामकृष्ण देव और अन्य देवताओं को नैवेद्य ग्रहण करने के लिए वुला ले जाती थीं, तव एक स्वर्गीय दृश्य उपस्थित होता था। सलज्ज वधू की भाँति श्रीमाँ ठाकुर के पास जाकर कहतीं, "चलो, खाने चलो।" फिर वाल-गोपाल के विग्रह के समीप जाकर कहतीं, "चलो, गोपाल, खाने चलो।" इस प्रकार नैवेद्य ग्रहण करने के लिए सवका आवाहन कर जव वे नैवेद्य-गृह की ओर जातीं, तो उनका भाव देखकर ऐसा लगता था, मानो सव देवतागण नैवेद्यान्न ग्रहण करने के लिए उनके पीछे-पीछे जा रहे हैं।

एक दिन श्रीमाँ इसी भाँति सव देवताओं को वुलाकर ले जा रही थीं। एक भक्त महिला मुग्ध-हृदय से यह दृश्य देख रही थी। उसकी ओर दृष्टि जाते ही श्रीमाँ ने हँसकर कहा, "सवको भोजन के लिए वुलाये ले जा रही हूँ।" इस प्रकार पकड़ में आ जाने से श्रीमाँ का मुखमण्डल लज्जा से आरक्तिम हो उठा।

एक सेवक ने एक दिन श्रीमाँ से पूछा, "माँ, ठाकुर क्या सचमुच खाते हैं ?"

श्रीमाँ — "हाँ। मैं क्या देखती नहीं कि ठाकुर ने खाया या नहीं ? ठाकुर खाने वैठते हैं, खाते हैं।"

सेवक ने विस्मित हो पुनः पूछा, "तुम देखती हो ?"

श्रीमाँ ने उत्तर दिया, "हाँ। देखती हूँ, किसी का दिया हुआ

वे खाते हैं, और किसी के दिये हुए पर दृष्टि मात्र डालते हैं।... जिसका जैसा भाव और भक्ति। भक्ति ही मुख्य है।"

श्रीरामकृष्ण देव के साथ श्रीमाँ का सहज और अन्तरंग व्यवहार सचमुच मर्मस्पर्शी था। कभी-कभी प्रसाद की मिठाई आदि समाप्त हो जाती थी। पर भक्तों को तो प्रसाद देना होगा। ऐसे समय श्रीमाँ झटपट एक दोना मिठाई हाथ में ले श्रीठाकुर के सामने रखतीं और कहतीं, "ठाकुर, ग्रहण करो।"

जो भी यह दृश्य देखता, उसका मन एक नवीन भाव में झूम उठता। श्रीमाँ कहा करती थीं "छाया काया ही है।" उनकी आँखों के सामने 'छाया' सारे समय दिव्य काया के रूप में प्रतिभासित होती थी।

एक समय की बात है। श्रीमाँ कलकत्ते से जयरामवाटी जा रही थीं। विष्णुपुर से, सबको लेकर, वे बड़े सवेरे छः बैलगाड़ियों में रवाना हुईं। वहाँ से आठ मील दूर जयपुर चट्टी में दोपहर की रसोई बनाने का प्रबन्ध हुआ था। चूल्हे से भात की हण्डी उतारते समय अकस्मात् वह मिट्टी की हण्डी फूट गयी, जिससे भात और माँड़ चारों ओर बिखर गया। सब लोग किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। पर श्रीमाँ बिलकुल विचलित नहीं हुईं। वे घास के तिनकों की एक कूंची बनाकर माँड़ को अलग करने लगीं। फिर हाथ धोकर उन्होंने बकस से श्रीरामकृष्ण के चित्रपट को निकाला और एक ओर प्रतिष्ठित किया। शाल-वृक्ष की लकड़ी से भात के कुछ दाने एक शाल पत्ते पर रखे, उसी पर दाल और तरकारी सजायी, और हाथ जोड़कर ठाकुर से कहने लगीं, "आज ऐसा ही बन पड़ा है। जल्दी गरम-गरम थोड़ासा खा लो।"

साथ की स्त्रियाँ श्रीमाँ का यह व्यवहार देख स्तब्ध हो गयीं। कोई-कोई मुंह दबाकर हँसने लगीं। श्रीमाँ बोलीं, "जब जैसा मौका

पड़े, उस समय वैसा ही तो करना चाहिए ? आओ, तुम लोग सव वैठ जाओ भला !" सव लोग माँ को घेरकर वैठ गये। उन्होंने लकड़ी से ऊपर का माँड़ हटा-हटाकर सवको भात परोसा — स्वयं भी थोड़ासा खाया। कहने लगीं, "अच्छा वना है।" ठाकुर ने ग्रहण किया था, उनका प्रसाद था; तभी तो इतना स्वादिष्ट लगा था !

श्रीरामकृष्ण के साथ श्रीमाँ के ऐश्वर्य का जो सम्वन्ध था, वह विधि-नियमों में आवद्ध नहीं था; वह तो गूढ़तम अन्तरंगता के सौरभ से भरा हुआ था — पूजा की सुगन्धि से सुवासिक था। उनके लिए श्रीरामकृष्ण केवल परमदेवता नहीं थे, वरन् प्राणों के देवता थे, उनकी अन्तरात्मा थे।

दोपहर के भोजन के वाद श्रीमाँ विश्राम लेने के लिए थोड़ा लेटती तो थीं, पर अधिकांश दिन इस समय स्त्री-भक्तों की भीड़ लग जाती थी। वे थोड़ी ही देर वाद उठ जातीं। हाथ-मुँह धो, कपड़े साफ कर, श्रीरामकृष्ण को अपराह्न का भोग निवेदित कर वे जप करने वैठ जातीं। उस समय स्त्री-भक्त उनके दर्शन करती थीं। विशेप आवश्यकता होने पर जप के समय भी श्रीमाँ उन लोगों को उपदेश देती थीं। सन्ध्या के थोड़े पूर्व से पुरुप-भक्तों के प्रणाम करने का समय था। उस समय श्रीमाँ अपने को चादर से सिर तक ढककर पैर नीचे लटकाये खाट पर वैठी रहती थीं। भक्तगण एक-एक करके प्रणाम करते जाते थे। श्रीमाँ किसी के साथ वातचीत नहीं करती थीं। यदि कोई विशेष परिचित भक्त होता, तो उसके प्रश्न करने पर वे वहुत धीमे स्वर में अथवा केवल सिर हिलाकर उत्तर देती थीं। पास के सेवक स्पष्ट करते हुए भक्तों को माँ का उत्तर वतला देते थे।

इस प्रकार रात के लगभग ग्यारह वजे तक श्रीमाँ की देवी-देवताओं और भक्तों की सेवा चलती थी। रात में उन्हें तीन-चार घण्टे से अधिक विश्राम करने का समय नहीं मिलता था।

श्रीमाँ का जयरामवाटी का जीवन उनकी कार्यशीलता के कारण और भी व्यस्त था। वहाँ तो उन्हीं को अपने हाथ से सारे काम-काज करने पड़ते थे। सवेरे रसोई का प्रबन्ध करना, तरकारी काटना, भण्डार की देख-रेख करना, भक्तों के रहने-खाने की व्यवस्था करना—सब कुछ वे ही करती थीं। श्रीरामकृष्ण देव की पूजा समाप्त कर सबको जलपान कराती थीं और स्वयं थोड़ासा प्रसादी मिश्री का शरबत लेती थीं। फिर रसोई बनानेवाली को जलपान के लिए बिठाकर वे श्रीरामकृष्ण के भोग के निमित्त कुछ चीजें तैयार करती थीं।

कई बार सबके लिए रसोई बनाना और परोसना आदि भी श्रीमाँ को ही करना पड़ता था। अतिथि-अभ्यागतों और भक्तों का आना-जाना लगा ही रहता था। फिर शाम को भी ये सारे काम उन्हीं को करने पड़ते थे। उन्हें प्रतिदिन सौ बीड़े पान ही लगाने पड़ते थे। रसोई की व्यवस्था कर वे अपने हाथों से ही लूची †, रोटी, तरकारी आदि बनाती थीं। लालटेन साफ करने से लेकर भक्तों की मच्छरदानी टाँगने के लिए सुतली आदि का प्रबन्ध तक वे ही करती थीं। भक्त-सेवा श्रीमाँ के जयरामवाटी-जीवन का एक प्रधान अंग थी। हर एक भक्त उनसे जयरामवाटी में अपनी जन्मदायिनी माता की अपेक्षा भी अधिक घनिष्ठ रूप से मिलने का अवसर पाता था। कभी-कभी कोई भक्त अपराह्न में उनके दर्शन करने आते थे। श्रीमाँ उनसे कुशल-प्रश्न पूछकर और उपदेश आदि देने के बाद बड़े स्नेह से उन्हें मिठाई आदि खाने को देती थीं। फिर उसके साथ पान—और वह भी दो बीड़े से कम किसी को नहीं। ये सब चीजें हैं तो बड़ी सामान्य, पर श्रीमाँ ऐसे स्नेह के साथ देती थीं कि भक्तों के हृदय पर माँ के स्नेह की गहरी छाप पड़ जाती थी।

पड़ोसियों के प्रति श्रीमाँ का अपनापन अपना सानी नहीं रखता

† एक प्रकार की बंगाली पूरी।

था। जयरामवाटी में मुहल्ले के वृद्ध स्त्री-पुरुष प्रतिदिन घर के छोटे लड़के-लड़कियों को लेकर श्रीमाँ को प्रणाम करने आते थे। श्रीमाँ भी हर एक के सुख-दुःख पूछतीं और आवश्यकता होने पर यथाशक्ति सहायता करतीं; फल-मिठाई आदि जो कुछ रहता, दोनों हाथ भर-भरकर उन लोगों को देतीं। वे सभी की परम आत्मीया थीं —किसी की दीदी थीं, किसी की बूआ और किसी की मौसी। यही उनका उन सबके साथ सम्बन्ध था। जहाँ भी विपत्ति की छाया पड़ती, दुःख-कष्ट के बादल घहराते, वहीं श्रीमाँ के सेवा-हस्त पहुँच जाते थे।

गाँव के बैनर्जी-परिवार की एक विधवा के कान के भीतर बड़ा घाव हो गया। उसे उससे बहुत पीड़ा होने लगी। उसके एक छोटे बच्चे को छोड़ अपना कहने को और कोई नहीं था। जयरामवाटी में न डाक्टर था, न वैद्य, और न दवा-पानी की ही कोई व्यवस्था थी। कान का वह घाव सड़ गया था, उसमें बड़े-बड़े कीड़े पड़ गये थे। दुर्गन्ध के मारे कोई उसके पास तक न फटकता था। बेचारी विधवा वेदना से छटपटाती रहती थी। श्रीमाँ को यह खबर मिली। उन्होंने तुरन्त पानी में नीम-पत्ते उबाले और वह गरम पानी ले विधवा के घर को चलीं। साथ में एक सेवक-ब्रह्मचारी थे। श्रीमाँ ने पिचकारी से घाव धो दिया।

श्रीमाँ उस विधवा की सेवा-शुश्रूषा कर दोपहर को घर लौटीं। इसी समय कोयालपाड़ा-आश्रम से एक ब्रह्मचारी श्रीमाँ के लिए बाजार से कुछ सामान खरीदकर लेते आये। ब्रह्मचारी को देखते ही श्रीमाँ ने उत्कण्ठित होकर कहा, "देखो बेटा, तुम लोग तो कोयालपाड़ा-आश्रम में कभी-कभी असहाय रोगियों को रखकर उनकी सेवा-देखभाल करते हो। केदार (उस आश्रम के अध्यक्ष, स्वामी केशवानन्द) से कहना, अगर तुम लोग इस विधवा को वहाँ ले जाकर सेवा की

व्यवस्था कर सको, तो बड़ा अच्छा हो। हाय, बेचारी के कोई देखनेवाला नहीं है, सेवा-जतन के अभाव से उसका घाव सड़ गया है, बड़ी दुर्गन्ध आती है, कोई पास तक नहीं जाता। उसका अबोध बच्चा भी कैसे कष्ट में पड़ा हुआ है!"

दूसरे दिन सवेरे कोयालपाड़ा-आश्रम से ब्रह्मचारी लोग बैलगाड़ी लेकर विधवा को ले जाने के लिए आये। पालकी न मिल सकी। इस बीच माँ ने विधवा के घर जाकर उसका घाव धो दिया। पानी-कीचड़ का रास्ता था। उन्हें पाँच मील जाना था। इसी लिए शीघ्र उस विधवा को एक तख्त पर लिटाकर गाड़ी पर चढ़ाया गया। श्रीमाँ ने उसे थोड़ा गरम दूध पिलाया, नाना प्रकार से सान्त्वना दी। रोगिणी को लेकर गाड़ी कोयालपाड़ा की ओर रवाना हुई।

पर चिकित्सा, सेवा-शुश्रूषा आदि सब व्यर्थ हुए। चार-पाँच दिन बाद उस विधवा ने कोयालपाड़ा-आश्रम में शान्तिपूर्वक अन्तिम साँस ली। विधवा की दाह आदि अन्त्येष्टि क्रिया के निमित्त ब्रह्मचारी-गण जयरामवाटी आये। श्रीमाँ ने सब सुनकर कहा, "अहा, तुम्हीं लोगों ने उसके लड़के का काम किया, बेटा! अगर यहाँ रहती, तो पानी की एक बूँद के बिना ही मर जाती।"

अनेक गाँवों के पीड़ित और दुःखी लोग श्रीमाँ की सेवा, सान्त्वना और सहायता पाते थे। उन्होंने कितने प्रकार से लोगों की सेवा की है, यह सोचने से चकित रह जाना पड़ता है। और उस सेवा का श्रेष्ठ तत्त्व था — आन्तरिकता।

उनका सारा दिन इसी भाँति सेवा में कट जाता था, और रात्रि के सन्नाटे में वे जीव-जगत् के कल्याण के लिए प्रशान्त मौन की भाँति ध्यान में डूब जाती थीं। जयरामवाटी में एक सेवक यह विशेष रूप से देखा करते थे कि रात में वे जब कभी कमरे से बाहर आते, माँ त्योंही आवाज देतीं, "कौन है?"

सेवक को इससे चिन्ता होती। वे सोचते — क्या माँ को रात में नींद नहीं आती ! उन्हें अनिद्रा की बीमारी तो नहीं है ? इसी लिए एक दिन उन्होंने पूछा, "माँ, आप क्या रात में नहीं सोतीं, या नींद ही नहीं आती ? जब भी उठता हूँ, आप आवाज देती हैं।"

श्रीमाँ के अधरों पर स्निग्ध हँसी फैल गयी, उन्होंने कहा, "बेटा, कब सोऊँ ? लड़के लोग व्याकुल होकर आते हैं और हठ करके दीक्षा लेकर चले जाते हैं। स्वयं तो कुछ करते नहीं। काम-काज में ही उनका समय चला जाता है। जब एक बार उनका भार ले लिया है, तब मुझे उनको देखना तो पड़ेगा ही। इसी लिए जप करती हूँ, और ठाकुर के पास उनके लिए प्रार्थना करती हूँ, 'हे ठाकुर, उन्हें चैतन्य कर दो, मुक्त कर दो। इस संसार में बहुत दुःख-कष्ट है। उनको फिर से न आना पड़े'।" तभी तो कल्याणमयी रात जाग-जागकर सन्तानों के लिए जप करती थीं — उनके कल्याण की प्रार्थना करती थीं !

श्रीमाँ के दैनिक जीवन का सर्वश्रेष्ठ माधुर्य था — सन्तोष। फिर धैर्य और सहिष्णुता भी कैसी असीम थी ! वे सारा जीवन नित्य नवीन प्रेम-माधुरी के साथ कार्य करती रहीं। सभी अवस्थाओं में उनके शान्त-सौम्य भाव को देखकर ऐसा लगता था, मानो वे ध्यान-मग्ना हैं; — तभी तो उनके सारे कार्य पूजा के सौरभ से भरे-भरे रहते थे।

* * * *

इस बार लगभग सात महीने जयरामबाटी में रहकर श्रीमाँ बंगाब्द १३२० के १३वें आश्विन को कलकत्ता आयीं।

एक दिन अपराह्न में एक महिला आयी और श्रीमाँ को प्रणाम कर उनके चरणों के पास बैठकर दीक्षा के लिए रोने लगी। श्रीमाँ, न जाने क्यों, उसे दीक्षा देने को किसी प्रकार राजी नहीं हो रही थीं;

कह रही थीं, "मैं तो तुम्हें पहले ही मना कर चुकी हूँ, क्यों आयीं? मेरा स्वास्थ्य अच्छा नहीं है, अभी नहीं होगा।"

पर वह भी छोड़नेवाली नहीं थी। दीक्षा के लिए वह श्रीमाँ के पीछे पड़ गयी। शायद उसका तन-मन पवित्र नहीं था, इसी लिए श्रीमाँ किसी प्रकार सहमत नहीं हो रही थीं। एक बार उन्होंने कहा भी, "तुम लोगों का क्या! तुम लोग तो मन्त्र लेकर चली जाती हो, फिर उसके बाद?"

बहुत अनुनय-विनय के बाद आगामी महाष्टमी का दिन दीक्षा देने के लिए निश्चित हुआ।

अनेक लोगों के पाप-ताप ले-लेकर श्रीमाँ का स्वास्थ्य अकसर ही खराब हो जाता था। फिर भी वे कलकत्ता आतीं — लोगों के कानों में मुक्ति-मन्त्र सुनाने के लिए, उन्हें मुक्ति प्रदान करने के लिए। कितने ही पथ-भ्रष्ट, इधर-उधर भटकते हुए, धूल-कीचड़ से सने हुए लोगों को भी वे अपनी अभयदायिनी गोद में स्थान देती थीं।

किसी दिन एक स्त्री-भक्त ने कहा, "यही तो बात है, माँ,... आप कई बार अस्वस्थ रहती हुई भी दया करके दीक्षा दे देती हैं और इस प्रकार हम लोगों का दुःख-भोग अपने ऊपर लेकर और भी कष्ट पाती हैं।"

सुनकर माँ ने कहा, "हाँ बेटी, ठाकुर यही बात कहते थे। नहीं तो भला इस शरीर में क्या रोग-राई हो सकती है? इसी बीच कुछ हैजा-सा भी हो गया था।" फिर भी विशेष कारण न होने पर वे किसी को निराश नहीं करती थीं।

* * * *

एक दिन सवेरे बागबाजार में मातृ-सदन (उद्बोधन-कार्यालय) में श्रीमाँ के समीप बैठकर एक संन्यासी ने पूछा, "माँ, कुछ लोग कहते हैं कि मठ (बेलूड़-मठ) के साधु लोग यह जो सेवाश्रम,

अस्पताल आदि चला रहे हैं, पुस्तकें बेचते हैं, हिसाब-किताब रखते हैं, वह सब अच्छा नहीं। ठाकुर ने क्या यह कुछ किया था? जो लोग व्याकुलता लेकर मठ में नये-नये आते हैं, उन पर यही सब काम लाद दिया जाता है। अगर कर्म ही करना है, तो पूजा, जप-ध्यान, कीर्तन आदि सब करे। दूसरे कर्म वासना उत्पन्न करके मनुष्य को भगवान से विमुख कर देते हैं।"

सब सुनकर श्रीमाँ ने शान्त-भाव से कहा, "तुम लोग उनकी बातें मत सुनना। यदि काम-काज न करोगे, तो दिन-रात फिर क्या लेकर रहोगे? चौबीसों घण्टे क्या जप-ध्यान किया जा सकता है? वे लोग ठाकुर का उदाहरण देते हैं। पर उनकी बात ही निराली थी।... तुम लोग उनकी बातों पर कान मत देना।" फिर शरणागति के सम्बन्ध में कहने लगीं, "ठाकुर जैसा चला रहे हैं, वैसा ही चलना। मठ इसी तरह चलेगा। जो लोग ऐसा न कर सकेंगे, वे निकल जायेंगे।"

हमने अन्यत्र यह उल्लेख किया है कि सन् १८९० ई. में श्रीमाँ गया से बुद्धगया देखने गयी थीं। वहाँ के विशाल मठ और विपुल ऐश्वर्य को देखकर उनके प्राण व्याकुल हो उठे थे। उन्होंने अपनी संन्यासी सन्तानों के लिए एक स्थायी जगह के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण देव के पास रो-रोकर प्रार्थना की थी। सब लड़कों को संघबद्ध करके रखने के लिए उनकी आकुल प्रार्थना और सक्रिय प्रयत्न का कुछ आभास अन्यत्र दिया जा चुका है।

श्रीरामकृष्ण के आगमन-हेतु के सम्बन्ध में एक अर्थपूर्ण संकेत, वे जीवन का जो आदर्श रख गये उसके प्रति श्रीमाँ की असीम प्रीति और संघ के प्रचार-प्रसार की एक अटल महान् सम्भावना — यह सब श्रीमाँ की उक्त प्रार्थनाओं में व्यक्त हो उठा है। उनकी वाणी शब्द मात्र नहीं है; वह तो त्रिकालरूपिणी की दिव्य दृष्टि के समक्ष प्रकाशित

भविष्य का सुस्पष्ट आभास है। उनकी सत्य-दृष्टि के सम्मुख, आनेवाले युग का चित्र खिंच गया था। युगावतार के भाव के दूर-दूर तक फैलकर सबको सराबोर कर देने की गौरवमयी सूचना उनके सत्य-संकल्प मन में पहले ही स्पन्दित हो उठी थी। श्रीमाँ की आवेगमयी प्रार्थना में हम मानव-जाति की श्रेष्ठतम आशा और पवित्रतम आकांक्षा की सम्पूर्ति का एक अत्युज्ज्वल चित्र देख पाते हैं।

श्रीरामकृष्ण-संघ की गठन और उसके विस्तार तथा श्रीरामकृष्ण देव की भाव-धारा की आशातीत अग्र-गति के सम्बन्ध में आलोचना का यह स्थान नहीं है। हम तो, विशेषतः, श्रीरामकृष्ण देव के लीला-संवरण के बाद किस प्रकार सारदा देवी के जीवन को केन्द्रित करके 'श्रीरामकृष्ण-संघ' संगठित हुआ था, श्रीरामकृष्ण के विवेकानन्द-प्रमुख शिष्यगण, जो संघ के आचार्य थे, संघरूपिणी श्रीमाँ पर अपने व्यक्तिगत एवं संघगत जीवन के सम्बन्ध में कहाँ तक निर्भर रहते थे, तथा श्रीमाँ ने किस प्रकार आँखों से दूर रहकर भी 'धर्मसंघ' को परिचालित व नियन्त्रित किया — इन्हीं सब बातों की, समय-समय पर की कुछ झलकें देकर सन्तोष अनुभव करेंगे।

लोक-कल्याण के कार्यों के साथ-साथ श्रीरामकृष्ण-संघ की संन्यासी सन्तानों की आध्यात्मिक जीवन-गठन का विराट् दायित्व श्रीमाँ किस प्रकार दिन-पर-दिन चुपचाप वहन किये जा रही थीं, इसका भी सामान्य आभास स्थान-स्थान पर दिया जायगा।

यह बहुतों के लिए एक महान् आश्चर्य की बात है कि लिखना-पढ़ना न जाननेवाली और सदा अवगुण्ठन में रहनेवाली सारदा देवी के लिए ऐसे विपुल शक्ति-सम्पन्न श्रीरामकृष्ण-संघ को चलाना कैसे सम्भव हुआ था! भला, विश्वविजयी स्वामी विवेकानन्द-प्रमुख अमित-धी और विराट् आध्यात्मिक शक्ति-सम्पन्न संन्यासीगण इस अवगुण्ठिता रमणी के निकट ऐसी कौनसी शक्ति और प्रेरणा पा सकते

थे ? उन लोगों ने गुरु-पत्नी सारदा देवी के प्रति जो सम्मान प्रदर्शित किया, वह क्या अपने गुरु — महामानव श्रीरामकृष्ण — के प्रति श्रद्धा का निदर्शन मात्र था, अथवा सारदा देवी में भी कुछ दिव्य भाव था ?

श्रीरामकृष्ण के पास से उनके अन्तरंग शिष्यों ने वहुत कुछ पाया था — भाव, समाधि, निर्विकल्प में अवस्थिति तथा और भी वहुत कुछ। जिसके लिए जो आवश्यक था, श्रीरामकृष्ण ने मुक्त-हस्त से उसे वही दिया। पर उन लोगों ने श्रीसारदा देवी के पास ऐसी कौनसी वस्तु पायी थी, जिसके फलस्वरूप उन्होंने उनके चरणों में इस प्रकार आत्मार्पण किया था ? श्रीमाँ में इतनी खींचनेवाली ऐसी कौनसी वात थी ? वे तो इस वार 'रूप ढककर आयी थीं'। एक-दो त्यागी-सन्तानों को छोड़ वे दूसरों के साथ आमने-सामने वातचीत तक नहीं करती थीं। तो भी उन लोगों ने श्रीमाँ में ऐसा क्या देखा था, जिसके कारण उन्होंने उनको जगन्माता का जीता-जागता रूप मान लिया था ? सिर पर हाथ रखकर श्रीमाँ के थोड़ा आशीर्वाद देने से ही वे लोग अपने को महावन्य समझने लगते थे, तो ऐसा क्यों ?

सभी त्यागी शिष्यों ने श्रीरामकृष्ण की अच्छी तरह परीक्षा करके, उनको 'वजाकर' तव ग्रहण किया था। श्रीरामकृष्ण भी उस सम्वन्ध में शिष्यों को उत्साह देते हुए कहते, "साधु को दिन में देखना, रात में देखना, तव उस पर विश्वास करना।" और भी कहते, "भक्त होना, पर मूर्ख क्यों होना ?" शिष्यों ने श्रीरामकृष्ण को दिन-रात देखकर, नाना प्रकार से उनकी परीक्षा करने के पश्चात् अपनाया था। श्रीरामकृष्ण के लीला-संवरण के वाद भी उनके शिष्यों ने उनके अस्तित्व और देवत्व के सम्वन्ध में परीक्षा करना नहीं छोड़ा। पर क्या श्रीमाँ के चरणों में उन्होंने विना किसी विचार के ही सिर नवा दिया था ?

राखाल श्रीरामकृष्ण के मानसपुत्र थे। श्रीरामकृष्ण कहते,

"राखाल उसी व्रज का राखाल (गोप) है!" वे भावावेश में श्रीरामकृष्ण की गोद में बैठ जाते थे! श्रीरामकृष्ण के साथ कितना मान-अभिमान करते थे! वे ही राखाल, बाद में जो संघ-गुरु स्वामी ब्रह्मानन्द — अध्यात्म-राज्य के महाराज — के रूप से परिचित हुए, श्रीमाँ के पास जाते समय ऐसे भावाविष्ट हो जाते कि उनका सर्वांग पुलकित और रोमांचित होने लगता! भाव की अतिशयता से उनका सारा शरीर काँपने लगता और दोनों कपोलों को प्लावित करते हुए आनन्दाश्रु बहने लगते।

अपनी स्थूल देह छोड़ने के तीन-चार दिन पूर्व श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्रनाथ (स्वामी विवेकानन्द) को समाविस्थ कर, योग-बल से अपनी समस्त आध्यात्मिक शक्ति प्रिय शिष्य में संक्रामित कर कहा था, "आज तुझे अपना सब कुछ देकर मैं फकीर हो गया। तू इस शक्ति के बल से संसार का महान् कल्याण करेगा। काम समाप्त होने पर लौट जायगा।" — अर्थात् देह-त्याग करके उसी अखण्ड-धाम में चला जायगा।

वे ही नरेन्द्रनाथ — स्वामी विवेकानन्द — जब श्रीमाँ के समीप जाते, तो माँ की गोद के बच्चे-जैसे बन जाते थे। पाश्चात्य विजय-यात्रा के पूर्व 'माँ' के आशीर्वाद से शक्ति प्राप्त कर वे समुद्र के पार चले गये थे। श्रीमाँ ने आशीर्वाद देते हुए कहा था, "बेटा, विश्व-विजयी होकर लौटो। तुम्हारे मुख में सरस्वती विराजमान हों।"

सन् १८९४ ई. में स्वामीजी ने अमेरिका से अपने एक गुरुभाई को लिखा था, "... माँ क्या हैं, तुम कुछ समझ न सके, अभी तक तुममें से कोई भी न समझ सका; धीरे-धीरे समझ सकोगे।... मेरी आँखें खुल गयी हैं, दिन-पर-दिन सब समझता जा रहा हूँ।... दादा, नाराज न होना, सचमुच तुममें से किसी ने भी अभी तक माँ को नहीं समझा। मुझ पर माँ की कृपा पिता की कृपा से लाखगुनी

अधिक है।... दादा, क्षमा करना। दो खुली-खुली बातें कह दीं।... बस यहीं पर माँ के सम्बन्ध में मैं भी जरा कट्टर हूँ। माँ की आज्ञा होते ही यह भूत वीरभद्र सब कुछ कर सकता है। तारक-दादा, अमेरिका आने के पहले मैंने चिट्ठी लिखकर माँ से आशीर्वाद माँगा था। उन्होंने आशीर्वाद दिया, और बस मैं छलाँग मारकर सागर-पार हो गया। इसी से समझ लो।... दादा, माँ की बात याद आने पर कभी-कभी कहता हूँ — 'को रामः'! दादा, यह जो मैंने कहा, वस यहीं पर मेरी कट्टरता है।..." इत्यादि।

श्रीरामकृष्ण के प्रति उनके सभी अन्तरंग शिष्यों की जो धारणा और श्रद्धा थी, वही धारणा और वैसी ही श्रद्धा श्रीसारदा देवी के प्रति थी। अस्सी वर्ष के वृद्ध तपस्वी स्वामी शिवानन्द ने भाव-विह्वल होकर श्रीमाँ की एक जन्म-तिथि पर प्रार्थना की थी, "माँ, माँ, महामाया! जय माँ, जय माँ! हम लोगों को भक्ति-विश्वास, ज्ञान-विवेक, अनुराग, ध्यान-समाधि दो। ठाकुर के इस संघ का कल्याण करो — सारे संसार का कल्याण करो, दुनिया में शान्ति स्थापित करो। हम लोगों के भक्ति नहीं है, इसी लिए इन सब दिनों का ठीक-ठीक माहात्म्य नहीं समझ सकते। आज क्या ऐसा-वैसा दिन है! महामाया का जन्म-दिन है। जीव-जगत् के कल्याण के लिए आज के दिन स्वयं महामाया ने जन्म-ग्रहण किया था। मानवी-लीला समझना बड़ा कठिन है। वे कृपा करके यदि न समझा दें, तो कौन समझ सकता है? वे किस प्रकार साधारण भाव से रहती थीं! हम लोग भला उन्हें क्या समझें? एकमात्र ठाकुर ने ही माँ को ठीक-ठीक पहचाना था। हमारी माँ का नाम है सारदा। ये माँ ही स्वयं सरस्वती हैं। वे ही कृपा करके ज्ञान देती हैं — ज्ञान अर्थात् भगवान को जानना। यह ज्ञान होने पर ही ठीक-ठीक सच्ची भक्ति सम्भव है। ज्ञान के बिना भक्ति नहीं होती। शुद्ध ज्ञान और शुद्धा भक्ति एक हैं। माँ की कृपा से ही

वह होना सम्भव है। माँ ही ज्ञान देने की स्वामिनी हैं।"

श्रीमाँ का जीवन मानो एक दुर्बोध पहेली है। केवल श्रीरामकृष्ण के कथन के माध्यम से ही वह बूझी जा सकती है। उन्होंने कहा था, "वह सारदा — सरस्वती है, ज्ञान देने आयी है। रूप रहने से, कहीं अशुद्ध मन से देखकर लोगों का अकल्याण न हो, इसलिए अबकी बार रूप ढककर आना हुआ है।"

स्वामी विवेकानन्द की पाश्चात्य-यात्रा की बात लगभग तय हो चुकी थी। गुप्त रूप से उसकी व्यवस्था हो रही थी। उन्होंने गुरु-भाइयों को भी इस सम्बन्ध में कुछ नहीं बतलाया था। ऐसे समय उनके मन के किसी अज्ञात कोने में सन्देह का धुआँ-सा उठने लगा। वे सोचने लगे — श्रीमाँ से अनुमति तो मैंने अभी तक नहीं ली! श्रीमाँ और ठाकुर तो अभिन्न हैं! वे जैसी आज्ञा देंगी, वैसा ही होगा। यह सोचकर स्वामीजी ने माँ से आशीर्वाद माँगते हुए उन्हें गुप्त रूप से एक चिट्ठी लिखी। श्रीमाँ यह जानती थीं कि नरेन्द्र कौन है और क्यों उसने नर-देह धारण की है। इसी लिए उसकी चिट्ठी पाकर उन्होंने तुरन्त उत्तर नहीं भेजा, वरन् इस सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण देव के संकेत की अपेक्षा करने लगीं। एक रात श्रीमाँ ने स्वप्न में देखा — ठाकुर समुद्र की उत्ताल तरंगों पर से पैदल चले जा रहे हैं और नरेन को अपने पीछे-पीछे आने के लिए बुला रहे हैं। यह स्वप्न अर्थपूर्ण संकेत से भरा था। श्रीमाँ ने समझ लिया कि नरेन को समुद्र-पार जाना होगा, ठाकुर ही उसे युगधर्म-संस्थापन के लिए ले जा रहे हैं। तब उन्होंने हृदय से आशीर्वाद देते हुए नरेन को पत्र लिखा। वह चिट्ठी पाकर स्वामीजी सोल्लास कह उठे, "अहा, अब सब ठीक हुआ। माँ की भी इच्छा है कि मैं जाऊँ।" श्रीमाँ की इच्छा ही आशीर्वाद है!

अमेरिका से स्वामीजी ने स्वामी सारदानन्द को वहाँ वेदान्त-

प्रचार के लिए चले आने को लिखा। यात्रा के पूर्व सारदानन्दजी श्रीमाँ की अनुमति लेने जयरामवाटी पहुँचे। डवडवाये नेत्रों से श्रीमाँ ने उन्हें हृदय से आशीर्वाद देते हुए कहा, "आओ, वेटा। ठाकुर तुम लोगों की हर क्षण रक्षा कर रहे हैं। कोई डर नहीं।" श्रीमाँ की माता श्यामासुन्दरी तो यह देखकर स्तव्व हो गयीं, कहा, "सारदा, तूने किस हृदय से शरत् (स्वामी सारदानन्द) को समुद्र-पार जाने की आज्ञा दी ?"

इसी भाँति वड़ी-वड़ी वातों में भी श्रीरामकृष्ण के शिष्यगण श्रीमाँ का मुँह जोहा करते थे। उनकी यह दृढ़ धारणा थी कि श्रीमाँ और ठाकुर अभिन्न हैं। श्रीमाँ का आदेश ही ठाकुर का निर्देश है। श्रीमाँ अरूप का ही रूप हैं।

एक दिन वातचीत के प्रसंग में श्रीमाँ ने अपने शरीर को दिखाकर कहा था, "इसमें वे (ठाकुर) सूक्ष्म देह से हैं। ठाकुर ने स्वयं कहा है, 'मैं तुम्हारे भीतर सूक्ष्म देह से रहूँगा'।" पुनः कहा, "हम क्या अलग हैं!" और यह कहते ही वे जीभ दवाकर कह उठीं, "यह मैंने क्या कह डाला!"

नर-देह त्यागकर श्रीरामकृष्ण अपने अपूर्ण कार्य की पूर्ति के लिए श्रीमाँ की देह का अवलम्वन करके विद्यमान थे। श्रीरामकृष्ण देव के शिष्यों के सारे अनुभव श्रीमाँ के अस्तित्व की आभा से परिपूर्ण रहते थे।

सन् १८८९ ई. की घटना है। स्वामी व्रह्मानन्द के हृदय में वैराग्याग्नि तीव्र रूप से जल उठी थी। उनका मन तपस्या के लिए चल पड़ने के हेतु छटपटाने लगा। पर श्रीमाँ की सम्मति विना कैसे जायँ! इसी लिए उन्होंने श्रीमाँ की अनुमति प्राप्त करने के हेतु उन्हें खवर भेजी। उनका मनोभाव जानकर श्रीमाँ ने वलरामवावू को लिखा, "...सुना है, राखाल पश्चिम (उत्तरप्रदेश) की ओर

जानेवाला है। पिछली बार जगन्नाथ में उसने ठण्डी के कारण दुःख भोगा था। जाड़े के अन्त में, फागुन के लगभग जाना ठीक होगा। पर यदि उसकी जाने की इच्छा अत्यन्त प्रबल हो, तो मैं क्या कहूँ ?" श्रीमाँ की शुभेच्छा जानकर ब्रह्मानन्दजी के प्राण आनन्द से थिरक उठे। वे तपस्या का दृढ़ संकल्प ले निकल पड़े।

श्रीरामकृष्ण के त्यागी शिष्यगण श्रीमाँ में जगन्माता का जीवन्त प्रकाश देखते थे। इसी लिए उन्होंने मातृ-चरणों में सम्पूर्ण आत्मसमर्पण कर दिया था। माँ की इच्छा सबके लिए भगवती का आदेश थी; वहाँ वे लोग बिना किसी तर्क-विचार के सिर झुका देते थे।

एक समय बेलुड़-मठ के एक नौकर को स्वामी विवेकानन्दजी ने चोरी के अपराध में मठ से निकाल दिया। निरुपाय हो अन्त में उस नौकर ने श्रीमाँ के चरणों में शरण ली। उस समय माँ बागबाजार के बोसपाड़ा-लेन के एक भाड़े के मकान में थीं। नौकर ने रोते-रोते कहा, "माँ, मैं बाल-बच्चोंवाला गरीब आदमी हूँ। जो तनखाह मुझको मिलती है, उससे घर-गृहस्थी का खर्च चल नहीं पाता।... इसी लिए मैंने ऐसा काम कर डाला।" इत्यादि। सुनकर श्रीमाँ को दया आ गयी। उन्होंने उसे आश्रय दिया।

उसी दिन अपराह्न को स्वामी प्रेमानन्द मठ से श्रीमाँ के दर्शन करने बागबाजार आये। वे माँ की चरणवन्दना करके उठे ही थे कि माँ ने कातर-स्वर से कहा, "देखो, बाबूराम, वह आदमी बड़ा गरीब है। अभाव के कारण उसने वैसा किया है। इसी से क्या नरेन उसे निकाल देगा? तुम लोग संन्यासी हो, संसार का जंजाल कैसा होता है यह तो तुम लोगों ने अनुभव किया नहीं! उसे तुम लौटा ले जाना।"

स्वामी प्रेमानन्दजी के यह कहने पर कि इससे स्वामीजी (विवेकानन्द) अवश्य चिढ़ उठेंगे, श्रीमाँ ने दीप्त-कण्ठ से कहा,

"मैं कहती हूँ, ले जाओ।" और फिर कुछ न कहकर प्रेमानन्दजी उस आदमी को लेकर मठ आये। उनके साथ उस नौकर को देखते ही स्वामीजी खीजकर कह उठे, "उसे फिर से ले आया, बाबूराम का यह ढंग तो देखो?"

"माँ ने ले जाने के लिए कहा।" — प्रेमानन्द के यह कहते ही स्वामीजी चुप हो गये। नौकर फिर से काम में लग गया।

माँ अशरण की शरण थीं। एक बार किसी प्रकार माँ का आश्रय मिल गया कि बस, फिर कोई डर नहीं था।

सन् १९१४ ई. में मालदह के भक्तों ने एक विराट् उत्सव का आयोजन किया। इस अवसर पर स्वामी प्रेमानन्दजी को वहाँ ले जाने की उनकी विशेष इच्छा थी। बाबूराम — स्वामी प्रेमानन्द — श्रीरामकृष्ण देव के ईश्वर-कोटि पार्षद थे। श्रीरामकृष्ण उनके सम्बन्ध में कहते, "बड़ा विशुद्ध है।... उसकी हड्डियाँ तक पवित्र हैं।... श्रीराधिका के अंश से जन्म हुआ है।" जब बाबूराम चार वर्ष के थे, उनके आत्मीय उनसे मजाक करते हुए उनके विवाह की बात उठाते। तब बालक बाबूराम रोने के स्वर से कहते, "मैं विवाह नहीं करूँगा। मेरा विवाह कर दोगे, तो मैं मर जाऊँगा।" इन शुद्धात्माओं के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण कहते, "ये होमा-पक्षी † की जात के हैं।

---

† वेदों में होमा-पक्षी की कथा है। यह चिड़िया आकाश में बहुत ऊँचे पर रहती है। वहीं यह अण्डे देती है। अण्डा देते ही वह अण्डा गिरने लगता है; परन्तु इतने ऊँचे से वह गिरता है कि गिरते-गिरते बीच ही में फूट जाता है। तब बच्चा गिरने लगता है। गिरते-ही-गिरते उसकी आँखें खुलती और पंख निकल आते हैं। आँखें खुलने से जब वह बच्चा देखता है कि मैं गिर रहा हूँ और गिरकर चूर-चूर हो जाऊँगा, तब वह एकदम अपनी माँ की ओर फिर ऊँचे चढ़ जाता है।

कभी संसार में नहीं फँसेंगे। थोड़ा ज्ञान होते ही माँ की ओर सीधी दौड़ लगायेंगे।"

जब श्रीरामकृष्ण काशीपुर में सख्त बीमार थे, तब की बात है। वे कुछ खा नहीं सकते थे। पानी की बूंद तक गले के नीचे नहीं उतरती थी। भक्तों को दुःखित देख उन्होंने कहा था, "मैं बाद में सूक्ष्म शरीर में लाख मुँह से खाऊँगा।" यह सुन बाबूराम ने वेदना-भरे स्वर से कहा था, "मैं तुम्हारा लाख-वाख नहीं चाहता, मैं चाहता हूँ कि तुम इसी मुँह से खाओ और मैं इसी मुख को देखूँ।" भक्त तो भगवान को अपने उसी प्राणप्रिय रूप में देखना चाहता है।

वही बाबूराम अब स्वामी प्रेमानन्द हैं। मालदह के भक्त उन्हें ले जाने के लिए उनके पीछे पड़ गये। भक्तों का ऐसा तीव्र आग्रह देख उन्हें जाने की इच्छा हुई। पर माँ की अनुमति के बिना जाना कैसे सम्भव हो! अतः वे मालदह के भक्तों के साथ मठ से बागबाजार में श्रीमाँ के निवासस्थान पर आये। प्रेमानन्दजी का स्वास्थ्य उतना अच्छा नहीं था। अतः श्रीमाँ ने जाने की अनुमति नहीं दी। भक्तगण बड़ी दुविधा में पड़ गये; प्रेमानन्दजी के न जाने से उनका सारा आयोजन ही व्यर्थ हो जायगा! अन्ततोगत्वा भक्तगण श्रीमाँ के चरणों में उपस्थित हुए। सब सुनकर श्रीमाँ ने प्रेमानन्दजी को पुनः बुलवाया, और पूछा, "अच्छा बाबूराम, ये लोग इतना कह रहे हैं, तो क्या तुम जाओगे?"

बाबूराम महाराज का एक ही उत्तर था, "मैं क्या जानूँ, माँ! आप जैसी आज्ञा देंगी, वैसा ही होगा।"

बहुत सोच-विचार के बाद श्रीमाँ ने कहा, "अच्छा जाओ, एक बार हो आओ। पर अधिक दिन न ठहरना।" तब प्रेमानन्दजी गये।

श्रीरामकृष्ण देव की सन्तानों के लिए श्रीमाँ क्या थीं और उनका

स्थान कहाँ पर था, इसकी एक सुन्दर झलक हमें स्वामी शिवानन्दजी के कुछ कथनों से मिलती है।

शिवानन्दजी उस समय वेलुड़-मठ के निरीक्षक थे। एक नवागत ब्रह्मचारी ने कोई वड़ा अपराध किया। मठ के अन्यान्य ब्रह्मचारियों ने उसे भय दिखलाया कि मठाध्यक्ष उसे अवश्य मठ से निकाल देंगे। वह ब्रह्मचारी भयभीत होकर किसी से कुछ न कह, साथ में और कुछ न ले जयरामवाटी की ओर रवाना हुआ। फटे कपड़े और थकी देह ले जयरामवाटी पहुँचकर उसने श्रीमाँ के स्नेह की छाया में शरण ली। क्षमारूपिणी अभया ने भयभीत सन्तान को अभय देकर यत्नपूर्वक अपने पास रखा। उन्होंने झटपट दो नये वस्त्र निकालकर उसे दिये और स्नेहपूर्वक उसे भरपेट भोजन कराया। वाद में मठ में शिवानन्दजी को पत्र लिखवाया, "वेटा तारक, छोटे-नगेन ने तुम्हारे पास ऐसा कौनसा अपराव किया है! तुम उसे मठ से निकाल दोगे इस डर से वह सारा रास्ता पैदल चलकर मेरे पास आया है। सो, वेटा, माँ के पास क्या सन्तान का कोई अपराव होता है? वेटा, उसे कुछ न कहना।"

पत्र पाते ही शिवानन्दजी ने वापसी-डाक से माँ को लिखा, "...छोटा-नगेन आपके पास गया है, यह जानकर निश्चिन्त हुआ। हम लोग भी उसे इवर खोज-ढूंढ़ रहे थे कि कहाँ गया? उसे भेज दीजिए। यहाँ दुर्गा-पूजा के लिए लोगों की कमी है। मैं उसे कुछ भी न कहूँगा।..."

कुछ दिन वाद ही ब्रह्मचारी मठ लौट आया। उसे देखते ही शिवानन्दजी ने आगे वढ़कर स्नेह से अपनी भुजाओं में भर लिया और कहा, "वेटा, तू मेरे नाम हाईकोर्ट में नालिश करने गया था!" श्रीमाँ के आदेश के ऊपर और कुछ भी जो नहीं चलता!

छोटे वच्चे अवोव होते हैं; तभी तो उन्हें माँ का अविक लाड़-प्यार मिलता है। माँ उन्हें खींचकर गोद में उठा लेती हैं, मुँह में

अमृत पीयूष देती हैं और दुलार-दुलारकर उनके हृदय भर देती हैं। अरे, यदि तू भी छोटा बच्चा हो सका, तभी तुझे माँ की गोद मिलेगी। बड़े लड़कों पर माँ की दृष्टि रहती है, पर गोद तो छोटे बच्चों के लिए है। फिर, गुणरहित सन्तान पर माँ का स्नेह अधिक होता है।

एक दूसरे के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा और गहरा प्रेम ही श्रीरामकृष्ण-संघ की जीवनी-शक्ति है। दक्षिणेश्वर और काशीपुर में श्रीरामकृष्ण और सारदा देवी के स्नेह-नीड़ में ही 'श्रीरामकृष्ण-संघ' गठित हुआ था।

बहुत पहले की बात है। बालक बाबूराम ने अभी-अभी श्रीराम-कृष्ण के पास आना-जाना आरम्भ किया था। उन्होंने एक दिन अपनी माता से कहा, "तुम मुझे क्या प्यार करती हो? ठाकुर जिस प्रकार हम लोगों को प्यार करते हैं, वैसा प्यार करना तुम नहीं जानतीं।" उनकी माता तो यह सुनकर स्तम्भित रह गयीं, कहा, "कहता क्या है रे? मैं माँ हूँ, और मैं प्यार नहीं करती?" केवल बाबूराम को ही नहीं, वरन् सभी शिष्यों की यही एक अनुभूति थी।

स्वामी शिवानन्द ने वृद्धावस्था में उस अतीत की बात का स्मरण कर, विह्वल होकर कहा था, "ठाकुर के प्रेम के सामने माँ-बाप का प्रेम तुच्छ-सा लगता था।" इस ईश्वरीय प्रेम के सूत्र से ही 'श्रीरामकृष्ण-संघ' ग्रथित हुआ था।

श्रीरामकृष्ण के लीला-संवरण के बाद श्रीमाँ ने अपने स्नेह-पंख फैलाकर 'संघ' की सदैव रक्षा की और आध्यात्मिक शक्ति के प्रभाव से उस प्रेम-बन्धन को और भी दृढ़ बनाया।

सन् १९०७ ई. की बात है। तीव्र वैराग्य से प्रेरित हो तीन भक्त घर छोड़कर संन्यास लेने के लिए श्रीमाँ के समीप जयरामबाटी में उपस्थित हुए। यह उनकी आन्तरिक इच्छा थी कि श्रीमाँ से

संन्यास लेकर, उनका आशीर्वाद प्राप्त कर किसी तीर्थस्थान में तपस्या करते हुए जीवन यापन करेंगे। श्रीमाँ ने उनके मन की बात समझ ली। स्नेहपूर्वक अपने पास रख, यथासमय उन्होंने उन तीनों को संन्यास-दीक्षा दी। पर उनकी यह इच्छा नहीं थी कि वे लोग पहाड़-पर्वतों और वन-जंगलों में घूमते फिरें। इसी लिए विदा के पूर्व श्रीमाँ ने उन नवदीक्षित संन्यासियों से कहा, "तुम लोग जब ठाकुर के आश्रय में आ गये हो, तब इतनी कठोरता की आवश्यकता नहीं। पर तुम लोगों ने परिव्राजक होकर घूमने का दृढ़ संकल्प किया है, इसलिए मैं थोड़ा करने दूंगी — तुम लोग काशी तक पैदल जाओ। वहाँ मैं तारक (स्वामी शिवानन्द) को लिखे देती हूँ, वह तुम लोगों को वहाँ रहने देगा। उसके पास रहकर तुम लोग अपना संन्यास-जीवन बना लेना और उसी से संन्यास-नाम ले लेना।" नवीन संन्यासियों ने नतमस्तक हो श्रीमाँ का आदेश सिर पर लिया। उनका आशीर्वाद ले वे लोग काशी की ओर रवाना हुए। विदा के समय माँ के नेत्र सजल हो उठे। आँखें पोंछती-पोंछती वे भी सन्तानों के साथ कुछ दूर तक आयीं।

एक आश्रम के अध्यक्ष ब्रह्मचारियों की उद्दण्डता की शिकायत करने श्रीमाँ के पास आये। श्रीमाँ ने सब सुनकर अध्यक्ष से कुछ अनुशासन के स्वर में कहा, "अरे, यह कैसी बात है?... इतनी हुकूमत चलाने से आश्रम चलेगा कैसे? वे अगर थोड़ा वैसा हुए भी, तो क्या? वे तो आखिर लड़के ही हैं। अपने लड़के को ही थोड़ा ज्यादा डाँट दो, तो छोड़कर अलग हो जाता है।" फिर ब्रह्मचारी को उपदेश देते हुए उन्होंने कहा था, "देखो, मिल-जुलकर चलना पड़ता है। ठाकुर कहते थे, 'श, ष, स'। सब सहे जाओ, वे हैं।"

बेलुड़-मठ के एक संन्यासी के मन में तपस्या के लिए निकलने की तीव्र इच्छा हुई। वे श्रीमाँ की अनुमति और आशीर्वाद लेने

बागबाजार में उनके समीप उपस्थित हुए। माँ ने सब सुनकर पूछा, "कहाँ जाओगे, बेटा ? साथ में कुछ पैसा है ?"

संन्यासी ने कहा, "नहीं। ग्रैंड-ट्रंक रोड पकड़कर पैदल काशी की ओर जाऊँगा।"

श्रीमाँ ने कातर-कण्ठ से कहा, "हाय, कार्तिक महीना है; लोग कहते हैं कि यम के चारों दरवाजे खुले रहते हैं। मैं माँ होकर कैसे कहूँ, बेटा, कि तुम जाओ ? उस पर कहते हो, हाथ में पैसा नहीं है; भूख लगने पर कौन खाने देगा, बेटा ?"

सन्तान के कष्ट की बात सोचकर माँ ने उसे जाने नहीं दिया। इधर यह सोचकर कि माँ को दुःख होगा, संन्यासी का तपस्या के लिए जाना सम्भव न हुआ।

जयरामबाटी में एक दिन श्रीमाँ ने जप-ध्यान और निष्काम कर्म के प्रसंग में कहा था, "सारे समय जप-ध्यान कर सकनेवाले कितने लोग हैं भला ? मन को लगाकर, उसे छूट न देकर, काम करना बहुत अच्छा है। मन को छूट मिलते ही वह दुनिया की सारी गड़बड़ें उत्पन्न करता है। मेरे नरेन ने यह सब देखकर ही तो निष्काम कर्म जारी किया।"

* * * *

श्रीमाँ की शिक्षा-प्रणाली बड़ी ही सुन्दर थी। वे गृही-सन्तानों को गार्हस्थ्य-जीवन के पूर्ण आदर्श की ओर परिचालित करतीं, और संन्यासियों को निर्मल त्याग के पथ पर ले जातीं। माँ के रूप से वे गृही की भी माँ थीं और संन्यासी की भी। सब समान रूप से उनकी सन्तान थे, फिर भी संन्यासियों के प्रति उनकी गहरी श्रद्धा का प्रदर्शन संन्यासी-सन्तानों के लिए बड़े संकोच का कारण होता था। दूसरी ओर, संन्यास के प्रति सम्मान देकर वे संन्यासियों के मन में महान् संन्यास-जीवन के प्रति श्रद्धा एवं आत्म-मर्यादा का बोध जगा देती थीं।

एक गृहस्थ अपनी भक्तिशीला पत्नी से बार-बार कहा करता था, "तुम बाल-बच्चों को लेकर मायके जाकर रहो। मैं अब संसार में नहीं रहूँगा — संन्यासी होऊँगा।" उस स्त्री-भक्त ने निरुपाय हो श्रीमाँ को एक करुण पत्र लिखकर सारी अवस्था निवेदित की। चिट्ठी सुनकर माँ विचलित हो गयीं, कहने लगीं, "देखो भला, कैसा अन्याय है! वह बेचारी अब बाल-बच्चे लेकर कहाँ जाय? वे संन्यासी होने चले! तो फिर गृहस्थी क्यों की? अगर संसार-त्याग करना ही है, तो पहले इन लोगों के खाने-रहने की अच्छी व्यवस्था करो।"

एक बार एक संन्यासी अस्वस्थ होने के कारण स्वास्थ्य-सुधार के लिए एक गृहस्थ-भक्त के घर रहने लगे। यह सुनकर संन्यास-जीवन के उच्च आदर्श की ओर संकेत करते हुए श्रीमाँ ने कहा, "अस्वस्थ हुआ है, तो क्या इसी लिए संन्यासी गृहस्थ के घर रहेगा? मठ है, आश्रम हैं। संन्यासी का आदर्श है, त्याग। यदि रास्ते में काठ की स्त्री-मूर्ति उलटी पड़ी हो, तो भी संन्यासी पैर से भी सीधा करके उसे न देखे। फिर, संन्यासी के पास पैसा रहना बहुत खराब है।"

एक भक्त एक संन्यासी को गाड़ी-भाड़ा देकर अपने साथ काशी ले जाने को प्रस्तुत हुए। पर श्रीमाँ ने इसमें अपनी सम्मति नहीं दी। उन्होंने संन्यासी से कहा, "तुम साधु हो, तुम्हारे जाने का भाड़ा क्या दूसरी जगह से नहीं जुटेगा? वे लोग गृहस्थ हैं, उनके साथ क्यों जाओगे? एक गाड़ी में जाना पड़ेगा; हो सकता है, तुमसे कहे, 'यह करो, वह करो।' तुम संन्यासी हो, तुम क्यों वह सब करोगे?" और देखा जाय, तो वे भक्त श्रीरामकृष्ण के समय के एक विशिष्ट भक्त थे और श्रीमाँ के भी विशेष कृपापात्र थे! इसी भाँति श्रीमाँ त्यागियों के समक्ष उनके जीवन के महान् आदर्श को जाज्वल्यमान रखती थीं।

श्रीमाँ के सेवक-ब्रह्मचारी ने जब संन्यास की प्रार्थना की, तो

माँ ने उन्हें संन्यास नहीं दिया। उससे सेवक के मन में कुछ दुःख भी हुआ था, और कभी-कभी उनमें यह विचार भी उठने लगता कि माँ ने मुझे अयोग्य समझकर संन्यास नहीं दिया। श्रीमाँ से सेवक के मन की वेदना छिपी न रही। एक दिन कुछ काम-काज का आदेश देकर उन्होंने सेवक से कहा, "देखो बेटा, तुम्हारे गेरुआ ले लेने पर क्या मैं तुमसे यह सब कह सकती? तब पैर छूने से भी मुझे संकोच होता।" फिर सान्त्वना देती हुई कहने लगीं, "तुम लोगों को चिन्ता क्या है? बाद में जब इच्छा होगी, शरत् (स्वामी सारदानन्द) को बतलाने से ही वह व्यवस्था कर देगा।"

बेलुड़-मठ में श्रीरामकृष्ण देव का जन्मोत्सव मनाया जा रहा था। श्रीमाँ भी मठ में आयी थीं। पास के उद्यान-भवन में ठहरी हुई थीं। मध्याह्न में श्रीठाकुर का प्रसाद पाने के बाद ब्रह्मचारी-सेवक श्रीमाँ के हाथ धुलाने लगे। मुँह-हाथ धोने के बाद उनके पैर धोने के समय सेवक-ब्रह्मचारी पैरों में पानी डालकर ज्योंही उनके चरण पोंछने गये कि श्रीमाँ संकुचित होकर कह उठीं, "नहीं, नहीं, बेटा, तुम? तुम लोग तो देवता के आराध्य-धन हो।" सेवक-ब्रह्मचारी को पैरों में हाथ नहीं लगाने दिया — उन्होंने स्वयं ही पैर पोंछ लिये। और इधर देखिए तो वे संन्यासियों की मुक्तिप्रदायिनी माँ हैं! उनकी थोड़ीसी भी सेवा करने का अवसर मिलने पर वे लोग अपने को धन्य मानते थे।

राधू अस्वस्थ थी। इसलिए श्रीमाँ उसे लेकर कोयालपाड़ा के निर्जन स्थान में रहती थीं। राधू को हल्ला-गुल्ला सहन नहीं होता था। एक दिन ब्रह्मचारी-सेवक श्रीमाँ के सामने बैठकर बाजार से लानेवाली चीजों की सूची तैयार कर रहे थे। इतने में उधर से जाते समय एक महिला-भक्त का आँचल ब्रह्मचारी की पीठ से छू गया। श्रीमाँ की नजर पड़ गयी। वे कह उठीं, "अरी, मेरा लड़का सामने

बैठकर लिख रहा है, वह पुरुष है, तुम्हें इतना भी होश नहीं है ? उसकी पीठ से आँचल लगाती जा रही हो ! वह ब्रह्मचारी है, और तुम हो स्त्री, मर्यादा रखकर चलना चाहिए । आँचल जमीन से लगाकर उसे प्रणाम करो ।"

श्रीमाँ बागबाजार में थीं । एक दिन राधू पैरों में पायजेब पहने तिमंज़िले से तेजी से उतरकर आ रही थी । पायजेब की आवाज सुनते ही श्रीमाँ फटकारती हुई कह उठीं, "राधी, तुझे लज्जा नहीं आती ? नीचे मेरी संन्यासी-सन्तानें हैं, और तू पायजेब पहने दौड़ी आ रही है । लड़के क्या सोचेंगे, जरा सोच तो सही ? पायजेब अभी खोल डाल । यहाँ लड़के तमाशा करने तो नहीं आये, साधन-भजन करने आये हैं । उनके भजन में बाधा पड़ने से क्या होगा जानती है ?" इतने प्यार की राधू को भी माँ ने क्षमा नहीं किया । त्यागीगण मानो उनके हृदय-धन थे । वे कहतीं, "बेटा, त्यागी लोग न होने से किन्हें लेकर रहूँगी ?"

फिर यह भी देखा जाता था कि आवश्यकता होने पर, संघ के कल्याण के लिए अथवा किसी संन्यासी के व्यक्तिगत मंगल के निमित्त वे संन्यासी को फटकारने में, यहाँ तक कि उसके प्रति कठिन शासन करने में भी आगा-पीछा नहीं करती थीं ।

माँ के रूप में वे संन्यासी, गृही सबकी माँ थीं । मुक्तिदात्री जगज्जननी के रूप में वे समान रूप से मुक्ति भी दिये जाती थीं, पर व्यावहारिक जगत् में शुद्धात्मा, सर्वत्यागी, बाल-ब्रह्मचारी सन्तानों पर मानो उनकी कुछ अधिक दया थी । महामानवों के भगवद्-विलासी मन को जागतिक भूमि पर रखने के लिए शुद्धसत्त्व-आधारों के अवलम्बन का प्रयोजन होता है । इसके सिवा, श्रीभगवान शरणागत-वत्सल हैं । तभी तो श्रीमाँ भी कहतीं, "ये लोग तो ठाकुर के लिए सब छोड़-छाड़कर आये हैं । ठाकुर ही तो इन लोगों के अनन्य-आश्रय हैं ।" श्रीमाँ भी संन्यासियों के लिए अनन्य-आश्रय थीं ।

एक समय बागबाजार के उद्बोधन-मठ में एक विशिष्ट महिला-भक्त के साथ किसी कारणवश एक ब्रह्मचारी की छिड़ गयी। अपनी कुलीनता के मद में चूर वह महिला-भक्त क्रोध में आकर मठ से जाते समय ऊँचे स्वर में सुनाती गयी, "उसके यहाँ रहते मैं कभी न आऊँगी।" लोगों के बहुत समझाने-बुझाने पर भी उसका क्रोध शान्त नहीं हुआ।

श्रीमाँ ने सब बातें शान्तिपूर्वक सुनीं। बाद में कुछ उत्तेजित-कण्ठ से कहने लगीं, "वह कौन होती है? ... नहीं आयी तो क्या! ये सब मेरी सर्वत्यागी सन्तानें हैं। मेरे लिए सब छोड़कर यहाँ रहते हैं।"

यह मानो श्रीरामकृष्ण की वाणी की ही प्रतिध्वनि थी! वे चिल्लाकर रोते थे, "अरे (त्यागी बच्चो), कहाँ हो रे, आओ! तुम लोगों को देखे बिना अब रहा नहीं जाता। ... हाय, विषयी लोगों के साथ बातें करते-करते मुँह जल गया!" इत्यादि।

श्रीमाँ की बातों से संन्यासियों को नयी प्रेरणा मिलती थी। वे छोटी-मोटी घटनाओं में से संन्यास-जीवन के आदर्श को बड़े सुन्दर रूप से सामने रख देती थीं। उनकी बातें अनुभूति की वाणी थीं। उनके सिद्धान्त सत्यदृष्टि का प्रकाश थे। श्रीमाँ जब तक स्थूल देह में रहीं, तब तक श्रीरामकृष्ण-संघ के नये-पुराने सभी संन्यासी उनके निर्देश पर पूर्ण रूप से निर्भर रहते थे। वे लोग उनके जीवन और वाणी से जीवनादर्श का सार्थक विकास और परिपूर्णता देख पाते थे। श्रीमाँ की प्रसन्नता उनके लिए भगवती का आशीर्वाद थी।

सन् १९१२ ई. में बेलुड़-मठ में शारदीया दुर्गा-उत्सव के समय श्रीमाँ मठ में आयी थीं। महानवमी के दिन दोपहर के बाद श्रीमाँ की संगिनी गोलाप-माँ ने आकर स्वामी सारदानन्दजी से कहा, "शरत्, माँ तुम लोगों की सेवा से बड़ी प्रसन्न होकर तुम लोगों को आशीर्वाद

दे रही हैं।" सारदानन्दजी के पास ही स्वामी प्रेमानन्दजी बैठे हुए थे। माँ का आशीर्वाद सुनते ही सारदानन्दजी ने कहा, "बाबूराम-दादा, सुना तुमने?" आनन्दातिरेक से दोनों ने एक दूसरे को कसकर छाती से लगा लिया। पूजा करना सार्थक हो गया!—देवी ने पूजा ग्रहण जो कर ली!

कोयालपाड़ा-आश्रम में उस समय एक छोटासा धर्मार्थ दवाखाना था। एक दिन वहाँ के अध्यक्ष ने आकर श्रीमाँ से कहा, "माँ, हमारे धर्मार्थ दवाखाने में सम्पन्न-दशावाले भी दवा लेने आते हैं। हम लोगों ने तो गरीबों के लिए ही इसे खोला है। ऐसे लोगों को दवा देना क्या उचित है?"

श्रीमाँ कुछ चुप रहकर बोलीं, "बेटा, इस देश के सभी लोग गरीब हैं। फिर भी, यदि यह सब जान-सुनकर भी वे दवा लेने आयें, तो सामर्थ्य रहते अवश्य देना। जो याचक है, वही गरीब है।"

प्रश्न का समाधान हो गया। इतना ही नहीं, सेवा-धर्म पर एक नया प्रकाश पड़ा।

श्रीरामकृष्ण-संघ की स्थिति और विस्तार के मूल में थी पराशक्तिरूपिणी सारदा देवी की शुभेच्छा और गम्भीर अनुप्रेरणा।

१२

श्रीरामकृष्ण ने गिरिश का पूरा भार अपने ऊपर ले लिया था। अन्तिम बीमारी के समय काशीपुर के उद्यान-भवन में श्रीरामकृष्ण एक दिन मानो 'कल्पतरु' हुए थे — जिसने जो चाहा था, उन्होंने उसे वही देकर कृतार्थ किया था। किसी ने समाधि चाही थी, किसी ने इष्ट-देव के दर्शन, और अन्य दूसरों ने आध्यात्मिक राज्य के अन्य गूढ़ अनुभव। उन्होंने भी भावावेश में भक्तों को स्पर्श करके, "चैतन्य हो" कहते हुए उनकी कामना पूर्ण कर दी थी और इस प्रकार उन लोगों को चैतन्य प्रदान किया था। गिरिश का सारा भार लेना श्रीरामकृष्ण देव के जीवोद्धार-कार्य में की केवल एक प्रकट घटना है। श्रीरामकृष्ण ने और भी बहुतेरे भक्तों का सारा भार अपने ऊपर लिया था और विभिन्न प्रकार से उन्हें चैतन्य प्रदान किया था।

भार लेने का अर्थ है शिष्य की ओर से पूर्ण आत्मसमर्पण। छोटा बच्चा जिस प्रकार हमेशा, सब बातों में माँ पर निर्भर रहता है, ठीक उसी प्रकार श्रीभगवान पर निर्भर रहना। बच्चे का पूरी तरह आत्मसमर्पण देखकर ही माँ उसका सारा भार लेती है। माँ को छोड़कर बच्चा और कुछ नहीं जानता, उसकी एकमात्र चिन्ता रहती है 'माँ'। वह माँ के बारे में ही सोचता है, माँ को ही पुकारता है।... अन्त-अन्त में गिरिश श्रीरामकृष्णमय हो गये थे। गिरिश का 'अहं' श्रीरामकृष्ण में विलीन हो गया था। सारे विचार, सारे अस्तित्व में श्रीरामकृष्ण ही थे। प्रत्येक श्वास-प्रश्वास के साथ उन्हें श्रीरामकृष्ण का स्मरण होता था। वे कहते, "यह जो साँस चल रही है, वह भी

ठाकुर की इच्छा है।" गिरिश अपने अन्तिम दिनों में आत्मसमर्पण की साधना की सिद्धि में पहुँच गये थे। माँ मूक और अक्षम शिशु का ही सारा भार अपने ऊपर लेती हैं।

श्रीसारदा देवी के सम्बन्ध में युगावतार भगवान श्रीरामकृष्ण ने कहा था, "वह मेरी शक्ति है।" शिव और शक्ति! इस युग की शक्ति, पूर्ण सात्त्विक शक्ति का विग्रह है। फिर वही शक्ति मातृरूप—मातृभाव का भी विग्रह है। चराचर विश्व में मातृरूप से इसी शक्ति का प्रकाश है।

श्रीसारदा देवी के जीवन में इस भार लेने का पूर्ण विकास दीख पड़ता है। श्रीरामकृष्ण की इच्छा से उन्होंने गुरु के रूप में बहुत से आश्रित सन्तानों का पूरा भार अपने ऊपर लिया था। उन लोगों के केवल परकाल का ही नहीं, वरन् इहकाल का भी समस्त भार उन्होंने अपने कन्धों पर लिया था। उन्होंने कई लोगों से कहा कि कम-से-कम आखिरी समय तुम लोगों का हाथ पकड़कर ले जाने के लिए ठाकुर को आना ही होगा। असमर्थ, दुर्बल, संसार के नाना फन्दों में फँसे हुए किसी शिष्य से कहा, "तुम्हें कुछ न करना होगा। मैं ही तुम्हारे लिए करूँगी।"

यह तो मानो 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' की ही पुनरुक्ति है! स्नेह-ममतामयी माँ ने भक्तों को शिशु समझते हुए बहुतों का सारा भार लेकर कहा था, "हर घड़ी सोचना कि तुम्हारे पीछे एक जन हैं।... मैं हूँ, बेटा, फिर डर क्या?" श्रीमाँ की यही अभय-वाणी है। माता की गोद में बच्चा निडर हो जाता है।

एक असहाय भक्त ने श्रीमाँ के चरणों में शरण लेते हुए कातर-स्वर से कहा, "माँ, जप-ध्यान तो थोड़ा भी नहीं होता। मन को किसी प्रकार शान्त नहीं कर पा रहा हूँ।"

अभया श्रीमाँ सान्त्वना देती हुई कहने लगीं, "नहीं हुआ तो

क्या ? ठाकुर हैं, मैं हूँ; बेटा, फिर भय क्या ? इतना ही जानते रहना कि तुम लोगों के पीछे ऐसे एक पुरुष हैं, जो हाथ पकड़कर मृत्यु के उस पार अमृत-धाम में ले जायेंगे ।"

श्रीमाँ कोयालपाड़ा में थीं । जहाँ माँ हैं, वहीं सन्तानें भी आती हैं । वहाँ भी सन्तानों की भीड़ लगी रहती थी । वे 'माँ, माँ' की पुकार सुनती रहती थीं । उनका हृदय भर आता था । सन्तानों को न देखकर वे आतुर हो उठतीं । व्याकुल-स्वर से पुकारतीं, "अरे (बच्चो), तुम लोग आओ ।" पुकार सुनकर दूर-दूर से बच्चे लोग माँ के पास दौड़ आते थे । यदि किसी दिन कोई कृपाप्रार्थी न आता, तो मुक्तिदायिनी छटपटाने लगती थीं । श्रीरामकृष्ण देव को लक्ष्य कर कहतीं, "आज का दिन तो व्यर्थ ही गया ! एक भी तो नहीं आया ! तुमने तो कहा था न, 'तुम्हें रोज कुछ-न-कुछ (जीवोद्धार का कार्य) करना पड़ेगा'?" और यह कहकर वे घर के बाहर-भीतर जाने-आने लगती थीं । फिर श्रीरामकृष्ण देव के चित्र की ओर अपलक-नेत्रों से देखती हुई कहतीं, "क्यों ठाकुर, आज का दिन क्या व्यर्थ जायगा ?"

दूसरे दिन भक्तों को आये देखकर माँ का मुख आनन्द से उल्लसित हो उठता था ।

कोयालपाड़ा में भी माँ के पास कुछ भक्त लड़के आये । उनमें से एक माँ के चरणों के पास बैठकर कहने लगा, "माँ, यह जो मैंने तुम्हारी कृपा पायी है, यही मेरा बल है, मेरा भरोसा है ।"

आनन्दरूपिणी श्रीमाँ ने कहा, "तुम्हें चिन्ता किस बात की, बेटा; तुम तो मेरे हृदय में हो ।... तुम्हें कुछ न करना होगा । तुम्हारे लिए मैं कर रही हूँ ।" वे सन्तानों को केवल गोद में नहीं, वरन् हृदय के गम्भीर प्रदेश में रखती थीं ।

यह सुनकर भक्त के प्राण आनन्द से भर उठे । उसने पुनः पूछा, "माँ, तुम्हारे जहाँ जितने बच्चे हैं, क्या सबके लिए तुम्हें करना पड़ता है ?"

श्रीमाँ — "हाँ, सभी के लिए मुझे करना पड़ता है।"

हमारी माँ चिरन्तन-माँ जो हैं! पर भक्त विस्मित हो गया, पूछा, "तुम्हारे तो इतने बच्चे हैं, सब क्या तुम्हारी याद में हैं?"

अपने स्वरूप को ढकते हुए श्रीमाँ ने कहा, "नहीं, सबकी बात मन में नहीं रहती। जिस-जिसका नाम ख्याल आता है, उनके लिए जप करती हूँ। और जिनका नाम याद नहीं आता, उनके लिए ठाकुर से यह कहकर प्रार्थना करती हूँ, 'ठाकुर, मेरे कई बच्चे इधर-उधर हैं, तुम उनको देखना; उनका जिससे कल्याण हो, वही करना'।"

तभी तो गाने के स्वर में, एक दिन गाते-गाते श्रीरामकृष्ण ने श्रीमाँ से कहा था, "उत्तरदायित्व क्या अकेला मेरा है? तुम्हारा भी तो है।" दोनों का ही दायित्व है—समान दायित्व है।

भगवान की ओर से है भार लेना, और भक्त की ओर से है शरणागति। अनन्य-शरणागति बड़ी कठिन बात है। 'अहं' का पूरा नाश हुए बिना यथार्थ शरणागति का भाव नहीं आता। या तो 'अहं' का नाश करो, नहीं तो फिर श्रीरामकृष्ण देव जैसा कहते थे, "यह 'मैं' तो मरेगा नहीं, तो रहे फिर 'दास मैं' होकर"—इसे अपनाओ। कहो—'तस्य दासोऽहम्'।

एक भक्त से निराशा की बात सुनकर श्रीमाँ ने कहा, "हाँ, (दर्शन) होगा क्यों नहीं? वह शिव-वाक्य है। उनके (ठाकुर के) मुख की वाणी मिथ्या नहीं हो सकती। सुरेन (मित्र) से उन्होंने कहा था, 'जिसके है वह नापे, जिसके नहीं वह जपे।' (सबको लक्ष्य कर) वह भी न कर सको, तो फिर (ठाकुर को दिखाकर) 'शरणागत' हो जाओ! इतना ही ध्यान रखने से हुआ कि हमारे पीछे एक देखनेवाले है, एक माँ या पिता हैं।"

छोटे बच्चे के लिए माँ पर निर्भरता ही उत्तम है। वह माँ की गोद में सोकर निश्चिन्त मन से हाथ-पैर फेंक-फेंककर खेलता है!

श्रीमाँ उस समय कोयालपाड़ा में थीं। एक भक्त आया और कल्याणरूपिणी माँ के पास अपने मन की भीषण अशान्ति प्रकट करता हुआ कहने लगा, "माँ, साधन-भजन तो कुछ भी नहीं हो पा रहा है।" वे आश्वासन देती हुई बोलीं, "तुम्हें कुछ न करना होगा; जो करना होगा, मैं कर लूंगी।"

यह निर्भय-वाणी तो आशातीत थी! विस्मित होकर भक्त ने पूछा, "क्या मुझे कुछ न करना होगा?"

श्रीमाँ—"नहीं।"

भक्त—"तो क्या अब से भविष्य में मेरी उन्नति मेरे किये कर्मों पर निर्भर नहीं है?"

अभयदायिनी माँ के मुख में एक ही अभय-वाणी थी, "नहीं, तुम क्या करोगे? जो करना होगा, मैं कर लूंगी।"

श्रीमाँ की अहेतुकी कृपा से भक्त के प्राण निर्भय हो गये। वह शान्त हो गया, कुछ कहते न बना।

एक अन्य सन्तान की आर्त-वाणी सुनकर श्रीमाँ ने अपनी छाती पर हाथ रखकर दीप्त-कण्ठ से कहा था, "यदि मैं ठाकुर के पास जाऊँगी, तो तुम लोग भी अवश्य जाओगे।"

श्रीमाँ ने सभी आश्रित सन्तानों का भार लिया था। जिस किसी ने श्रीरामकृष्ण के चरणों में आश्रय लिया, उसी को श्रीमाँ की अभय-गोद मिली। भविष्य में भी जो लोग श्रीरामकृष्ण के चरणों में शरण लेंगे, उन्हें भी माँ की गोद प्राप्त होगी। वे मातृरूपिणी शक्ति जो हैं!

नाना प्रकार के दुःखों और दुश्चिन्ताओं से जर्जरित-हृदय हो एक भक्त श्रीमाँ के पास आया और उन्हें प्रणाम कर प्रार्थना के स्वर से कहने लगा, "माँ, वैसे ही तो संसार की इतनी झंझटें हैं, उस पर फिर नौकरी है। इसी लिए जप-तप नहीं कर पाता; मन की उन्नति भी नहीं हो रही है।"

करुणा से माँ का हृदय भर आया। उनके श्रीमुख से अमृत-वाणी निकली, "अभी जो हो, पर अन्तिम समय में ठाकुर को (तुम लोगों को लेने के लिए) आना ही होगा। वे स्वयं कह गये हैं। उनकी वाणी क्या व्यर्थ हो सकती है? जैसा अच्छा लगे, करते जाओ।"

साहस पाकर भक्त ने पूछा, "माँ, जिन लोगों ने तुमसे दीक्षा ली है, उन्हें फिर से आना न पड़ेगा, यह क्या सच है?"

श्रीमाँ के मुख से अभय-वाणी निकली, "हाँ, उनको फिर से आना न पड़ेगा। तुम लोग सर्वदा यह जानना कि तुम्हारे पीछे एक जन हैं।"—अर्थात् पराविद्यादायिनी माँ हैं।

भक्त का हृदय भर आया। गद्गद-स्वर से कहने लगा, "माँ, तुम्हें पाया है, यही हम लोगों का भरोसा है।"

एक भक्त बहुत अशान्त हृदय से श्रीमाँ के पास आया। उसका मन बड़ा अस्थिर और चंचल था, षड्रिपुओं के चपेटों से जर्जरित हो गया था। उसने अपना हृदय खोलकर माँ को अपने मन की मलिन अवस्था दिखा दी। श्रीमाँ उत्साह देती हुई कहने लगीं, "बेटा, मन्त्र-जप करते-करते सब दूर हो जायगा। नहीं करने से कैसे बनेगा? पागलपन न करना। जब समय मिले, जप करना। ठाकुर को पुकारना।"

भक्त के प्राणों में बड़ी ही अशान्ति थी। वह किसी प्रकार अपना काम पूरा कर लेने के इरादे से आया था। इसी लिए व्याकुल-स्वर में उसने कहा, "अपना मन्त्र आप वापस ले लीजिए। व्यर्थ में आपको कष्ट देने की मेरी इच्छा नहीं है; क्योंकि मैंने सुना है कि शिष्य यदि मन्त्र-जप न करे, तो गुरु को ही उसके लिए भुगतना पड़ता है।" यह सुनते ही श्रीमाँ बड़ी अस्थिर हो गयीं, कहा, "देखो भला, यह कैसी बात है! तुम लोगों के लिए सोचते-सोचते ही तो मेरा सारा जीवन गया! ठाकुर ने तो तुम लोगों पर कब से (पहले से ही) दया

की है।" माँ के नेत्र अश्रुओं से भर गये। आवेग-भरे कण्ठ से बोलीं, "अच्छा, तुम्हें अब जप न करना होगा।"

श्रीमाँ की बात का तात्पर्य न समझ, शिष्य ने सोचा—तब तो सारा सम्बन्ध अब टूट गया! यह सोचकर भय और आशंका से उसके सिर में चक्कर आ गया। सूखे कण्ठ से उसने कहा, "माँ, मेरा सब क्या आपने छीन लिया? अब मैं क्या करूँ? तो क्या, माँ, मैं रसातल में चला जाऊँगा?"

श्रीमाँ के मुख से देवी-वाणी निकली। ओजस्वी स्वर से उन्होंने कहा, "क्या, मेरे लड़के होकर तुम रसातल में जाओगे? जो लोग यहाँ आये हैं, जो मेरे लड़के हैं, उनकी मुक्ति तो हो चुकी है। विधाता की सामर्थ्य नहीं कि मेरे लड़कों को रसातल में ले जाय!"

भक्त किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। माँ की बात सुनकर वह स्तब्ध रह गया। पूछा, "तो माँ, अब मैं क्या करूँगा?"

श्रीमाँ—"मुझ पर भार सौंप निश्चिन्त होकर रहो। और यह एक बात हमेशा याद रखना कि तुम्हारे पीछे ऐसे एक जन हैं, जो समय आने पर तुम्हें उसी नित्यधाम में ले जायेंगे।"

हमारी माँ 'राष्ट्री' (जगदीश्वरी) हैं। फिर वे ही 'वसूनां संगमनी' (साधक को अभीष्ट फल देनेवाली) हैं। श्रीमाँ बात-ही-बात में मुक्ति दे देती थीं! नित्यधाम में ले जाने की बात कहती थीं। किसी-किसी के मन में प्रश्न उठता था—किस शक्ति के बल पर वे ये सब बातें कहती हैं? अवचेतन मन के कोने-कोने में सन्देह का कुहरा भी छा जाता था। इसी लिए एक दिन किसी संन्यासी-सन्तान का संशय दूर करते हुए अमरपद-दायिनी श्रीमाँ ने कहा था, "मुक्ति तो हर क्षण दी जा सकती है।" उन्होंने इतनी दृढ़ता के साथ यह बात कही थी कि संन्यासी को लगा—मानो जीवों की मुक्ति उनकी मुट्ठी में है। इसका सुन्दर समाधान श्रीरामकृष्ण देव की वाणी में

मिलता है। उन्होंने कहा था, "उसके (श्रीमाँ के) भीतर जो है, वह यदि किसी पर रुष्ट हो गया, तो फिर ब्रह्मा-विष्णु भी उसकी रक्षा नहीं कर सकते--मैं भी नहीं।"

फिर ये ही माँ तुष्ट होकर हँसी-खेल में मुक्ति दे देती हैं! हम बाद में देखेंगे कि कितनी सरलता से श्रीमाँ यह अत्यन्त दुर्लभ मुक्ति --निर्वाणमुक्ति प्रदान करती थीं। वे जीवों का सारा पाप-ताप-- उनके जन्म-जन्मान्तरों के संचित पाप अपने में ले लेती थीं, और इस प्रकार उन्हें निष्पाप बनाकर अन्त में जन्म-मृत्यु-पहेली के उस पार— अमरधाम में--ले जाती थीं।

सन् १९१५ ई. में एक भक्त जयरामबाटी आया। यह सोचकर कि इस पुण्यक्षेत्र में साधन-भजन करने से चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति होगी, वह जप-ध्यान में डूब गया। श्रीमाँ का ध्यान उधर गया— वे भक्त के हृदय का अप्रकट भाव ताड़ गयीं। भक्त एक दिन श्रीमाँ को प्रणाम करने गया। सन्तान के मुख की ओर देखते हुए माँ ने कहा? "माँ के पास आये हो, अभी इतने जप-ध्यान की क्या आवश्यकता! मैं ही तो तुम लोगों के लिए सब कर रही हूँ। अभी खाओ-पीओ, निश्चिन्त मन से रहो और आनन्द मनाओ।"

बच्चों को परिश्रम करते देख क्या माँ के हृदय में नहीं लगता? ठीक ऐसा ही यहाँ भी है। माँ ही बच्चे का परिश्रम स्वयं उठा लेंगी। वे शक्तिरूपिणी जो हैं! उनकी शक्ति अनन्त है।

भक्त ने सुना था कि शिष्यों के पाप लेने के कारण ही श्रीमाँ के शरीर में व्याधि ने घर कर लिया है, इसी लिए माँ नाना प्रकार से कष्ट पा रही हैं। माँ के कष्ट की बात सोचकर भक्त-सन्तान का हृदय रो उठा। माँ के पास आकर उसने रोने के स्वर से कहा, "माँ, सुनता हूँ कि भक्तों के पाप ले-लेकर ही तुम्हारे यह व्याधि है! मेरी यह आन्तरिक प्रार्थना है कि तुम मेरे लिए न भुगतो; मुझे अपन

कर्मों का भोग स्वयं भोगने दो।" त्योंही माँ अस्थिर हो उठीं, बोलीं, "यह क्या, बेटा! यह क्या, बेटा! तुम लोग अच्छे रहो, मैं ही भुगत लूँ।"

अहा, उस समय माँ की वह अपूर्व करुणामूर्ति देखते ही बनती थी!

श्रीमाँ उस समय 'कोठार' में थीं। एक भक्त किसी अज्ञात आकर्षण से व्याकुल हो उनके समीप उपस्थित हुआ। उनके दर्शन कर, उनका आशीर्वाद प्राप्त कर उसका मन शान्त हुआ। तृप्ति के आनन्द से उसका हृदय-घट पूर्ण हो गया। वह अब घर लौटने की तैयारी करने लगा। विदा लेने के लिए माँ के पास जाकर उसके प्रणाम करने पर माँ बोलीं, "अच्छा, कल भर और रह जाओ, परसों चले जाना।" दूसरे दिन भक्त को नाम से पुकारकर उन्होंने स्वयं उससे कहा, "तुम मन्त्र लोगे?"

भक्त ने मन्त्र लेने की बात सोची ही न थी, न वह उस सम्बन्ध में कुछ जानता ही था। इसी लिए छोटे बच्चे की भाँति बोला, "आपकी यदि इच्छा हो, तो दीजिए, माँ। मैं तो कुछ नहीं जानता।"

माँ ने पूछा, "तुम किस देवता का मन्त्र लोगे?"

भक्त—"मैं तो कुछ भी नहीं जानता।"

तब श्रीमाँ ने यथाविधि पूजानुष्ठान समाप्त करके शिष्य में शक्ति-संचार कर दिया और बोलीं, "अच्छा, तुम्हारे लिए . . . यही मन्त्र ठीक है।" यह कहकर उसे महामन्त्र प्रदान किया।

माता जिस प्रकार दुधमुँहे बच्चे को ठीक समय पर दूध पिलाती है, यहाँ भी ठीक वैसा ही है। सन्तान के हृदय की अज्ञात भूख को जानकर श्रीमाँ ने बिना माँगे ही उसके हृदय में मुक्तिमन्त्र दे दिया।

जगद्धात्री-पूजा के समय जयरामबाटी में श्रीमाँ के समीप बहुत से भक्तों का समागम हुआ। राँची से एक बालक भी आया हुआ था। पूजा की भीड़-भाड़ में वह माँ के पास अपनी दीक्षा लेने की प्रार्थना

निवेदित नहीं कर सका। वालक समझकर किसी ने उस सम्वन्ध में ध्यान भी नहीं दिया। पूजा के वाद ही माँ का स्वास्थ्य विगड़ गया। भक्तों ने पूजा देखी, माँ का दर्शन और आशीर्वाद पाया। अव वे घर लौटने लगे। श्रीमाँ अपने कमरे से वाहर नहीं निकल सकती थीं। अतः भक्तगण एक-एक करके उनके सोने के कमरे में जाकर उन्हें प्रणाम कर आये। उस वालक ने देखा कि उसकी सारी आशाओं पर पानी फिर गया है! इसी लिए माँ को प्रणाम करते समय उनके चरणों पर सिर रखकर वह इस प्रकार रोने लगा कि आँसुओं से माँ के पैर भीग गये। श्रीमाँ ने वालक का हाथ पकड़कर उठाया और सस्नेह पूछा, "क्यों वेटा, क्यों रोते हो? क्या चाहिए? मन्त्र लोगे?" उसी अवस्था में कमरे का दरवाजा वन्द कर उन्होंने उसे मन्त्र दे दिया — मुक्त कर दिया।

श्रीमाँ के मन्त्र देने का अर्थ ही था मुक्ति देना। उनका मन्त्र-निर्वाचन भी एक अलौकिक व्यापार था। वे आवार के अनुसार विभिन्न शिष्यों को विभिन्न मन्त्र देती थीं। दीक्षा देने के पूर्व वे उन लोगों के इष्ट का दर्शन कर, तदनुसार मन्त्र निर्वाचित करती थीं। वह शक्तिपूर्ण मन्त्र पाते ही शिष्यों को नाना प्रकार की अनुभूतियाँ और विभिन्न दर्शन होने लगते थे। वहुतों के शरीर में भाव-संचार होने लगता — अश्रु-कम्पन-पुलक इत्यादि। सात्त्विक ऐश्वर्य के प्रकाश के फलस्वरूप शिष्यों का मन एक अनिर्वचनीय दिव्यानन्द से भर जाता था। कोई-कोई देह में विजली के प्रवाह के समान शक्ति का संचार अनुभव करते थे। अन्य किसी को इष्ट के दर्शन हो जाते थे।

एक समय श्रीमाँ एक भक्त को दीक्षा दे रही थीं। उन्होंने दीक्षा के पूर्व उसके वंश का मन्त्र जानना चाहा। पर दीक्षार्थी को वह पता नहीं था। तव श्रीमाँ ने कुछ क्षण ध्यान करके कहा, "तुम्हारे वंश का यह मन्त्र है।" वाद में पता लगाने पर भक्त को विदित हुआ

कि उसके वंश का वही मन्त्र था। इस प्रकार श्रीमाँ के दर्शन की सत्यता प्रमाणित हो गयी।

एक शिष्य ने श्रीमाँ से शक्ति-मन्त्र की प्रार्थना की। इस पर माँ बोलीं, "बेटा, पर तुम्हारे भीतर तो मैंने राम को देखा है। तुम्हारे वंश के सब लोग क्या राम-मन्त्र के उपासक हैं? राम और शक्ति तो अभिन्न हैं; तो फिर राम-मन्त्र लेने में हानि क्या?" बाद में पता चला कि उस वंश के सभी लोग राम-मन्त्र के उपासक थे।

एक भक्त शिव की गोद में बैठी काली-मूर्ति का ध्यान करता था। दीक्षा देने के समय श्रीमाँ भक्त से कहने लगीं, "क्यों बेटा, शक्ति क्या शिव को छोड़कर कभी रह सकती है? तुम्हारा शक्ति-मन्त्र है।" शक्ति-मन्त्र पाते ही शिष्य के शरीर में विद्युत्प्रवाह के समान शक्ति-संचार होने लगा; उसके सारे अंग काँपने लगे।

श्रीमाँ ने बहुतसी सन्तानों का पूरा भार अपने ऊपर लिया था। सैकड़ों भक्तों को मुक्ति-मन्त्र देकर मुक्त कर दिया था। उन्होंने जिन-जिनका भार लिया है, वे सभी — चाहे संन्यासी हों या गृहस्थ— देहान्त होने पर आनन्दमय नित्यधाम में चले जायेंगे। किन्तु जीवन्मुक्ति की अवस्था प्राप्त कर, 'सततं प्रतिबोध विदितम्' इस अनुभूति में प्रतिष्ठित होना तीव्र साधन-भजन बिना असम्भव ही है। इस सम्बन्ध में श्रीमाँ ने एक सन्तान से कहा था, "मुझे जो करना था, वह एक ही समय (दीक्षा के समय) कर चुकी हूँ। यदि तुरन्त शान्ति चाहते हो, तो साधन-भजन करो, नहीं तो अन्तिम समय में होगा।" श्रीमाँ की शक्तिपूर्ण कृपा के फलस्वरूप मुक्ति अवश्यम्भावी है; पर जीवन में उस आत्मानन्द का सम्भोग करने के लिए कठोर साधना की आवश्यकता है।

ऊपरी दृष्टि से प्रतीत होता है कि श्रीमाँ शायद साधन-भजन पर उतना जोर नहीं देती थीं। पर बात वैसी नहीं है। मानवमात्र को

दुर्वल समझकर विश्वजननी का हृदय स्नेह से उमड़ पड़ता था; इसी लिए वे अपने ऊपर सवके भार खींच लेती थीं और स्वयं अखण्ड सावन करती थीं। असमर्थ सन्तानों के लिए रात-रात जगकर जप करती थीं। दिन के समय भी समस्त कार्यों के वीच वे प्रति क्षण निरवच्छिन्न रूप से अन्तर्जप किये जाती थीं।

गृही लोगों को अक्षम समझकर वे गृही-सन्तानों के लिए और भी अविक कृपामयी हो गयी थीं -- उनके लिए मुक्तिधाम का मार्ग उन्होंने और भी सुगम वना दिया था। किसी गृहस्थ-शिष्य ने प्रश्न किया, "माँ, कितना जप करूँगा?" उन्होंने उत्तर दिया, "तुम लोग संसारी हो, अविक तो न कर पाओगे! अच्छा, एकसौ-आठ वार करने से ही होगा।"

और भी सुगम करते हुए किसी से उन्होंने कहा, "उतना भी न कर सको, तो कम-से-कम स्मरण-मनन करना।" पर उन्होंने किसी को ऐसा निर्देश कभी नहीं दिया कि जप-ध्यान कुछ मत करो।

किन्तु संन्यासी-सन्तानों के लिए मानो उन्होंने दूसरी व्यवस्था की थी। कई संन्यासियों को वे तीव्र सावना में नियोजित करती थीं। अनेकों को कठोर तपस्या के लिए उत्साहित करती हुई कहतीं, "यही तो साधन-भजन की उमर है। खूव कर लो। तीस साल (की आयु) तक जो कुछ कर सको, कर डालो, वेटा। उसके वाद होना कठिन है। उस समय शरीर और मन की शक्ति कम हो जाती है। इस उमर में डटकर सावन-भजन कर लेना।"

संन्यासियों के आध्यात्मिक कल्याण की ओर श्रीमाँ की सतर्क दृष्टि थी। संन्यासियों का जीवन आदर्श होना चाहिए, तभी तो लोग देखकर सीखेंगे, वर्म-लाभ के लिए प्रेरणा पायेंगे। श्रीमाँ ने जीवन के आदर्श की ओर मानो संकेत करते हुए किसी त्यागी-सन्तान से कहा, "ठाकुर कहते थे, 'सावु, सावधान'! साधु को हमेशा सावधान

रहना पड़ता है ! साधु को सर्वदा सावधान रहना चाहिए। साधु का रास्ता बड़ी फिसलन का रास्ता है। फिसलन के रास्ते चलने पर हरदम पैर जमा-जमाकर रखने पड़ते हैं। संन्यासी होना क्या सहज बात है ? साधु को स्त्रियों की ओर मुड़कर भी नहीं देखना चाहिए। चलते समय पैर के अँगूठे की ओर नजर रखते हुए चलना चाहिए। साधु के गेरुआ वस्त्र, कुत्ते के गले में बँधी पट्टी के समान, उसकी रक्षा करते हैं। जैसे पट्टीवाले कुत्ते को कोई मार नहीं सकता, वैसे ही गेरुआ वस्त्रधारी साधु को कोई मार नहीं सकता। साधु के लिए आम-सड़क है। सभी उसके लिए रास्ता छोड़ देते हैं।"

श्रीमाँ सारा जीवन निर्विचार कृपा किये गयीं। कितने ही पतित स्त्री-पुरुषों को उन्होंने गोद में खींच लिया। कितने ही अभागों और अकिंचनों को मुक्ति दे दी। उनकी कृपा अहैतुकी थी, बदले में उन्होंने कुछ भी नहीं चाहा।

केवल एक बात वे अपनी सन्तानों से चाहती थीं, और वह यह थी कि वे लोग सब अवस्थाओं में उन्हें मन में बनाये रखें। मानो सन्तानों के प्रति उनका इतना ही कातर अनुरोध था।

एक साधु-शिष्य उत्तराखण्ड के दुर्गम तीर्थों का भ्रमण करके समस्त तीर्थस्वरूप श्रीमाँ के चरण-दर्शन करने उपस्थित हुए। माँ ने पूछा, "तुम कहाँ-कहाँ घूम आये ?" उन्होंने कहा, "केदारनाथ, बदरीनारायण, गंगोत्री, यमुनोत्री — यह सब।" श्रीमाँ ने तीर्थों के उद्देश्य से हाथ जोड़कर प्रणाम किया। फिर पूछा, "जहाँ-जहाँ गये, वहाँ क्या मेरे उद्देश्य से एक-एक अंजलि जल दिया ?" शिष्य सिर झुकाकर चुप हो गये। उनका हृदय पछतावे से दग्ध हो उठा। माँ ने कहा, "जहाँ-जहाँ जाओगे, मेरे उद्देश्य से तीन-तीन अंजलि जल देना।"

बस इतना ही तो माँ ने अपनी सन्तानों से चाहा था — 'तीन अंजलि जल' !

*　　*　　*　　*

श्रीरामकृष्ण देव की समस्त साधनाओं की परिसमाप्ति मानो जगन्माता में हुई। वे इस ज्ञान में प्रतिष्ठित हुए कि ब्रह्म और शक्ति अभेद हैं — 'स्वर्गापवर्गदा' ब्रह्ममयी ही साकार-निराकार है; फिर वही परब्रह्मस्वरूपा है। उनके जीवन की चरम वाणी है — 'नाहं, नाहं, तू ही, तू ही'। बारह वर्ष की कठोर साधनाओं में से श्रीरामकृष्ण इस अहं-नाश के भाव में सुप्रतिष्ठित हुए थे।

दक्षिणेश्वर में अपने भानजे हृदयराम के व्यंगपूर्ण प्रश्न के उत्तर में श्रीसारदा देवी ने बिलकुल स्वाभाविक कण्ठ से कहा था, "यह क्या कहते हो, हृदू! वे (ठाकुर) केवल पिता नहीं, माता-पिता-बन्धु-सखा-आत्मीय-स्वजन सभी कुछ हैं।" 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव। त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देवदेव।' — मानो इसी भाव की पुनरुक्ति हुई थी।

श्रीमाँ का यह जो श्रीरामकृष्ण में तल्लीनता का भाव था, उनकी यह जो 'अहं-नाश' में प्रतिष्ठा थी, वह उनके जीवन में, तेरह वर्ष तक नौबतखाने में इस गुहाहित-जीवनयापन में से, श्रीरामकृष्ण की सेवा और सान्निध्य के माध्यम से आयी थी। श्रीरामकृष्ण ही उनके सर्वस्व थे। अन्त में सारदा देवी इस अपरोक्ष-ज्ञान में प्रतिष्ठित हुई थीं कि वे दोनों अभिन्न हैं। श्रीरामकृष्ण में सब प्रकार से तल्लीन हो जाने के फलस्वरूप उनका तनिक भी पृथक् अस्तित्व नहीं रह गया था। उनकी प्रत्येक बात, प्रत्येक काम, प्रत्येक विचार में ठाकुर ही ओत-प्रोत थे। ठाकुर ही सर्वमय थे। सारे देवी-देवता, गुरु, इष्ट — सब कुछ वे ही थे। सारदा देवी 'श्रीरामकृष्ण-पर्याप्तकाम' हो गयी थीं। उन्होंने अपने 'अहं' को पूरा मिटा डाला था।

श्रीसारदा देवी की योगमाया-आश्रित जीवन-लीला की पार्श्वभूमि में एकमात्र श्रीरामकृष्ण थे। श्रीमाँ ने शत-शत लोगों को दीक्षा दी,

पर सबके सामने श्रीरामकृष्ण को ही जाज्वल्यमान रखा। कहा, "ठाकुर ही गुरु हैं, ठाकुर ही इष्ट हैं। ठाकुर को पुकारो, ठाकुर को पकड़ो।" यद्यपि कहीं-कहीं पर भक्त के सन्तोष के लिए उन्होंने अपने नाम का जप और अपना ध्यान करने का निर्देश भी दिया, पर वह भी ठाकुर और उनमें अभेद-ज्ञान से करने के लिए कहा।

श्रीमाँ उस समय बागबाजार-मठ में थीं। एक दिन उनकी भतीजी नलिनी ने पूछा, "अच्छा, बुआ, लोग जो तुम्हें अन्तर्यामिनी कहते हैं, तो क्या तुम सचमुच ही अन्तर्यामिनी हो ?"

सुनकर श्रीमाँ जरा हँस पड़ीं। फिर भक्तों को लक्ष्य करते हुए कहने लगीं, "मैं क्या हूँ भला ? ठाकुर ही तो सब कुछ हैं। तुम लोग ठाकुर के पास यही कहो (हाथ जोड़कर उन्होंने ठाकुर को प्रणाम किया) कि मुझमें अहं-भाव न आये।"

हजारों लोग श्रीमाँ को देवी-ज्ञान से पूजते थे। 'तुम भगवती हो, जगज्जननी हो, रुद्राणी हो'— यह कह-कहकर उनके चरणों पर लोटते थे; पर आश्चर्य ! उनमें तनिक भी 'अहंकार' नहीं था। जीवमात्र 'अहं' से भरा हुआ है। इतना मान-सम्मान पचा जाना क्या मनुष्य की शक्ति में है ? लोग जो श्रीमाँ को भगवती आदि कहते हैं, उनका वह भगवतीत्व इस अहं-नाश में ही है।

श्रीमाँ की अन्तिम बीमारी के समय की घटना है। एक दिन एक प्रौढ़ा स्त्री-भक्त श्रीमाँ के दर्शनार्थ आयी और 'तुम जगदम्बा हो, तुम्हीं सब कुछ हो' आदि कहती हुई उनकी प्रशंसा करने लगी। सुनते ही श्रीमाँ अवज्ञा के स्वर से कह उठीं, "चलो, चलो, बड़ी आयी 'जगदम्बा'वाली ! उन्होंने (ठाकुर ने) दया करके चरणों में आश्रय दिया है, इसी से धन्य हो गयी हूँ। 'तुम जगदम्बा ! तुम अमुक !'— निकलो यहाँ से !"

फिर किसी-किसी से उन्होंने यह भी कहा था, "जो ठाकुर, वही मैं।"

एक संन्यासी-सन्तान को दीक्षा देने के बाद, श्रीरामकृष्ण की ओर दिखाकर श्रीमाँ ने कहा, "ये ही गुरु हैं।"

शिष्य ने पूछा, "माँ, आप कहती हैं कि ठाकुर ही गुरु हैं, तो फिर आप क्या हैं ?"

अपने को उड़ाते हुए श्रीमाँ ने उत्तर दिया, "बेटा, मैं कुछ भी नहीं हूँ — ठाकुर ही गुरु हैं, ठाकुर ही इष्ट हैं।"

फिर किसी दीक्षित सन्तान से यह भी कहा था, "मैंने तो तुम्हें दीक्षा नहीं दी। ठाकुर ने ही तुम्हें दीक्षा दी है।"

श्रीरामकृष्ण के साथ उनका सर्वतोभावेन अभिन्न-बोध था। यह अहं-लोप ही श्रीसारदा देवी के जीवन का सर्वश्रेष्ठ माधुर्य है।

एक स्त्री-भक्त ने स्वप्न में देखा कि वह लाल किनार की साड़ी देकर श्रीमाँ की चण्डी-रूप से पूजा कर रही है। इसी लिए वह चौड़े लाल किनार की साड़ी लेकर श्रीमाँ की पूजा करने के लिए आयी। सब सुनकर श्रीमाँ ने हँसते हुए कहा, "जगदम्बा ने ही स्वप्न दिखाया है, क्या कहती हो, बेटी ? सो दे दो, साड़ी तो पहननी ही होगी।" उन्होंने साड़ी पहन ली। उस समय वे बिलकुल एक सजीव देवीमूर्ति-सी ही दिखाई दे रही थीं। वह महिला-भक्त अश्रुपूर्ण नेत्रों से माँ के चरणों में प्रणत होकर दुःख के साथ कहने लगी, "थोड़ा सिन्दूर देने से अच्छा होता !"

श्रीमाँ हँसती हुई बोलीं, "हाँ, वह भी तो चढ़ाया जाता है।"

बागबाजार-मठ में एक दिन श्रीमाँ ने एकान्त में एक सन्तान को साधन-भजन के सम्बन्ध में उपदेश दिया, "ठाकुर और मुझे अभिन्न-रूप से देखना, और जब जिस प्रकार का दर्शन मिले, तब उसी प्रकार से ध्यान-स्तुति करना। ध्यान होने से ही पूजा समाप्त होती है। यहाँ (हृदय से, ध्यान का) आरम्भ करना और यहाँ (मस्तक में) समाप्त करना।" और ऐसा कहकर उन्होंने ध्यान की पद्धति तथा उसका ठीक-ठीक स्थान बतला दिया।

ऐसी बात नहीं थी कि वे सभी को इस अभेद-ज्ञान से ध्यान का निर्देश करती थीं। वे अनेक स्थलों पर श्रीरामकृष्ण को दिखा देतीं, कहतीं, "ठाकुर में ही गुरु, इष्ट सब पाओगे। वे ही सब कुछ हैं।"

निर्मल दर्पण की भांति शुद्ध-आधार में श्रीभगवान का प्रकाश प्रतिबिम्बित होता है। शुद्धात्मा ही 'शुद्धम् अपापविद्धम्' के शाश्वत स्निग्ध प्रकाश हैं। चिर-अवगुण्ठिता श्रीमां भी किसी-किसी भाग्यवान शुद्धात्मा के निकट कभी-कभी अपने स्वरूप को किंचित् प्रकट करती थीं।

एक समय जयरामवाटी में एक संन्यासी-सन्तान ने बड़ी भक्ति-पूर्वक श्रीमां की चरण-पूजा की। संन्यासी का मन भक्ति-रंग से रंगा हुआ था। पूजा होने पर उन्होंने श्रीमां के चरणकमलों को मस्तक पर धारण किया। श्रीमां कुछ व्यग्र-सी हो कह उठीं, "अरे पगले, पैर क्या मस्तक पर रखे जाते हैं! वहां तो ठाकुर हैं।"

संन्यासी — "मां, मैंने तो ठाकुर को नहीं देखा।" तात्पर्य यह था कि आप ही मेरे लिए ठाकुर हैं, मां हैं।

श्रीमां — "ठाकुर साक्षात् भगवान हैं।"

संन्यासी — "ठाकुर यदि भगवान हैं, तो फिर आप कौन हैं?"

थोड़ी भी द्विधा न करते हुए श्रीमां ने ब्रह्मवादिनी की भांति मुक्त-कण्ठ से कहा, "मैं और कौन? मैं भी भगवती हूं।" और इतना कहकर ही उन्होंने अपने को पुनः ढक लिया। संन्यासी स्तब्ध हो गये!

बागबाजार-मठ में एक समय एक भक्त सुदूर रांची से श्रीमां के पास आया। साथ में बहुत से खिले हुए बड़े-बड़े गुलाब और जवा के फूल, सुगन्धित जूही फूलों की एक सुन्दर माला और प्रचुर फल-मिठाई आदि लेता आया। श्रीमां के चरणों के पास पूजा के उपकरण रखकर वह उनके श्रीचरणों की पूजा करने लगा। वह एक अनुपम दृश्य था!

श्रीमाँ स्मित-मुख से शान्त बैठी हुई हैं, गले में भक्त की दी हुई माला सुशोभित है और श्रीचरणों में फूल शोभा पा रहे हैं। पूजा के बाद भक्त ने मिठाई आदि को प्रसादी कर देने की प्रार्थना की। यह सुनकर गौरी-माँ ने हँसते हुए कहा, "कड़े भक्त से पाला पड़ा है, माँ! अब खाओ!"

श्रीमाँ उस भक्त पर बड़ी प्रसन्न हुईं। इसी लिए प्रफुल्ल मुख से थोड़ा-थोड़ा खाकर वे भक्त के हाथ में प्रसाद देने लगीं। भक्त ने प्रत्येक वस्तु को मस्तक से स्पर्श किया और अनिर्वचनीय उल्लास के साथ श्रीमाँ के चरणों में प्रणत हुआ।

चन्द्रबाबू उद्बोधन-कार्यालय के पुराने कर्मचारी थे। उन्होंने वर्ष-पर-वर्ष बहुतसी बातें देखी थीं। श्रीमाँ को देश-विदेश के कितने ही भक्तों द्वारा नाना प्रकार से, देवी-ज्ञान से पूजित होते हुए वे देखते थे। उनका कौतूहल बढ़ता जाता था। आखिर एक दिन वे पूछ ही बैठे, "माँ, कितनी दूर-दूर के देशों से कितने लोग आपके दर्शन करने के लिए आते हैं। और इधर आप तो घर की दादी के समान पान लगाती हैं, सुपारी फोड़ती हैं, फिर कभी घर बुहारती हैं। आपको देखकर मैं तो कुछ भी समझ नहीं पाता।"

श्रीमाँ ने छोटी बालिका की भाँति हँसते हुए चन्द्रबाबू की ओर देखकर कहा, "चन्द्र, तुम तो मजे में हो। मुझे समझने की तुम्हें कोई आवश्यकता नहीं।"

और चन्द्रबाबू ही अकेले ऐसे नहीं थे! ऐसे सैकड़ों चन्द्रबाबू थे, जिनकी दृष्टियों को उन परमाशक्ति ने आच्छादित कर रखा था। वे ही आच्छादिनी शक्ति थीं, फिर वे ही उन्मोचनी शक्ति भी थीं। ऐश्वर्यहीन, आडम्बरहीन, सीधी-सादी श्रीमाँ का कुलवधू की भाँति अवगुण्ठित जीवन संसार के लिए एक बड़ी पहेली है।

एक संन्यासी-सन्तान ने श्रीमाँ के पास जिद पकड़ ली, "माँ,

आप तो इच्छा करने से ही ठाकुर को दिखा दे सकती हैं।"

श्रीमाँ ने कहा, "नरेन (स्वामी विवेकानन्द) को ठाकुर ने छुआ था, उससे वह चिल्ला उठा था। साधन-भजन करो, देख पाओगे।"

तो भी संन्यासी ने हठ न छोड़ा, "माँ, आप जिसकी गुरु हैं, उसे साधन-भजन की भला क्या आवश्यकता है ?"

श्रीमाँ — "सो तो ठीक है। पर बात क्या है, जानते हो ? ...जो जितना अधिक साधन-भजन करेगा, वह उतनी ही जल्दी दर्शन पायगा। नहीं करेगा, तो अन्त समय में पायगा ही, अवश्य पायगा।... साधन-भजन करने के लिए ही तो तुमने संसार छोड़ा है ! .. "

एक दिन बागबाजार-मठ में एक गृही भक्त श्रीमाँ को प्रणाम करके कहने लगा, "माँ, ठाकुर के दर्शन क्यों नहीं होते ?"

आशीर्वाद देती हुई श्रीमाँ बोलीं, "पुकारते रहो, बेटा, धीरे-धीरे होगा।... भगवान-लाभ क्या इतना सहज है ? पर तो भी इस बार ठाकुर ने मार्ग सुगम बना दिया है।"

भक्त के बाहर चले जाने पर माँ कहने लगीं, "अभी दुनियादारी करके आया, अभी ... होकर आया, और कहता क्या है, 'ठाकुर के दर्शन क्यों नहीं होते ?'... किसको हुआ है, कहो न ? नरेन को उन्होंने (ठाकुर ने) करा दिया था। शुक, व्यास, शिव—ये, अधिक-से-अधिक, बड़े चींटे-जैसे हैं। स्वप्न में कभी-कभी दर्शन होते हैं। पर साक्षात् देह धारण करके दर्शन देना — यह तो बहुत भाग्य की बात है।"

फिर माँ उत्साहपूर्वक कहने लगीं, "यदि मन शुद्ध हो, तो ध्यान-धारणा क्यों न होगी ? दर्शन क्यों न होंगे ? जप करने बैठेगा, तो आप-ही-आप भीतर से स्रोत की भाँति नाम उठता रहेगा, प्रयत्न करके नहीं।

"जप-ध्यान आलस्य त्यागकर नियत समय में करना पड़ता है। दक्षिणेश्वर में एक दिन तबीयत कुछ अच्छी न रहने से, आलस्य करके मैं जरा देर से उठी। उस समय मैं तीन बजे रात को उठ जाती थी। धीरे-धीरे मैंने देखा कि सवेरे उठने की फिर इच्छा ही नहीं होती थी। तब सोचा, अरे, यह तो मैं आलस्य के फन्दे में पड़ गयी। उसके बाद मैं जोर देकर उठने लगी। तब फिर से सब धीरे-धीरे पहले के समान हो गया। इन सब बातों में बड़ी दृढ़ता से अभ्यास में लगे रहना पड़ता है।"

बागबाज़ार-मठ में श्रीमाँ अपने कमरे में खाट पर बैठी हुई थीं। सेवक चिट्ठी-पत्री पढ़कर सुना रहे थे। एक सन्तान ने दुःखित होकर लिखा था कि जप-ध्यान में मन नहीं लगता। पत्र सुनकर श्रीमाँ ने उत्साह-भरे कण्ठ से कहा, "रोज पन्द्रह-बीस हजार जप कर सके, तो होगा। मैंने देखा है, क्र—, सचमुच होता है। पहले ऐसा करे तो; यदि न हो, तो फिर लिखे। पर हाँ, थोड़ा मन लगाकर करना पड़ता है। पर वैसा तो कोई करेगा नहीं, खाली कहेगा — 'क्यों नहीं होता'?"

१३

इस बार श्रीमाँ डेढ़ वर्ष से कुछ अधिक समय तक कलकत्ते में रहीं। दीक्षा-दान, दर्शन-दान, आशीर्वाद-अभय-दान — यही सब लेकर उन्हें सदैव व्यस्त रहना पड़ता था। जयरामबाटी की भाँति यहाँ उन्हें स्वयं हाथों से अधिक कुछ नहीं करना पड़ता था, पर यह जीवोद्धार-रूप कार्य ही मानो उनकी जीवनी-शक्ति को क्रमशः क्षीणतर करता जा रहा था।

माँ की सहनशीलता की कोई सीमा नहीं थी। कितने ही लोग कितने पाप-तापों का बोझा लेकर, कितने ही प्रकार के नितान्त अनुचित कर्म करके उनके समीप आते और उनका चरण-स्पर्श करते। इससे उनके शरीर में भीषण जलन होती, फिर भी वे सब कुछ चुपचाप सहे जाती थीं। एक दिन सन्ध्या को दर्शनार्थियों का दर्शन-प्रणाम आदि हो जाने पर, सेवक ने देखा कि श्रीमाँ बरामदे में जाकर अपने पैरों को घुटने तक गंगाजल से बारम्बार धो रही हैं। जब सेवक ने इस प्रकार बार-बार पैर धोने का कारण पूछा, तो उत्तर में माँ ने कहा, "अब और किसी को पैरों पर सिर रखकर प्रणाम न करने देना। दुनिया-भर के पाप आकर लग जाते हैं, मेरे पैर जल जाते हैं; पैर धो डालने पड़ते हैं। इसी लिए तो रोग है। दूर से ही प्रणाम करने को कहना।"

अहा ! दूसरे ही क्षण दयामयी कहने लगीं, "यह सब बात शरत् से मत कहना। नहीं तो वह लोगों का प्रणाम करना ही बन्द कर देगा।"

एक भक्त दीक्षा लेने आया। उसके कुल-गुरु भी थे। इसी लिए

माँ ने कहा कि यदि वह कुल-गुरु पर ठीक गुरु की ही भाँति श्रद्धा करते हुए उनकी वार्षिक वृत्ति यथाशक्ति बढ़ा दे, तो मैं दीक्षा दे सकती हूँ। वे कहती थीं, "कुल-गुरुओं को कुछ पाने की आशा रहती है। उन्हें उससे वंचित नहीं करना चाहिए। मैं तो किसी बात की आशा नहीं रखती।" उनके पास भक्ति-भाव से आकर, एक हर्रा ही गुरु-दक्षिणा में देकर कितने ही लोगों ने मुक्ति-मन्त्र पाया था!

वह भक्त श्रीमाँ के प्रस्ताव से सहमत हो गया। दीक्षा के समय माँ ने पूछा, "तुम लोग शाक्त हो या वैष्णव?" भक्त के उत्तर देने पर उन्होंने उसे महामन्त्र दिया। दीक्षा के बाद भी एक सप्ताह तक भक्त एक अनिर्वचनीय आनन्द में विभोर रहता था।

बाद में भक्त को पता चला कि श्रीमाँ ने जो मन्त्र दिया है, वही उसके कुल का मन्त्र है।

एक दिन सन्ध्या के पूर्व बागबाजार-मठ में, पूजा-घर की बगल के बरामदे में श्रीमाँ जपमाला लेकर जप करने बैठी थीं। सामने के मैदान के पास ही कुली-मजदूरों की बस्ती थी। सन्ध्या हो ही रही थी कि उसी समय इस बस्ती के एक आदमी ने (शायद शराब के नशे में चूर हो) अपनी स्त्री को बुरी तरह पीटना शुरू किया — पहले घूंसे-थप्पड़, फिर ऐसी कसकर लात मारी कि वह बेचारी गोद के बच्चे सहित आँगन में लुढ़क गयी। वह स्त्री जोर-जोर से रोने लगी। उस पर फिर उसने कई लातें मारीं! माँ का जप बन्द हो गया। वे क्या उसे सहन कर सकती थीं? घूंघट में रहनेवाली माँ, जिनके गले की आवाज नीचे तक सुनाई नहीं पड़ती थी, एकदम जँगला पकड़कर खड़ी हो गयीं और तीव्र भर्त्सना के स्वर से चिल्लाकर बोलीं, "ऐ गँवार, तू क्या बहू को एकदम मार ही डालेगा? हत्यारा कहीं का!"

क्रोध से पागल उस मजदूर ने एक बार श्रीमाँ की ओर देखा। त्योंही उसने अपना सिर नीचा कर लिया और स्त्री को मारना छोड़,

मर्माहत की भाँति वहाँ से चला गया; मानो साँप के सिर पर मन्त्र-पूत धूल पड़ गयी हो।

श्रीमाँ में इस प्रकार दैवी उग्र-भाव का प्रकाश कदाचित् ही देखा जाता था। किन्तु जब वे उग्र-मूर्ति धारण करती थीं, तब चारों दिशाएँ काँप उठती थीं, सबके हृदयों में आशंका की एक आँधी-सी उठ खड़ी होती थी।

श्रीमाँ उस समय जयरामवाटी में थीं। कामारपुकुर में श्रीरामकृष्ण के भतीजे शिवराम की अनुपस्थिति में उनकी पत्नी ने गुप्त रूप से कुछ निम्न-कुल में अपनी लड़की का विवाह स्थिर किया। इसमें गाँव के जमींदार लाहाबाबुओं का हाथ था। इधर शिवराम के बड़े भाई रामलाल की इसमें सम्मति नहीं थी। वंश की मर्यादा की रक्षा के लिए कुछ भक्त आगे बढ़कर, छिपी हुई लड़की को ताला-बन्द कमरे से कौशल से निकालकर जयरामवाटी ले आये।

श्रीमाँ ने शान्त होकर सारी बातें सुनीं। यह जानकर कि बड़े भाई रामलाल की इच्छा से ही लड़की को लाया गया है, उन्होंने भक्तों को आश्वासन दिया। एक भक्त ने कहा, "इससे लाहाबाबू लोग असन्तुष्ट हो जायेंगे, और कामारपुकुर में ठाकुर का मन्दिर बनने के काम में बाधा भी डाल सकते हैं।" इस पर दूसरे भक्त ने कहा, "सो बाधा देना हो, तो दें। वहाँ मन्दिर नहीं भी हुआ तो क्या! और भी कितनी जगह पड़ी हुई है। मन्दिर बनाने के लिए चिन्ता क्या?"

यह सुनकर श्रीमाँ मानो चौंक उठीं। बोलीं, "यह कैसी बात है! कामारपुकुर ठाकुर का जन्म-स्थान है, पुण्य स्थान है; महापीठ-स्थान और तीर्थ-भूमि है! वैसा क्या कहना चाहिए?"

शिवराम की स्त्री कुछ सनकी-सी थी। क्रोध से सनक में आकर कहीं वह घर में आग न लगा दे — भक्तों की ऐसी आलोचना सुनकर श्रीमाँ के मन में एक अद्भुत भावान्तर हो गया। वे सहसा मानो रुद्र-

भाव से उद्दीपित हो उठीं। उनके मुख और नेत्रों का भाव एकदम वदल गया। वे अस्वाभाविक स्वर से प्रत्येक शब्द को खींच-खींचकर कहने लगीं, "सो हो—ने से अ—च्छा हो। सो हो—ने से अ—च्छा हो।" क्रमशः उनका कण्ठ-स्वर तीव्रतर होने लगा, "ठा—कुर जै—सा पस—न्द कर—ते थे, वै—सा ही हो। वे श्म—शा—न पस—न्द कर—ते थे, सव श्म—शा—न हो जा—य—गा। सव श्म—शा—न हो जा—य—गा।" श्रीमाँ ऐसा कहती जाती थीं और हँसती जाती थीं। धीरे-धीरे यह हँसी अट्टहास में परिणत हुई। चारों दिशाएँ त्रस्त होकर काँप उठीं। भक्तगण किंकर्तव्यविमूढ़ हो एक दूसरे के मुँह की ओर ताकने लगे। उनके हृदय में भीषण भय का संचार हो गया।

दूसरे ही क्षण श्रीमाँ प्रकृतिस्थ हो गयीं। सहज कोमल कण्ठ से उन्होंने दूसरे विषयों की चर्चा उठायी।

श्रीमाँ में जव 'वगला†-मूर्ति' और प्रलयंकर भाव का थोड़ा-वहुत प्रकाश होता था, तव वे मानो कोई दूसरी ही हो जाती थीं।

एक समय की वात है। वह स्वदेशी-आन्दोलन का जमाना था। श्रीमाँ जयरामवाटी में थीं। वाँकुड़ा की पुलिस दो गर्भवती महिलाओं को वन्दी वनाकर पैदल थाने तक ले गयी। यह संवाद ज्योंही श्रीमाँ के कानों में पहुँचा, वे भीषण आग्नेय-मूर्ति धारण कर कह उठीं, "कहते क्या हो?" और कहकर ही मानो आतंक से सिहर उठीं। फिर कम्पित-स्वर से कहने लगीं, "यह क्या कम्पनी (अँगरेज सरकार) की आज्ञा से हुआ? या यह दरोगा साहव की कारस्तानी है? निर-पराध स्त्रियों पर इतना अत्याचार...? यह अगर कम्पनी के आदेश से हुआ हो, तो उसके दिन अव पूरे हो चले! वहाँ क्या कोई माई का लाल न था, जो पुलिस को दो थप्पड़ देकर उन स्त्रियों को छुड़ा

---

† दस महाविद्याओं में से एक।

लाता ?" † श्रीमाँ के इस भीषण उग्र-भाव और उत्कण्ठा ने सबको बिलकुल सन्न कर दिया।

कुछ समय बाद जब श्रीमाँ ने उनकी रिहाई की खबर सुनी, तब वे शान्त हुईं।

और एक समय की बात है। उस वर्ष सूखा पड़ने के कारण जयरामबाटी आदि गाँवों की फसलें सूखने लगीं। निरुपाय हो किसान लोग दल बाँधकर श्रीमाँ के पास आये और रो पड़े। कहा, "माँ, इस बार तो हमारे बाल-बच्चों के बचने की आशा नहीं—अन्न बिना वे भूखों मर जायेंगे।" करुणा से माँ का मन पिघल गया। वे उन लोगों के साथ खेत देखने गयीं। खेतों की अवस्था देख उनकी आँखों में पानी भर आया। व्याकुल-दृष्टि से आकाश की ओर ताकती हुई करुण-स्वर से बोलीं, "हाय, ठाकुर! यह तुमने क्या किया? आखिर क्या ये लोग भूखों मर जायेंगे?" हमारी माँ धनदा हैं—अन्नदा हैं। उसी रात उनके आँसू मूसलाधार मेह के रूप में बरस पड़े। धरती शीतल हुई। घर-घर आनन्द मनाया जाने लगा। उस वर्ष जैसी फसल हुई, वैसी पिछले कई वर्षों से नहीं हुई थी। 'धन्य, धन्य' के नाद से चारों दिशाएँ गूँज उठीं।

पर श्रीमाँ ने मुख नीचा करके कहा, "मैं कौन होती हूँ, बेटी? ठाकुर को पकड़ो, वे ही सब कुछ हैं। मैं तो उनकी दासी हूँ।"

अब सोचिए, पाठक, माँ को किस प्रकार जाना जाय, उन्हें कैसे समझा जाय!

* * * *

एक दिन श्रीमाँ बागबाजार के उद्बोधन-मठ से कुछ सेविकाओं

---

† पुलिस ने सचमुच में इन दो महिलाओं को गिरफ्तार किया था, अथवा वह केवल एक अफवाह मात्र थी, इसका निर्णय करना सम्भव नहीं है।

व संगिनियों को लेकर बालीगंज में एक भक्त के घर पधारीं। अहा, भक्तों की कैसी श्रद्धा थी, कैसी आन्तरिक निष्ठा थी! मां का आसन विविध प्रकार के फूलों से सजाया गया था। सुन्दर फूलों की मालाएँ और बड़े-बड़े पुष्पों के गुच्छे मनोहारी ढंग से लटकाये गये थे। धूप की सुगन्ध से चारों दिशाएँ महक उठी थीं। वे लोग गृहस्थ थे, और मां--स्वयं लोकमाता, उनके घर आ रही थीं, इसलिए उन्होंने अत्यन्त श्रद्धा से सारे घर में गंगा-जल छिड़का था। घर-द्वार सब शुद्ध किया था। श्रीमाँ वह सब देखकर बड़ी प्रसन्न हुईं। वे उन भक्तों की भाव-भक्ति की बहुत प्रशंसा करने लगीं। उन्होंने स्वयं श्रीठाकुर को भोग लगाया। सबने प्रसाद ग्रहण किया।

मां को सुनाने के लिए ग्रामोफोन लगाया गया। मशीन का गाना सुनकर माँ को और भी प्रसन्नता हुई। वे गीत सुनने लगीं। फिर छोटी बालिका की भाँति आनन्द प्रकट करती हुई बोलीं, "कैसा अद्भुत यंत्र बनाया है, बेटी!" गीत छोड़कर माँ को उठने की इच्छा न हुई।

एक दिन बेलुड़-मठ से कुछ संन्यासी श्रीमाँ को काली-कीर्तन सुनाने मातृ-सदन 'उद्बोधन' में आये। नीचे आँगन में कीर्तन का आयोजन हुआ। माँ ऊपर बैठीं। रात को लगभग साढ़े आठ बजे कीर्तन आरम्भ हुआ। भक्त-संन्यासी आत्म-विभोर हो भजन गा रहे थे! कीर्तन खूब जम रहा था। श्रोताओं के नेत्र आनन्दाश्रुओं से भर गये थे। श्रीमाँ भी तन्मय होकर सुन रही थीं। जब कीर्तन-मंडली उन गीतों को गाने लगी, जो श्रीरामकृष्ण देव गाया करते थे, तब माँ उत्साह में भरकर कहने लगीं, "देखो, ठाकुर यही गीत गाया करते थे।"

जब 'मजलो आमार मनभ्रमरा, श्यामापद नीलकमले...' †

---

† गीत का भावार्थ :— 'मेरा मन-मधुप श्यामापद-नीलकमल में मस्त हो गया। कामादि पुष्पों का विषय-मधु तुच्छ हो गया। भगवती

गीत शुरू हुआ, तब तो माँ न रह सकीं। नेत्र डबडबा आये; कहा, "चलो बेटी, बरामदे पर चलकर सुनें।"

एक दिन अन्नपूर्णा की माँ (उन्होंने श्रीरामकृष्ण को भी देखा था) श्रीमाँ के दर्शन करने आयीं। माँ को प्रणाम कर उन्होंने कहा, "माँ, मैंने स्वप्न में देखा, तुम मानो मुझसे कह रही हो, 'मेरा प्रसाद खा, तब तेरा रोग दूर होगा।' मैं बोली, 'ठाकुर ने मुझे किसी का जूठा खाने को मना किया है।' फिर भी, माँ, तुम मुझे अपना थोड़ासा प्रसाद दे दो।"

"ठाकुर ने जिसका निषेध किया है, वही करना चाहती हो?"—यह कहकर श्रीमाँ ने अपनी असम्मति प्रकट की। फिर भी अन्नपूर्णा की माँ कई प्रकार से हठ करने लगीं। अन्त में वे बोलीं, "माँ, जब तक उनमें (ठाकुर में) और तुममें मेरा भेद-बोध था, तब तक वह बात ठीक थी। पर अब तो वह नहीं रह गया, अब प्रसाद दे दो।" उनकी यह बात सुनकर श्रीमाँ ने प्रसाद दे दिया।

उसी समय की बात है, श्रीमाँ ने बागबाजार-मठ से कोयालपाड़ा-आश्रम के अध्यक्ष को एक पत्र लिखवाया, "यदि तुम लोग कोयालपाड़ा में मेरे लिए एक अलग घर की व्यवस्था कर सको, तो देश जाने पर कभी-कभी तुम लोगों के यहाँ आकर ठहर सकती हूँ। जयरामबाटी में भाइयों के झमेले दिन-पर-दिन बढ़ रहे हैं, और उन लोगों के अत्याचार मैं सारे समय सह नहीं सकती। फिर, वहाँ यदि तबीयत बिगड़ जाय, तो जगह बदलने का कोई उपाय नहीं है," इत्यादि।

पत्र पाकर आश्रमवासी उल्लास से भर उठे। माँ के निवास के

के चरण कृष्ण-वर्ण हैं, मधुप काला है, रंग में रंग मिल गया। पंच-तत्त्व यह तमाशा देखकर भाग गये। कमलाकान्त (गीतकार) के मन की अभिलाषा इतने दिनों में पूर्ण हुई। सुख-दुःख दोनों समान हुए; केवल आनन्द का सागर उमड़ रहा है।'

लिए वे मकान वनाने में लग गये। उन्होंने शीघ्र ही, आश्रम से कुछ दूरी पर, तीन कमरे, एक छपरी और शौचगृह तैयार कर डाला। श्रीमाँ इस मकान में दो-तीन वार आकर रहीं। मकान का नाम रखा गया था—'जगदम्वा-आश्रम'।

डेढ़ वर्ष से कुछ अधिक समय तक वागवाजार में रहकर श्रीमाँ वंगाव्द १३२२ के ६वें वैशाख (१९ अप्रैल, १९१५ ई.) को जयरामवाटी के लिए रवाना हुईं। कोयालपाड़ा में अपने लिए वनाये गये इस नये मकान को देखकर वे वहुत ही प्रसन्न हुईं और वोलीं, "इस समय तो रहना नहीं होगा। साथ में वहुत से लोग (राधू, माकू आदि) हैं। इन लोगों को जयरामवाटी पहुँचाकर वाद में राधू के साथ आकर यहाँ एकान्त में कुछ दिन रहूँगी।" इस वार वे सीधे जयरामवाटी चली गयीं।

अव तक जयरामवाटी आने पर श्रीमाँ अपने भाई प्रसन्नकुमार के घर पर रहती थीं। भाइयों का परिवार भी धीरे-धीरे वढ़ चला था। उधर श्रीमाँ के पास भक्तों का समागम भी दिनोंदिन वढ़ता जा रहा था। श्रीमाँ को भाई के घर में अनेक असुविधाओं के वीच रहना पड़ता था; विशेषकर भक्तों के रहने के लिए वहुत ही असुविधा होती थी। इस अभाव को दूर करने के लिए श्रीमाँ की इच्छानुसार, स्वामी सारदानन्द आदि के विशेष प्रयत्न से जयरामवाटी में लगभग दो हजार रुपये की लागत से श्रीमाँ के लिए एक अलग मिट्टी का मकान, जगद्धात्री-पूजामण्डप वा भक्तों का वैठकखाना, स्त्रियों का वास-स्थान व रसोई-घर आदि वनाये गये।

जयरामवाटी के समीप शिरोमणिपुर नामक गाँव में वहुत से मुसलमान रहते हैं। वे पहले रेशम के कीड़े पालकर अपना जीवन-निर्वाह करते थे, इसलिए उन्हें तूँतवाले मुसलमान कहते हैं। पर वाद में उन्होंने चोरी-डकैती को अपना पेशा वना लिया। आस-पास

के गाँववाले उन लोगों से सदा भयभीत रहते थे। श्रीमाँ का घर बनाने के लिए बहुत से तूँतवाले मुसलमान काम पर लगाये गये। इससे पहले-पहल तो गाँववाले बहुत डरे। पर बाद में उन लोगों को शान्त देखकर वे आपस में कहने लगे "अरे भाई, माँ की कृपा से चोर-डकैत भी भक्त हो गये!"

अमजद एक तूँतवाला मुसलमान था। वह डकैत था। वह भी माँ का मकान बनाने के काम पर लगाया गया था। एक दिन माँ ने उसे अपने बरामदे में खाने को दिया। उनकी भतीजी नलिनी परोस रही थी। वह खाने की चीजों को दूर से उसकी थाली पर फेंक देती थी। यह देखकर श्रीमाँ कह उठीं, "अरे, ऐसे परोसने से क्या कभी कोई पेट भरके खा सकता है? तू नहीं परोस सकती, तो ला, मैं परोसती हूँ।"

अमजद के खाना खा लेने के बाद श्रीमाँ ने अपने हाथों से उस स्थान को धो दिया। यह देख नलिनी बोल उठी, "ओ बूआ, तुम्हारी जात गयी!" वह बड़ा हंगामा मचाने लगी। तब श्रीमाँ ने उसे धमकाते हुए कहा, "जैसा शरत् (स्वामी सारदानन्द) मेरा लड़का है, वैसा ही यह अमजद भी है।" वे 'माँ' जो हैं!

श्रीमाँ कहतीं, "मनुष्य में दोष तो लगा ही हुआ है। पर किस प्रकार उसे भला बनाना होगा, यह कितने लोग जानते हैं?" अकसर यह देखा जाता था कि जिस व्यक्ति को कोई देख तक न सकता था, अपने पास तक न फटकने देता था, माँ का स्नेह उसी पर अधिक बरसता था। श्रीमाँ भी यह जानतीं कि उसने बड़ा दूषित कार्य किया है, फिर भी वे उसे क्षमा कर देतीं और अभय-दान देतीं। वे बुरे को भी मानो स्नेह से उँगली पकड़कर उसे देवत्व की ओर ले जाती थीं।

एक बार की बात है। एक युवक-भक्त ने कोई निन्दित काम

किया। इस पर कुछ विशिष्ट भक्तों ने श्रीमाँ को सारी घटना सुनाकर उनसे अनुरोध किया कि वे उस युवक-भक्त को अब अपने पास न आने दें। यह सुनकर श्रीमाँ ने वेदना-भरे कण्ठ से कहा, "यदि मेरी सन्तान अपने को धूल-कीचड़ में सान ले, तो उसे धो-पोंछकर मुझी को तो गोद में उठाना होगा?"

श्रीमाँ की यह क्षमा — यह स्नेह ही विपथगामियों को सत्पथ पर लौटा लाता था, वह रक्षा-कवच बनकर विपत्तियों से भरे पथ पर सन्तानों की रक्षा करता था।

एक दिन एक तूँतवाला मुसलमान अपने केले के पेड़ से कुछ पके केले लाया और बोला, "माँ, ठाकुर के लिए ये लाया हूँ, आप रखेंगी क्या?"

श्रीमाँ नें हाथ पसारकर कहा, "जरूर लूँगी, बेटा, दो। ठाकुर के लिए लाये हो, अवश्य लूँगी!"

एक भक्त-स्त्री पास ही खड़ी थी। उसने कहा, "वे लोग चोर हैं, हमें पता है। उसकी लायी चीज ठाकुर को क्यों देना?" माँ ने उसकी बात पर ध्यान न दे, उस मुसलमान को मुरमुरा-मिठाई देने के लिए कहा। उसके चले जाने पर श्रीमाँ उस स्त्री-भक्त का तिरस्कार करती हुई गम्भीर स्वर से कहने लगीं, "कौन भला है, कौन बुरा, यह मैं जानती हूँ।"

श्रीमाँ ने कहा था, "मैं सत् की भी माँ हूँ और असत् की भी।" केवल इतना ही नहीं, बल्कि इतर जीव-जन्तु भी श्रीमाँ के इस दैवी मातृ-स्नेह से वंचित नहीं थे। उन्होंने भी श्रीमाँ को स्नेहमयी जननी-रूप से पाया था। श्रीमाँ ने एक तोता पाला था। उसका नाम रखा था 'गंगाराम'। उसके प्रति श्रीमाँ का कितना प्यार था! वे कभी उसे 'राधेकृष्ण, राम राम' पढ़ातीं, और कभी पुकारतीं — 'गंगाराम'। यह सुनकर तोता कहता, 'माँ'। सबको 'माँ-माँ'

कहते हुए सुनकर गंगाराम भी श्रीमाँ को 'माँ' कहकर पुकारना सीख गया था। माँ जब पान खाने लगतीं, गंगाराम कहने लगता 'माँ-माँ'। माँ भी ठीक समझ जातीं कि गंगाराम क्यों पुकार रहा है; वे पिंजरे की तीलियों में से जीभ अन्दर बढ़ाकर मुँह द्वारा गंगाराम को पान खिलातीं। श्रीमाँ ज्योंही पूजा करके बाहर आतीं, त्योंही गंगाराम 'माँ-माँ' कहकर पुकारने लगता। वे पूजा के बाद अपने हाथ से गंगाराम को फल-मिठाई आदि प्रसाद खिलाया करती थीं। गंगाराम के प्रति माँ के स्नेह को देखकर कुछ भक्त ईर्ष्या करते हुए कहते, "काश, हम भी यदि गंगाराम होकर जन्म ले सकते!"

श्रीमाँ के एक पालतू बिल्ली थी। एक दिन उसने एक ब्रह्मचारी के बिछौने पर पेशाब कर दिया। माँ ने यह देखते ही झटपट ब्रह्मचारी के बिछौने की चादर आदि को साबुन से धो डाला। फिर भी उन्हें यह भय बना ही रहा कि कहीं इसकी खबर लगने पर ब्रह्मचारी बिल्ली के पीछे न पड़ जाय। इसी लिए ब्रह्मचारी के साथ भेंट होते ही वे कहने लगीं, "बिल्ली को कुछ मत करना। वह यहीं रहती-खाती है — पेशाब करने भला कहाँ जाय?"

जयरामबाटी में एक बछड़ा सबेरे-सबेरे 'हम्बा-हम्बा' करता हुआ रँभाने लगा। यह सुनकर श्रीमाँ के प्राण आकुल हो उठे। "आती हूँ, बेटी, अभी आती हूँ; उसे खोल दूँ" — कहते-कहते वे अस्तव्यस्त भाव से दौड़ गयीं और उसे खोल दिया।

राबू की पाली हुई बिल्ली पर भी माँ का बड़ा प्यार था। पर उसकी चोरी करके खाने की आदत देखकर ब्रह्मचारी-सेवक उस पर बड़े चिढ़े हुए थे। एक दिन उन ब्रह्मचारी ने उसे उठाकर पटक ही दिया। यह देख श्रीमाँ का मुख म्लान हो गया। बिल्ली का अपराध था — चुराकर खाना। माँ ब्रह्मचारी को समझाने लगीं, "चोरी करना तो उनका धर्म है, बेटा। उनको भला कौन प्रेम से खाने को देता है?"

श्रीमाँ कलकत्ता जाने से पूर्व इन ब्रह्मचारी को बुलाकर कहने लगीं, "ज्ञान, देखो बेटा, बिल्लियों पर नजर रखना, वे कहीं दूसरे के घर न जायँ; नहीं तो वे लोग गाली देंगे, बेटा!" थोड़ा रुककर बोलीं, "और देखो, बिल्लियों को मारना मत। उनके भीतर भी तो मैं हूँ!"

एक दिन गणेशजी ने एक बिल्ली को पीटा। अपनी माँ भगवती के पास लौटकर उन्होंने देखा कि उनके सारे अंगों पर मार के निशान हैं और वे पीड़ा से छटपटा रही हैं। गणेशजी यह देख बहुत ही क्रुद्ध हो गये। अपराधी को उचित दण्ड देने के हेतु, उन्होंने जब भगवती से पीड़ा का कारण पूछा, तो वे बोलीं, "तुम्हीं ने तो मुझे मारा है। यह देखो, मेरे सारे शरीर में तुम्हारी मार के निशान हैं।" गणेशजी तो अवाक् रह गये! वे सोच न सके कि उन्होंने माँ से कब इस प्रकार अभद्रता का व्यवहार किया है। तब भगवती उन्हें समझाती हुई बोलीं, "क्यों बेटा, तुमने उस बिल्ली को मारा है न? वह भी तो आखिर मेरा ही रूप है!" यह सुनकर गणेशजी लज्जा और अनुताप से गड़-से गये।

सन् १९०७ ई. में जयरामवाटी में किसी सन्तान ने प्रसंगवश श्रीमाँ से पूछा था, "तुम क्या सबकी माँ हो?"

श्रीमाँ ने उत्तर दिया, "हाँ।"

पुनः सन्तान ने प्रश्न किया, "इन सब इतर जीव-जन्तुओं की भी?"

माँ बोलीं, "हाँ, उन सबकी भी।"

*   *   *   *

श्रीमाँ का नया मकान तैयार होते ही बंगाब्द १३२३ के २रे ज्येष्ठ (१५ मई, १९१६ ई.) को आनुष्ठानिक रूप से गृह-प्रवेश आदि कार्य समाप्त कर, श्रीमाँ सेवक-संगिनियों को लेकर नये वास-स्थान पर आयीं। मुक्ति-कामी संन्यासियों और संसार-ताप से दग्ध गृही-सन्तानों के लिए हृदय शीतल करने को एक जगह हुई।

नये घर में प्रवेश करने के लगभग डेढ़ महीने वाद स्वामी सारदानन्दजी जयरामवाटी आकर श्रीमाँ को कलकत्ता ले गये। यह वंगाब्द १३२३, आषाढ़ की २२वीं तिथि (६ जुलाई, १९१६ ई.) की वात है।

श्रीरामकृष्ण देव के जीवन का मूलमन्त्र था 'त्याग'। एक दिन कोयालपाड़ा में वहाँ के आश्रम के अध्यक्ष ने श्रीमाँ से पूछा था, "माँ, इस वार ठाकुर जो सर्वधर्म-समन्वय कर गये, तो क्या वे अवकी यही नयी वात देने आये थे?"

कुछ मौन रहकर श्रीमाँ ने कहा, "देखो वेटा, मुझे तो ऐसा नहीं लगता कि उन्होंने समन्वय-भाव का प्रचार करने के उद्देश्य से सारे धर्म-मतों की साधना की थी। वे तो सदैव भगवद्भाव में विभोर रहते थे। ईसाई, मुसलमान जिस-जिस प्रकार से साधन-भजन करके उस परमवस्तु की प्राप्ति करते हैं, उस-उस प्रकार की साधनाओं द्वारा वे भगवान की अनन्त लीला का आस्वादन करते थे। दिन और रात कहाँ से आकर कहाँ निकल जाते, उन्हें इसका कोई होश नहीं रहता था। तो भी वात क्या है, जानते हो, वेटा? इस युग में 'त्याग' ही उनका विशेषत्व है। इस प्रकार का स्वाभाविक त्याग क्या किसी ने दूसरे किसी भी युग में देखा है? तुमने जो सर्वधर्म-समन्वय की वात कही, वह भी ठीक है। अन्य-अन्य वार (अर्थात् अन्यान्य अवतारों के समय) किसी एक ही भाव को प्राधान्य दे देने से दूसरे सव भाव ढक गये थे।"

इस त्याग के सम्वन्ध में, विशेषतः संन्यासियों के लिए, श्रीरामकृष्ण का उपदेश था — 'काम-कांचन-त्याग'। सर्व एषणाओं का त्याग। गृही लोगों से वे कहते थे, "संसार में रहो, पर निर्लिप्त होकर, जैसे वड़े घर की नौकरानी। महरी जिस प्रकार मालिक के वच्चों का अपनी सन्तान के समान स्नेह-दुलार करती है, पर मन-मन जानती है कि ये सव अपने कोई नहीं हैं, उसी प्रकार इस अनित्य-संसार में

स्त्री-पुत्र-परिजनों के प्रति अपना कर्तव्य करते रहना, पर हृदय की गहराई से जानना कि ये सब अपने कोई नहीं हैं — सब श्रीभगवान के हैं। सबकी देख-भाल करनी होगी, पर निर्लिप्त होकर।" इसी लिए 'निर्मानमोह' श्रीमाँ के जीवन में हम इस बात का एक सर्वांगसुन्दर आदर्श देख पाते हैं कि संसार-रंगमंच पर किस प्रकार अभिनय किये जाना होगा। वे 'जितसंगदोष' होकर संसार में रहती थीं।

श्रीमाँ के जीवन का भी प्रधान उपदेश है — काम-कांचन-त्याग। जिस प्रकार श्रीरामकृष्ण देव संन्यासी-शिष्यों से कहते थे, "स्त्रियों का चित्र तक न देखना", उसी प्रकार श्रीमाँ के मुख से भी संन्यासियों के लिए इसी तरह की बात सुनी जाती थी। किसी-किसी गृही भक्त को भी श्रीमाँ इस त्याग का उपदेश देती थीं। एक बाल-विधवा को उन्होंने सतर्क किया था, "देखो बेटी, पुरुषों का कभी विश्वास न करना।..." एक बार जब उन्होंने सुना कि वह स्त्री-भक्त ससुराल जानेवाली है, तो उन्होंने उसे सचेत कर दिया, "किसी के साथ मेल-जोल न बढ़ाना। चाहे किसी का जमाई आये या अन्य कोई सम्बन्धी आये, पर किसी के सम्पर्क में न आना। 'अपने ही में मस्त रहो मन, जाओ नहीं किसी के पास।' ठाकुर को नारियल के लड्डू पसन्द थे, देश जाकर उन्हें उसी का भोग देना। उनकी सेवा, जप-ध्यान यह सब बढ़ा देना और उन्हीं के ग्रन्थों को पढ़ना।"

उस निःसन्तान विधवा के मन में किसी दूसरे के लड़के को पालने-पोसने की इच्छा हुई। श्रीमाँ ने यह जानकर उससे कहा, "ऐसा काम मत करना। जिसके प्रति जो कर्तव्य हो, उसे करती रहना। पर प्रेम एक भगवान को छोड़ और किसी से न करना।..."

उस स्त्री-भक्त ने एक बार तीर्थ-यात्रा की इच्छा प्रकट की थी। तीर्थ-यात्रा बड़ा पुण्य कार्य है। श्रीमाँ स्वयं कितने ही तीर्थों में गयी और रही थीं। पर इस सन्तान को उन्होंने और ही राय दी। सब

सुनकर उन्होंने कहा, "जिस-तिसके साथ तीर्थ जाना भी अच्छा नहीं है।... तुम्हारे हाथ में यदि कुछ पैसे हों, तो दस-बीस ब्राह्मणों को खिला देना।" पास ही एक महिला बैठी थी, उसे दिखाकर श्रीमाँ ने कहा, "यह देखो, यह एक है, तीर्थ-दर्शन करने गयी थी, पर देखो कैसी ठोकर खाकर आयी है ? 'तीर्थ-गमन, दुःख-भ्रमण, मन उतावले होओ नहीं रे'; —'भ्रमण कर बारह, घर बैठे तेरह, यदि कर सको तो रे'†।"

आश्रित सन्तानों के आध्यात्मिक कल्याण के लिए श्रीमाँ को कितनी चिन्ता करनी पड़ती थी, कितना परिश्रम करना पड़ता था — यह सोचने से विस्मय-विमूढ़ हो जाना पड़ता है। वे नाना प्रकार से सन्तानों की रक्षा करती थीं। मानो उन लोगों के इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण के लिए उनका ही सम्पूर्ण दायित्व था।

वर्तमान युग में सब देशों की विधवाओं की जीवनचर्या के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण देव की वाणी से हमें एक अर्थपूर्ण संकेत मिलता है। श्रीरामकृष्ण के किशोर मन में 'ईश्वरैककाम्य'-जीवन का एक सुन्दर चित्र खिंच गया था। वे सोचा करते थे, "यदि और एक बार जन्म लेना पड़े, तो ब्राह्मण-कुल में बाल-विधवा के रूप में जन्म लूँगा। कृष्ण के सिवा और किसी को कान्त के रूप में नहीं जानूँगा। एक छोटीसी झोपड़ी में रहूँगा, साथ में दूर के रिश्ते की बूढ़ी बूआ या मौसी रहेगी। थोड़ीसी जमीन रहेगी, उसमें अपने हाथ से शाक-सब्जी लगाऊँगा। थान पर दूध देनेवाली एक गाय रहेगी; अपने हाथ से दूध दुहकर रबड़ी, मलाई और मक्खन बनाऊँगा। गोप-बालक के रूप में वे ही मन-चोर (कृष्ण) छिप-छिपकर आयेंगे, और मैं हाथ से उन्हें वह सब रबड़ी-मलाई आदि खिलाऊँगा। चरखा कातते समय रोते-रोते, गुनगुनाकर कृष्ण के नाम और स्तवन गाऊँगा। इस प्रकार सारा जीवन कृष्ण के ध्यान में, कृष्ण के

† बँगला गीत का भावानुवाद।

प्रेम में कट जायगा।" कृष्ण के सांन्निव्य का आनन्द ही परमानन्द की प्राप्ति है।

विधवाओं का जीवन त्याग का जीवन है, तपस्या और साधन-भजन का जीवन है। इसी लिए हिन्दू-शास्त्रों में उनके लिए विविध संयम-नियमों की व्यवस्था है।

संसार के 'अल्प और मर्त्य' सुख से अपने को वंचित रख, शाश्वत भूमानन्द की प्राप्ति के लिए त्याग के पथ पर जीवन को प्रेरित करना ही श्रेयस्कर है। क्षुद्र का त्याग किये विना 'महत्' को पाना वहुत दूर की वात है। उक्त विधवा-भक्त को श्रीमां ने जो सुन्दर उपदेश दिया है, उससे विधवाओं के लिए एक-लक्ष्य हो अपने जीवन के महान् व्रत के पालन का निर्देश, एवं उसके अनुकूल वातावरण का संकेत मिलता है। विशेपकर, श्रीसारदा देवी के मुख से नि:सृत होने के कारण, उसमें विधवाओं के वांछित अन्तर्जीवन की दिव्य आभा निखर उठी है। यह वात सच है कि आज 'स्थूल-इन्द्रियानुग, भोग-केन्द्रित' पाश्चात्य सभ्यता के भँवर में पड़कर, हिन्दू-धर्म के अनेक आदर्शों की भाँति विधवाओं का यह जीवन-आदर्श भी विकृत हो गया है और निरर्थक माना जाने लगा है।

* * * *

श्रीमां की उपदेश देने की प्रणाली अपने ही ढंग की थी। वे प्रत्येक का अन्तर देखकर, इहकाल-परकाल — कल्याण-अकल्याण सत्र कुछ जानकर तदनुकूल हितोपदेश देती थीं। कभी-कभी ऐसे उपदेश ऊपर से एक दूसरे के विरोधी प्रतीत होते थे, पर उस व्यक्तिविशेष के लिए वही कल्याणकर होता था।

एक युवक-भक्त ने विवाह के सम्बन्ध में श्रीमां से पूछा। उन्होंने उसके मन के भाव समझकर कहा, "संसारियों के कितना कष्ट है! तुम लोग कम-से-कम निश्चिन्त होकर सो सकोगे।" फिर, किसी

दूसरे युवक-भक्त के उसी प्रकार प्रश्न करने पर उन्होंने कहा था, "उस सम्बन्ध में मैं कोई मतामत नहीं दे सकती। व्याह करके यदि अशान्ति मिली, तो कहोगे, 'माँ, आपने तो विवाह करने की राय दी थी'।"

किसी युवक-भक्त ने एक दिन कहा, "माँ, मैं विवाह नहीं करूँगा।" श्रीमाँ हँसकर बोलीं, "यह क्या ? संसार में सभी जोड़े से रहते हैं। यही देखो न, दो आँखें, दो कान, दो हाथ, दो पैर — वैसे ही पुरुष और प्रकृति।" उस लड़के ने बाद में विवाह कर लिया।

एक समय एक युवक-भक्त ने श्रीमाँ से कहा, "माँ, मैं अब तक बिना शादी किये रहने का प्रयत्न करता रहा। अब जान पड़ता है कि अधिक दिन तक न रह सकूँगा," इत्यादि। श्रीमाँ उसे अभय देती हुई बोलीं, "डर क्या है ? ठाकुर के कितने गृहस्थ भक्त थे ! तुम्हें कोई भय नहीं, तुम विवाह करना।" केवल इतना ही नहीं, उन्होंने उसे अनेक आशीर्वाद भी दिये।

लड़कियों में भी जिनकी विवाह करने की इच्छा न होती, श्रीमाँ उन्हें न करने का ही उपदेश देती थीं। एक समय की बात है। एक भक्त की लड़की ने विवाह करने से इनकार कर दिया। यह बात जब श्रीमाँ को बतलायी गयी, तो उन्होंने उस लड़की की माँ से कहा, "सारा जीवन दूसरे की दासी बनकर रहना, उसकी इच्छानुसार चलना — यह क्या कम कष्ट की बात है !" अविवाहित जीवन में विपत्ति की सम्भावना रहने पर भी, जिसकी विवाह करने की इच्छा न रहती, उसे भोग में लिप्त करने के पक्ष में श्रीमाँ नहीं थीं। इस प्रसंग में वे एक वचन उद्धृत करती थीं — "त्याग के बिना ज्ञान और भक्ति नहीं होती, इसी लिए त्यागी का पथ निश्चित ही श्रेष्ठ है।"

संन्यासियों और भक्त-साधकों को वे उनकी सामर्थ्य के अनुसार

भिन्न-भिन्न साधनाओं का उपदेश देती थीं। किसी को कठोर तपस्या का पथ-निर्देश करती थीं, किसी को जप-पुरश्चरण का, फिर किसी को केवल स्मरण-मनन का। किसी को ध्यान-मार्ग पर नियोजित करती थीं, किसी को साधन-भजन और निष्काम कर्म पर, और किसी को केवल भक्ति-पथ पर।

* * * *

एक दिन श्रीमाँ ने कहा, "सहनशीलता एक बड़ा गुण है। इससे बढ़कर और कोई गुण नहीं।" श्रीरामकृष्ण देव का भी यही कथन था। वे कहते, "श, ष, स।" सभी वर्ण या तो एक हैं, या अधिक-से-अधिक दो। पर 'श' तीन है — क्यों? इसका तात्पर्य है — "श, ष, स — सहे जा, सहे जा, सहे जा। जो सहता है, वही रहता है। जो नहीं सहता, वह नहीं रहता।" श्रीमाँ कहतीं, "सहनशीलता हो तो शिव की भाँति। देखो न, इस भयंकर जाड़े में भी लोग उनके सिर पर घड़ों जल ढालते हैं, पर क्या वे उससे रुष्ट होते हैं? शिव का धैर्य असीम है।"

श्रीमाँ की सहनशीलता भी असीम थी। वे स्वयं सहकर दूसरों को तृप्ति प्रदान करती थीं।

श्रीमाँ की भतीजी नलिनी एक दिन बहुत क्रोधित हो गयी। श्रीमाँ उसे समझाने लगीं, "औरतों को इतना क्रोध करना क्या अच्छा है? सहनशील होना चाहिए। बचपन में माँ-बाप की गोद और युवावस्था में पति का आश्रय छोड़कर उनके लिए और कहीं मर्यादा का स्थान नहीं है।"

थोड़ी देर बाद उनके स्नेह की राधू पास आकर बैठी। उसके वस्त्र घुटनों के ऊपर चढ़ गये थे। यह देख श्रीमाँ उसका तिरस्कार कर कहने लगीं, "यह क्या ढंग है? औरतों का कपड़ा घुटनों के ऊपर क्यों उठे?" यह कह उन्होंने एक श्लोक कहा, जिसका अर्थ

यह था कि घुटनों के ऊपर कपड़ा उठने पर स्त्रियाँ नंगी के बराबर ही समझी जाती हैं।

राधू पास के मिशनरी स्कूल में पढ़ने जाती थी। उस दिन भी वह जाने को तैयार हुई ही थी कि गोलाप-माँ ने कहा, "लड़की बड़ी हो गयी है, अब उसका स्कूल में क्या जाना ?"

राधू रोने लगी। श्रीमाँ ने बाधा देते हुए कहा, "ऐसी क्या बड़ी है, जाने दो न। लिखना-पढ़ना, दस्तकारी — यह सब सीख सकने से बड़ा अच्छा रहेगा। यह सब जानने से वह अपना और अपने ससुराल के लोगों का कितना उपकार कर सकती है।"

तब राधू प्रसन्न होकर स्कूल गयी। यद्यपि श्रीमाँ आधुनिक महिला नहीं थीं, फिर भी लड़कियों के लिखने-पढ़ने के सम्बन्ध में उनका मत बड़ा उदार था। स्वयं उनमें भी जानने और सीखने की प्रबल इच्छा रहती थी। हमने देखा है, बचपन में विवाह के बाद भी वे अपने छोटे भाइयों के साथ कुछ दिन पाठशाला गयी थीं। पर घर की निर्धनता और काम-काज की अधिकता ने उनकी लिखने-पढ़ने की इच्छा को पूर्ण नहीं होने दिया। बाद में अपने ससुराल में भी उन्होंने पढ़ने का प्रयत्न किया था। उन्हें दूसरी श्रेणी की पुस्तक पढ़ती देखकर हृदयराम उनके हाथ से पुस्तक छीनकर ले गये थे। इन सब प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच भी उनकी लिखने-पढ़ने की इच्छा नष्ट नहीं हुई। दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण देव के सान्निध्य में उन्होंने मामूली तौर से अच्छा पढ़ना सीख लिया था। वे रामायण और पौराणिक धर्मग्रन्थ भलीभाँति पढ़ लेती थीं।

इसके अतिरिक्त, श्रीमाँ ने सुन-सुनकर बहुत-कुछ सीखा था। उनसे धर्म के अनेक जटिल प्रश्नों का सहज समाधान पाकर लोग चकित रह जाते थे।

उनकी यह विशेष इच्छा थी कि स्त्रियाँ लिख-पढ़कर अपने

पैरों पर खड़ी होना सीखें और इस प्रकार देश व समाज की उन्नति करें। शिक्षा-शास्त्र में पारंगत भगिनी निवेदिता आदि महिलाओं ने स्त्री-शिक्षा के कार्य में श्रीमाँ से बहुत उत्साह और प्रेरणा प्राप्त की थी। बाद में भी देखा जाता था, जब श्रीमाँ बागबाजार में अपने मकान में रहती थीं, तो उस समय निवेदिता-बालिका-विद्यालय की शिक्षिकाएँ और छात्राएँ बहुधा उनके पास आया करती थीं। वे उन लोगों के लिखने-पढ़ने के बारे में सारी खबर लेतीं, उन लोगों से कितने ही प्रश्न पूछतीं और उन्हें पूर्ण उत्साह देती थीं।

विशेषकर, हिन्दू-समाज की असहाय, दूसरों का मुँह ताककर रहनेवाली, अभागिन बाल-विधवाओं के लिए वे अपने हृदय में असह्य पीड़ा अनुभव करतीं। वे चाहती थीं कि वे लोग लिखना-पढ़ना सीखकर अपने पैरों पर खड़ी हो जावें, वे आत्मीयों की सहानुभूति और दया के भरोसे न पड़ी रहें, वरन् अपने को देश एवं मानव-समाज की सेवा में लगा दें और इस प्रकार एक सार्थक जीवन व्यतीत करें।

दक्षिण भारत की दो लड़कियाँ, जिनकी आयु लगभग १८-२० वर्ष की होगी, निवेदिता-विद्यालय में रहकर शिक्षा ग्रहण कर रही थीं। एक दिन उनके सम्बन्ध में श्रीमाँ ने कहा था, "अहा! उन लड़कियों ने कैसा अच्छा काम-काज सीखा है! और तुम लोग! इधर तो इस अभागे देश (जयरामवाटी अंचल) के लोग, लड़की के आठ साल के होते ही चिल्लाने लगते हैं — 'ब्याह कर दो, ब्याह कर दो।' आह, यदि राधू की शादी न हुई होती, तो क्या ऐसी दुर्दशा होती?"

एक दिन निवेदिता-विद्यालय की अन्य लड़कियों के साथ वे दोनों मद्रासी लड़कियाँ भी श्रीमाँ के दर्शनार्थ आयीं। विविध प्रसंगों पर बातचीत के बाद श्रीमाँ ने जब सुना कि वे लोग अँगरेजी जानती हैं, तब बालिका की भाँति उत्सुक होकर उन्होंने पूछा, "अच्छा, 'हम लोग अब घर जायँगी' — इसको अँगरेजी में कहो तो?"



माँ और निवेदिता

उन लोगों के अँगरेजी में अनुवाद करके सुनाने पर श्रीमाँ बहुत ही प्रसन्न हुईं और पुनः पूछा, "अच्छा, 'घर जाकर क्या खाओगी'— इसकी अँगरेजी क्या होगी ?"

उत्तर सुनकर श्रीमाँ बड़ी प्रसन्न हुईं। बाद में पूछा, "तुम लोगों को गाना आता है ?"

यह जानकर कि उन्हें गाना आता है, माँ ने उन लोगों को गाने का आदेश दिया। उन लोगों के मुँह से तामिल गाना सुनकर माँ के आनन्द की सीमा न रही।

१४

एक दिन दोपहर के वाद एक भक्त का नौकर टोकरी-भर सीताफल लेकर आया और 'दादी, दादी' पुकारने लगा। फिर वह सीताफल पूजा-घर के समीप रख गया। नीचे जाकर उसने साधुओं से पूछा कि टोकरी का क्या किया जाय। उन्होंने कहा, "उसका और क्या होगा, वाहर फेंक दे।" नौकर टोकरी वाहर फेंककर चला गया। इतने में ही श्रीमाँ पूजा-घर के वरामदे में आयीं और उस टोकरी को रास्ते में पड़ी देखकर कहने लगीं, "देखो तो सही, कैसी सुन्दर टोकरी है, और उन लोगों ने फेंकने के लिए कह दिया! उनका क्या है? साधु लोग हैं, इन सव पर उनका क्या मोह? पर हम लोग तो छोटी-मोटी चीज की भी इस प्रकार वरवादी नहीं सह सकतीं। टोकरी में तरकारी के छिलके आदि तो रखे ही जा सकते हैं।" यह कहकर उन्होंने टोकरी को उठवा लाया और धोकर रख दिया।

श्रीमाँ की दृष्टि में कोई भी चीज तुच्छ नहीं थी। वे छोटे-मोटे काम और छोटी-छोटी वातों के भीतर से जीवन के उच्च आदर्श निकाल लेती थीं और उनकी महिमा सामने रख देती थीं।

एक दिन एक भिखारी "भिक्षा दो, भिक्षा दो" कहकर चिल्ला रहा था। नीचे साधु लोग काम-काज में व्यस्त थे। वे खीजकर कह उठे, "जा, अभी तंग न कर।"

श्रीमाँ ने यह सुन पाकर कहा, "देखा, भिखारी को भगा दिया! काम छोड़कर थोड़ासा उठकर भिक्षा न दे सके, आलस आ गया! भिखारी को एक मुट्ठी अन्न भी न दे सके। जिसका जो भाग है, उससे

उसको वंचित करना क्या उचित है ? यह जो तरकारी का छिलका है, वह गाय का भाग है — उसे गाय को देना ही चाहिए।"

जयरामवाटी की बात है। एक सेविका आँगन में झाड़ू लगाकर उसे एक ओर फेंककर चली गयी। यह देख श्रीमाँ ने कहा, "यह क्या, झाड़ू से काम निकाल लिया और उसे लापरवाही से फेंक दिया ? फेंककर रखने में जितना समय लगा, धीरे से रखने में भी उतना ही समय लगता। छोटी चीज को क्या इतनी तुच्छ समझना चाहिए ?" सेविका तो हतप्रभ हो खड़ी रह गयी। वह सोच ही न सकी कि झाड़ू को फेंकना ऐसी कोई बुरी बात है। श्रीमाँ ने कहा, "जिसे रखो, वही रखेगा (अर्थात् वही काम देगा)। उसकी तो फिर से जरूरत होगी। इसके सिवा, वह भी संसार का एक अंग है। इस दृष्टि से देखने पर भी उसका एक सम्मान है। सामान्य काम भी श्रद्धापूर्वक करना चाहिए।"

जयरामवाटी में राधू की प्रिय बिल्ली 'मिनि' आँगन में धूप खाती हुई आराम से बैठी थी। एक भक्त महिला उसके सिर और शरीर पर पैर फेरकर स्नेह प्रकट कर रही थी। बिल्ली के सिर पर उसका पैर लगाना देख श्रीमाँ व्यग्र हो कह उठीं, "अरी बेटी, वह क्या कर रही हो ? सिर तो गुरु का स्थान है; सिर पर क्या पैर लगाना चाहिए ? उसे नमस्कार करो।"

भक्त-महिला आशंकित हो बोली, "यह तो नहीं जानती थी, माँ; आज सीखा।"

श्रीमाँ किस दृष्टि से सब चीजों को देखती थीं — यह ध्यान देने का विषय है।

*   *   *   *

एक भक्त महिला ने एक सुन्दर स्वप्न देखा। वह एकान्त में श्रीमाँ से इसकी चर्चा करने लगी। कहा, "माँ, एक दिन मैंने सपने में देखा कि मैं जयरामवाटी गयी हूँ। आप तब वहीं थीं। ठाकुर को सामने

देखकर मैंने प्रणाम करके उनसे पूछा, 'माँ कहाँ हैं?' वे बोले, 'इस गली से जाओ, छप्परवाले घर में सामने के बरामदे में बैठी हुई है'।"

माँ लेटी-लेटी सुन रही थीं। उत्कण्ठा से एकदम उठकर बैठ गयीं और कहा, "ठीक है, बेटी, ठीक ही तो देखा तुमने!"

भक्त-महिला—"क्या यह सच है, माँ? पर मेरी तो अब तक ऐसी धारणा थी कि आपके मायके का मकान ईंट आदि का बना होगा। इसी लिए फूस का छप्पर और मिट्टी का घर देखकर मुझे ऐसा लगा कि वह मन का भ्रम है।"

महिला-भक्त ने स्वप्न देखा था कि वह अपने पति के साथ कहीं जा रही है। जाते-जाते रास्ते में एक नदी पड़ी, जिसका ओर-छोर दिखाई न देता था। उसके हाथ एक स्वर्ण-लता में बुरी तरह लपट गये। ऐसे समय एक काला लड़का पार जाने के लिए नाव ले आया और उससे कहने लगा कि पहले इस स्वर्ण-बन्धन को काट डालो, तभी पार ले जाऊँगा। वह जी-जान से बन्धन-मुक्त होने का प्रयत्न करने लगी। उसी समय उसके पति कहीं चले गये। "थोड़ासा बन्धन तो और रह गया, उसे तो मैं काट न सकी"—यह कहकर ही वह नाव पर चढ़ गयी। नाव छूट गयी।

स्वप्न सुनकर श्रीमाँ कहने लगीं, "वह जो तुमने देखा, महामाया ने वह रूप लेकर तुम्हें पार कर दिया। पति कहो, पुत्र कहो, शरीर कहो—सब माया है। ये सब माया के बन्धन हैं। इन्हें काटे बिना पार होना सम्भव नहीं होता। आखिरी माया है देह की—देहात्म-बुद्धि। अन्त में इसे भी काटना होगा। देह भला क्या है, बेटी; मुट्ठी भर राख ही तो! उसका फिर क्या गर्व करना! कितनी भी बड़ी देह हो, जलाने पर डेढ़ सेर राख ही तो बचती है। उसको प्यार करना! हरि बोल, हरि बोल, जय माँ जगदम्बा, गोविन्द, गोविन्द, राधेश्याम, गुरुदेव, गंगा-गंगा, ब्रह्मवारि!"





एक ब्रह्मचारी-सन्तान ने माँ से पूछा, "अच्छा माँ, मन्त्र लेने की क्या आवश्यकता है? मन्त्र-जप न कर यदि कोई 'माँ काली, माँ काली' कहकर पुकारे, तो क्या न होगा?"

मन्त्ररूपिणी माँ ने कहा, "मन्त्र से देह शुद्ध होती है। भगवान के मन्त्र का जप करके मनुष्य पवित्र होता है।"

फिर माँ ने नारद की कथा सुनायी। नारद वैकुण्ठ आये हुए थे। भगवान से बातचीत करके जब नारद चले गये, तब भगवान ने लक्ष्मी से कहा, 'वहाँ गोबर छिड़क दो।' लक्ष्मी ने इसका कारण पूछा। भगवान बोले, 'नारद ने अभी तक मन्त्र नहीं लिया है। मन्त्र लिये बिना देह शुद्ध नहीं होती।'

यह कथा बतलाकर श्रीमाँ कहने लगीं, "कम-से-कम देह-शुद्धि के लिए ही मन्त्र की आवश्यकता है।"

एक बार उन्होंने कहा था, "भगवान ने उँगलियाँ दी हैं, मन्त्र जपकर इनको सार्थक करना चाहिए।"

एक भक्त ने शरणागत हो आर्त-स्वर में श्रीमाँ से कहा, "माँ, साधन-भजन तो कुछ कर नहीं पाता, और ऐसा भी नहीं लगता कि बाद में कभी कर सकूँगा।"

श्रीमाँ अभय देती हुई बोलीं, "करोगे भी क्या? जो करते हो, वही किये जाओ। इतना याद रखना, तुम लोगों के पीछे ठाकुर हैं—मैं हूँ।"

एक दूसरे भक्त ने अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहा, "माँ, ध्यान आदि तो कुछ होता नहीं।"

श्रीमाँ बोलीं, "नहीं हुआ तो क्या। ठाकुर का चित्र देखने से ही हुआ।" दुर्बलों के लिए उन्होंने बोझा हलका कर दिया—पथ सुगम बना दिया। पंगु के हाथों में मुक्ति ला दी।

तब भी मानो भक्त अक्षम है। इसी लिए अन्य एक सन्तान ने

पूछा, "माँ, यथाविधि तीन बार जप करना हर दिन सम्भव नहीं होता।"

वे तो माँ हैं! लड़कों को असमर्थ देख उन्हीं के प्राण व्याकुल हो उठते हैं। इसी लिए उन्होंने कहा, "नहीं हुआ तो न सही। स्मरण-मनन करना। जब समय मिले, जप करना। कम-से-कम प्रणाम तो कर सकोगे?"

अरे, यदि और कुछ न कर सका, तो कम-से-कम माँ के चरणों में प्रणत हो। व्याकुल-चित्त से माँ के दोनों चरणकमल पकड़ ले। शान्ति पायगा, मुक्ति मिलेगी।

* * * *

बंगाब्द सन् १३२३ की बात है। श्रीमाँ का आशीर्वाद लेकर स्वामी प्रेमानन्द बेलुड़-मठ में भगवती की प्रतिमा की आराधना के आयोजन में लग गये। श्रीमाँ पूजा के समय मठ में आयेंगी — यह आश्वासन पाकर संन्यासियों के हृदयों में आनन्द-धारा उमड़ने लगी। माँ जो आयेंगी! 'शरणागत-दीनार्त-परित्राण' प्रदायिनी माँ आयेंगी — सारे दुःख-दैन्य हरण कर आनन्दमयी-रूप से आयेंगी। श्रीरामकृष्ण देव ने कहा था — मन्दिर में जो माँ है, और नौबतखाने में जो माँ है, दोनों एक ही माँ हैं। वे ही अम्बा मठ में अम्बालिका-रूप से पूजित होंगी। श्रीमाँ की शुभेच्छा और उपस्थिति से ही संन्यासीगण सोचने लगते थे कि देवी-पूजा सार्थक हुई। संन्यासियों की पूजा तो निष्काम-पूजा है — 'अकामो विष्णुकामो वा'; उनकी बस यही प्रार्थना और याचना रहती है कि क्षेमंकरी माँ प्रसन्न हो जायँ। मठ के साधुगण जीती-जागती देवी के श्रीपादपद्मों के दर्शन और श्रीचरणों में भक्ति-अर्घ्य निवेदन करना ही अपना परम-कर्तव्य मानते थे। एक समय महाष्टमी के दिन स्वामी ब्रह्मानन्दजी एकसौ-आठ खिले कमलों से श्रीमाँ की चरण-पूजा कर धन्य हुए थे। अस्तु।

श्रीमाँ ने सप्तमी के दिन मठ में पदार्पण किया। मठ के उत्तर ओर के उद्यान-भवन में उनके रहने की व्यवस्था की गयी थी। श्रीमाँ यथासमय पूजा-मण्डप में आयीं और पूजा आदि देखकर आनन्दित हुईं। उन्होंने सबको दर्शन भी दिये।

इधर राधू के अकस्मात् अस्वस्थ हो जाने से माँ के कलकत्ता लौट जाने की बात चलने लगी। यह सुनकर एक संन्यासी ने स्वामी प्रेमानन्द के पास जाकर परामर्श दिया कि वे श्रीमाँ से रह जाने के लिए प्रार्थना करें।

इस पर प्रेमानन्दजी ने कहा, "अरे भाई, महामाया को कौन रोक सकता है? उनकी जैसी इच्छा होगी, वैसा ही होगा — उनकी इच्छा के विरुद्ध कौन क्या कर सकता है?"

अन्त में श्रीमाँ ने कलकत्ता लौट जाने का विचार त्याग दिया।

उस वर्ष पूजा के तीनों ही दिन प्रकृति का वातावरण अनुकूल नहीं था। परन्तु श्रीमाँ की उपस्थिति से किस प्रकार सब कुछ आनन्द से सम्पन्न हुआ, इसका स्पष्ट आभास स्वामी शिवानन्द के पत्र से मिलता है। उन्होंने लिखा था, "...श्रीमाँ के उपस्थित रहने से पूजा मानो प्रत्यक्ष रूप से हुई।... यद्यपि तीनों ही दिन लगातार पानी बरस रहा था, तो भी माँ की कृपा से किसी कार्य में विघ्न नहीं पड़ा। यहाँ तक कि, भक्तगण जिस समय प्रसाद पाने बैठते, ठीक उसी समय कुछ देर के लिए वर्षा बन्द हो जाती थी। सभी यह देखकर आश्चर्य में पड़ जाते थे। बाद में योगीन-माँ से विदित हुआ कि ज्योंही भक्तगण प्रसाद पाने बैठते और पानी अब गिरा तब गिरा ऐसी अवस्था होती, त्योंही श्रीमाँ दुर्गा-नाम जपने बैठ जातीं और कहतीं, 'हाय, इतने लोग कैसे इस पानी में बैठकर खायेंगे? पत्तल आदि सब बह जायगा! माँ, रक्षा करो!' और माँ भी सचमुच रक्षा करती थीं। तीनों दिन ऐसा हुआ।..."

पूजा के इन कुछ दिनों में बहुत से लोगों ने श्रीमाँ की चरण-पूजा की। दर्शनार्थियों की भीड़ भी खूब रहती थी। इधर दर्शन-दान के बीच-बीच में श्रीमाँ को बारम्बार गंगा-जल से अपने पैर धोती हुई देख योगीन-माँ ने पूछा, "माँ, यह क्या कर रही हो? सर्दी लग जायगी।"

श्रीमाँ ने कातर-कण्ठ से कहा, "योगेन, क्या बताऊँ! कुछ लोग रहते हैं, जिनके प्रणाम करने से शरीर ठण्डा होता है। और किसी-किसी के प्रणाम करने से तो देह में मानो आग लग जाती है। गंगा-जल से धोये बिना रह नहीं सकती।"

बेलुड़-मठ में संन्यासियों की देवी-आराधना सार्थक हुई। श्रीमाँ ने सबको आशीर्वाद दिया। उनके आशीर्वाद से सभी को शान्ति और आनन्द मिला। श्रीमाँ का आशीर्वाद ही तो वास्तव में शान्ति-वारि है। पूजा के बाद श्रीमाँ कलकत्ता लौट आयीं।

*   *   *   *

कलकत्ते में रहते समय श्रीमाँ को प्रायः प्रतिदिन दीक्षा देनी पड़ती थी। भक्तों को दो बार दर्शन देने पड़ते थे, और सारे दिन स्त्री-भक्तों का आना-जाना लगा ही रहता था। स्त्रियों के लिए द्वार सदा खुले थे। श्रीमाँ दोपहर को थोड़ा विश्राम लेतीं। स्त्री-भक्त उस समय भी माँ के पास चली आतीं, अतः उन्हें उतना विश्राम भी नहीं मिल पाता था। इधर उनका स्वास्थ्य धीरे-धीरे बिगड़ता जा रहा था। पर उनके अन्तिम दिनों में मातृ-भाव और गुरु-भाव के पूर्ण प्रकाश ने उनकी सारी सत्ता को मानो छा लिया था।

'माँ' कहकर सिर नीचा करके श्रीमाँ के समीप खड़े रहने से ही सब कुछ हो जाता। वात्सल्यमयी माँ सहज स्नेह से धूल-कीचड़ साफ कर मानो भक्त-शिशु को अपनी गोद में उठा लेती थीं।

जीव की पाप करने की जितनी क्षमता है, उससे कहीं अधिक

क्षमता भगवान की क्षमा करने की है। इसी लिए तो वे भगवान हैं। इसी लिए तो वे करुणामय हैं, दयामय हैं। उनमें केवल करुणा है, क्षमा है, दया है।

एक कुलवती महिला ने किसी के फन्दे में पड़कर अपनी मर्यादा नष्ट कर डाली। वाद में उसे अपनी भूल मालूम हुई। अपने कार्य के लिए बहुत ही अनुतप्त हो वह श्रीमाँ के चरणों में आश्रय और शान्ति पाने आयी। पूजा-घर में प्रवेश करने में भी उसे संकोच हुआ। वह दरवाजे पर खड़ी होकर रोने लगी। श्रीमाँ को अपने पाप की सारी बात बताकर उसने कहा, "माँ, अब मेरा क्या उपाय होगा? मैं आपके पास इस पवित्र-मन्दिर में आने योग्य नहीं हूँ।" श्रीमाँ ने दो कदम बढ़कर उस महिला को अपनी बाहुओं में भर लिया और स्नेह के साथ कहा, "आओ, बेटी, अन्दर आओ। तुमने तो यह जान लिया कि पाप क्या है। तुम्हें पश्चात्ताप हो रहा है। आओ, मैं तुम्हें मन्त्र दूँगी;—ठाकुर के चरणों में सब अर्पण कर दो। डर किस बात का?"

पतितोद्धारिणी माँ ने उसके कानों में तारकब्रह्म-नाम दे दिया। उसने अपने को धूल-कीचड़ से सान लिया था; माँ ने उसे साफ करके अपनी गोद में खींच लिया। स्नेह से उसका हृदय भर दिया।

माँ जो इस प्रकार बिना विचार किये मुक्ति दिये जाती थीं, उनमें इतनी शक्ति भला आयी कहाँ से? श्रीरामकृष्ण देव ने कहा था, 'वह मेरी शक्ति है।' और माँ कहती थीं, 'वे ही मेरे सर्वस्व हैं।' तभी तो श्रीठाकुर पर माँ का इतना अधिकार था। 'वे' अपने जन जो हैं! सन्तानों को गोद में उठाकर, माँ उन्हें ठाकुर के चरणों में छोड़ देती थीं। ठाकुर भी उन्हें वचन दे चुके थे कि वे सबको हाथ पकड़कर परमधाम में ले जायेंगे। यह एक दुरूह पहेली है! शिव-शक्ति की लीला है! तभी तो माँ के पास उन्होंने चींटों की जमात

भेज दी। बच्चों की देख-भाल का झमेला माताओं को ही उठाना पड़ता है!

एक भक्त को उसके कुल-गुरु ने श्राप दिया। भयभीत होकर वह श्रीमाँ के पास आया और उन्हें सारी बात बतलायी। श्रीमाँ उसे अभय देती हुई कहने लगीं, "जो ठाकुर की शरण आता है, ब्रह्मशाप भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता। तुम्हें किसी बात का भय नहीं।"

माँ मुक्त-कण्ठ से श्रीरामकृष्ण देव की महिमा कहने लगीं, "बेटा, ठाकुर कहते थे, 'मलय की हवा लगने से जिन वृक्षों में सार रहता है, वे चन्दन हो जाते हैं।' मलय-समीर बह गया है, अबकी बार सब-के-सब चन्दन हो जायँगे—केवल बाँस और केले को छोड़कर।"

एक समय की बात है। श्रीठाकुर के पदाश्रित, उनके नाम पर सब त्याग देनेवाले एक संन्यासी-शिष्य श्रीमाँ के पास अपनी निराशा प्रकट करने लगे। यह सुनकर श्रीमाँ सहसा गम्भीर हो गयीं। वह गाम्भीर्य महामौन की द्योति था। उत्साह-भरे कण्ठ से माँ कहने लगीं, "यह क्या! ठाकुर का नाम क्या चार अक्षर मात्र हैं कि वह विफल हो जायगा! वह नाम कभी व्यर्थ नहीं होने का। जो लोग ठाकुर का स्मरण कर यहाँ आये हैं, उन्हें इष्ट-दर्शन होगा ही। यदि और किसी समय न हो, तो कम-से-कम मृत्यु से क्षणभर पहले तो अवश्य होगा।" यही क्षण परम सौभाग्यशाली क्षण है— भवबन्धन से मुक्ति का क्षण है, जन्म-मृत्यु की पहेली के अवसान का क्षण है।

एक आश्रित सन्तान के मन में यह सोचकर बड़ा दु:ख हुआ कि हम लोग उनके (श्रीमाँ के) चरण छूकर प्रणाम करते हैं, और उससे उन्हें बहुत कष्ट होता है। अतः उन्होंने सोचा—तो फिर पैर छूकर प्रणाम क्यों करना? सन्तान के दु:ख से माता और भी दु:खित हो जाती है। श्रीमाँ ने जब भक्त की यह बात सुनी, तो बोलीं, "नहीं,

बेटा, ऐसा क्यों सोचते हो? हमारा तो इसी लिए जन्म हुआ है। हम यदि लोगों का पाप-ताप न लें, वह सब न पचाएँ, तो भला और कौन करेगा? पापी-तापियों का भार और कौन सहन करेगा? पर बात ऐसी है, जो लोग अच्छे हैं, वे यदि पैर छूएँ, तो कुछ नहीं होता। पर कुछ लोग ऐसे रहते हैं, जिनके छूने से पैर एकदम जल उठते हैं।"

जयरामबाटी में एक लड़का माँ के पास आया। उसने माँ के दर्शन किये, उन्हें प्रणाम किया। वह माँ से हृदय की दो बातें कहना चाहता था, इसलिए वह आकर बरामदे में गुम-सुम होकर बैठ गया। माँ घर के अन्दर थीं। वे लड़के के हृदय की वेदना ताड़ गयीं; बोलीं, "बेटा, अन्दर आ जाओ, यहाँ बैठकर बातें करो।"

लड़के ने कहा, "नहीं, माँ, यहीं ठीक है। मैं नीच जात का हूँ।"

माँ ने आवेग-भरे स्वर से कहा, "किसने कहा, बेटा, तुम नीच जात के हो? तुम मेरे लड़के हो; आओ, अन्दर आकर बैठो।"

श्रीरामकृष्ण देव कहते थे कि भक्तों की जाति नहीं है। अर्थात् सब भक्त एक ही जाति के हैं।—"और जाति-भेद? वह केवल एक ही उपाय से मिट सकता है। वह उपाय है भक्ति।... अस्पृश्य जाति भी शुद्ध हो जाती है। चाण्डाल भी, भक्ति होने पर, चाण्डाल नहीं रह जाता। चैतन्य देव ने चाण्डाल तक, सबको आलिंगन दिया था।"

एक सन्तान ने कोई बड़ा अनुचित कार्य कर डाला। यह सोचकर कि माँ को यह बतलाने पर वे उसे कठोर दण्ड देंगी, कुछ लोगों ने श्रीमाँ के पास आकर उसके कुकर्म की बात कही। इतना ही नहीं, वरन् उसे समुचित दण्ड देने के लिए भी उन्होंने श्रीमाँ से अनुरोध किया। माँ ने सब सुना। वेदना से उनका मुख म्लान हो गया। दीर्घ निःश्वास छोड़कर बोलीं, "मैं तो 'माँ' हूँ! मैं उससे ऐसी बात कैसे कहूँगी?" उन्होंने उस सन्तान को दण्ड तो

दिया ही नहीं, वल्कि उसका भार अपनें ऊपर ले लिया।

एक दिन वागवाजार-मठ में माँ के समीप वैठकर महिला भक्त-गण श्रीरामकृष्ण देव की वातें सुन रही थीं। भक्तों को श्रीमाँ के मुख से श्रीरामकृष्ण-प्रसंग वड़ा मधुर लगता था। वातें करते-करते श्रीमाँ उस अतीत की स्मृति में चली गयीं। अनुराग के रस में विभोर हो वे कहने लगीं, "ठाकुर तो इतने त्यागी थे, पर मेरे लिए वे कितनी चिन्ता करते थे! एक दिन मुझसे पूछा, 'खर्च के लिए तुम्हें (महीने में) कितने रुपये लगते हैं?' मैंने कहा, 'यही पाँच-छः रुपये।' फिर पूछा, 'शाम को कितनी रोटियाँ खाती हो?' मैं तो लज्जा से गड़-सी गयी—कैसे कहूँ! इधर वे वारम्वार पूछने लगे। इसलिए कहना ही पड़ा, 'यही पाँच-छः खाती हूँ'।" वातें करते-करते उन्हें गम्भीर भावावेश हो आया।

एक भक्त ने श्रीरामकृष्ण देव की पूजा करके उन्हें भोग निवेदित किया। उसने सहसा देखा कि श्रीरामकृष्ण देव के चित्र से एक ज्योति की धारा नैवेद्य पर आ पड़ी। वह इसका तात्पर्य कुछ समझ न सका। सोचा, माँ से पूछने से ही इसका समाधान मिल जायगा। उसने आकर माँ को यह वात वतलायी और पूछा, "अच्छा माँ, यह जो मैं देखता हूँ, वह सच है, या मन का भ्रम है?"

यह सुन श्रीमाँ मानो क्षण-भर ध्यान-मग्न रहीं; फिर वोलीं, "नहीं, वेटा, वह सव ठीक है।"

भक्त—"क्या तुम जानती हो, मैं क्या देखता हूँ? ठाकुर को और तुम्हें मैं जो नैवेद्य निवेदित करता हूँ, वह क्या ठाकुर लेते हैं? तुम क्या वह ग्रहण करती हो?"

श्रीमाँ ने एक छोटासा उत्तर दिया, "हाँ।"

भक्त—"यह समझूँ कैसे?"

श्रीमाँ—"क्यों भला? क्या गीता में तुमने पढ़ा नहीं—फल,

फूल, जल जो कुछ भी भक्तिपूर्वक भगवान को दिया जाय, वही वे ग्रहण करते हैं!"

यह तो अप्रत्याशित उत्तर था! विस्मित-भक्त ने पूछा, "तो क्या तुम भगवान हो?"

प्रश्न सुनकर श्रीमाँ हँस पड़ीं। वह पकड़ में आ जाने की हँसी थी, स्वीकृति की हँसी थी!

* * * *

लगभग सात महीने वागवाजार में व्यतीत कर श्रीमाँ वंगाब्द १३२३ के १८वें माघ (३१ जनवरी, १९१७ ई.) को जयरामवाटी के लिए रवाना हुईं। मार्ग में दो दिन कोयालपाड़ा के जगदम्बा-आश्रम में रहकर वे जयरामवाटी पहुँचीं।

श्रीमाँ अपने नये मकान में थीं। भक्तों के लिए आकर रहने की अव और भी सुविधा हो गयी थी। श्रीमाँ के प्राणों में भी कृपा की वाढ़ आ गयी थी। वह वहाव निर्विचार सवको अमृत-सागर की ओर वहाये ले जा रहा था।

जयरामवाटी आने के कुछ महीने वाद से श्रीमाँ को अकसर वुखार आने लगा। वे वड़ी दुर्वल हो गयीं। शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द) को जव इसका पता लगा, तो उन्होंने कुछ दिन भक्त-समागम और दर्शन आदि वन्द रखने का निर्देश दिया। इसी समय सुदूर वरीशाल से एक भक्त जयरामवाटी में उपस्थित हुआ। वह व्याकुल होकर श्रीमाँ के दर्शन करने और उनकी कृपा प्राप्त करने आया था।

पर सेवक किसी प्रकार भक्त को श्रीमाँ के दर्शन न करने देते थे। भक्त की आकुल प्रार्थना भी व्यर्थ गयी। भक्त और सेवक में जोर-शोर से वहस छिड़ गयी। शोरगुल सुनकर अन्तर्यामिनी माँ अस्तव्यस्त भाव से एकदम वाहरी दरवाजे पर आ गयीं और कुछ

विरक्ति प्रकट करते हुए सेवक से कहा, "तुम क्यों नहीं आने देते ?"

सेवक बोले, "शरत् महाराज ने मना किया है। अस्वस्थ शरीर में दीक्षा देने से आपका स्वास्थ्य और भी खराब हो जायगा।"

श्रीमाँ ने कुछ उत्तेजित-स्वर से कहा, "शरत् क्या कहेगा ? हमारा आना ही इसी लिए हुआ है। मैं उसे दीक्षा दूंगी।"

फिर भक्त को सम्बोधन करके बोलीं, "आओ, बेटा, आज तुम खा लो, कल तुम्हारी दीक्षा होगी।"

भक्त को माँगने के पहले ही मिल गया ! श्रीभगवान के पास कुछ माँगना नहीं पड़ता। आन्तरिक इच्छा होने से, वे अन्तर्यामी-रूप से हृदय के सारे अभाव पूर्ण कर देते हैं।

श्रीमाँ ने एक दिन अपनी भतीजी नलिनी से पूछा, "भगवान से क्या प्रार्थना करनी चाहिए, जानती है ?"

नलिनी ने कुछ गर्व-भरे स्वर से कहा, "क्यों बूआ, ज्ञान-भक्ति, आनन्द-शान्ति, सुख-सम्पद् —— यही सब।"

श्रीमाँ धीर गम्भीर स्वर से बोलीं, "नहीं। यह सब कुछ भी नहीं। भगवान के पास केवल वासनाशून्य होने की प्रार्थना करनी चाहिए।"

वासनाशून्य होने से ही निर्वाण मिलता है —— मुक्ति मिलती है। तभी तो श्रीमाँ ने वासनाशून्य होने की प्रार्थना का उपदेश दिया।

ताजपुर के जमींदार-वंश के मन्मथनाथ चट्टोपाध्याय के साथ राधू का विवाह हुआ था। विवाह की बात पक्की हो जाने पर एक दिन ज्योतिषी को उसकी जन्म-कुण्डली दिखायी गयी। पता चला कि राधू का वैधव्य-योग है। तो भी, 'जो होनहार है, वह तो होकर ही रहेगा' ऐसा सोचकर श्रीमाँ ने मन्मथ के साथ ही राधू का विवाह किया। विवाह के बहुत बाद मन्मथ दीक्षा के लिए श्रीमाँ के पीछे पड़ गया। वे आत्मीयों को दीक्षा नहीं देती थीं, पर मन्मथ को

उन्होंने दीक्षा दी। इसका कारण बतलाते हुए उन्होंने कहा था कि राघू की जन्म-कुण्डली में जो वैधव्य-योग है, वह इस दीक्षा के प्रभाव से खण्डित हो जा सकता है। श्रीठाकुर के नाम से विधि का विधान भी कट जाता है। वे कपाल-मोचन जो हैं!

श्रीमाँ के दीक्षा-दान के फल से राघू का वैधव्य खण्डित हो गया था।

मन्मय के चाचा भोलानाथ चट्टोपाध्याय श्रीमाँ को 'समधिन' न कह, 'माँ' कहकर पुकारते थे। एक समय श्रीमाँ भोलानाथ को चिट्ठी लिखा रही थीं। कहा, "लिखो — 'बेटा, . . .'।" राघू की माँ सुरबाला देवी ने यह सुनकर कहा, "यह क्या? वह तो तुम्हारा समधी होता है!"

माँ ने कुछ धीमे स्वर से उत्तर दिया, "तो क्या हुआ? वह मुझे 'माँ' कहकर प्रसन्न होता है। उसके लिए मैं भी वही हूँ।"

वे जगज्जननी जो हैं! चराचर विश्व-ब्रह्माण्ड के समस्त प्राणी उनकी सन्तान हैं!

एक भक्त ने श्रीमाँ से पूछा, "माँ, आप ठाकुर को किस तरह देखती हैं?"

कुछ क्षण चुप रहकर गम्भीर स्वर से माँ ने कहा, "सन्तान की तरह देखती हूँ।"

अहा! यह मातृ-भाव की परिपूर्ति है! यह ब्रह्मज्ञानी की सर्वभूतों में चैतन्यघन-एकरस-ब्रह्म की 'भाति' की उपलब्धि नहीं है, यह तो 'चिरन्तनी माँ' के लीला-विलास की दीप्ति है!

श्रीरामकृष्ण देव मातृ-भाव की साधना की समाप्ति के बाद 'स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु' (सब स्त्रियों में जगन्माता ही हैं) — इस अनुभूति में प्रतिष्ठित हुए थे। और श्रीसारदा देवी की वाणी में मानो हम सुन पाते हैं 'सनातनी माँ' का सहज कण्ठ-स्वर। तो,

ये रामकृष्ण-परिणीता सारदा देवी हैं, अथवा रामकृष्ण-पूजिता भुवनेश्वरी?

* * * *

धीरे-धीरे जगद्धात्री-पूजा का दिन आ पहुँचा। दुर्गा-पूजा के बाद से ही श्रीमाँ दिन गिनने लगी थीं। उन्होंने अपने हाथों से सारा आयोजन किया था——यहाँ तक कि दीप के लिए बत्तियाँ भी उन्हीं ने बनायी थीं। माँ के नये मकान के पूजा-मण्डप में जगद्धात्री की पूजा हुई। श्रीमाँ सवेरे से ही गले में वस्त्र डालकर विनीत भाव से पूजा की निर्विघ्न समाप्ति के लिए प्रार्थना कर रही थीं। बहुत से संन्यासियों और भक्त-सन्तानों का समागम हुआ था।

पूजा के बाद अधिकांश सन्तानों ने श्रीमाँ के चरणों में विकसित-कमलों से भक्ति-अंजलि दी। माँ ने भावस्थ हो सबकी पूजा ग्रहण की। कई सन्तानों की ठोड़ी छूकर स्नेह-चुम्बन लिया, सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया। बाद में एक सेवक से वे कहने लगीं, "और भी फूल ले आओ। राखाल, तारक, शरत्, खोका, योगेन, गोलाप † — इनके नाम ले-लेकर फूल चढ़ाओ। मेरे ज्ञात, अज्ञात सब लड़कों की ओर से फूल की अंजलि दो।"

सेवक पुष्पांजलि देने लगे। पुण्यमयी माँ हाथ जोड़कर श्रीरामकृष्ण देव की ओर देखती हुई बैठी थीं — स्थिर, शान्त! इस भाँति बहुत समय व्यतीत हो गया। बाद में उन्होंने कहा, "सबके इहकाल-परकाल का मंगल हो।"

जगद्धात्री-पूजा के पहले दिन एक अलौकिक घटना घटी थी, जिसने सबको चकित कर दिया था। श्रीमाँ के भाई प्रसन्नकुमार की सबसे छोटी लड़की विमला का पैर विषाक्त होकर सूज गया था। उसे बड़े जोर का बुखार चढ़ गया। धीरे-धीरे वह बेहोश हो गयी। विमला

† भगवान श्रीरामकृष्ण देव की अन्तरंग सन्तानों के नाम।

का अन्तिम काल उपस्थित हुआ। ऐसे समय बाँकुड़ा-आश्रम के डाक्टर-महाराज ने विमला को दवाई दी और आकर श्रीमाँ से कहा, "आपने कहा, इसलिए एक उत्तेजक दवा दे दी। नाड़ी नहीं है — दवा अन्दर नहीं गयी, बाहर गिर पड़ी।"

यह सुनकर श्रीमाँ अपने नये मकान से प्रसन्नकुमार के घर गयीं। उनके भाई की स्त्री सुवासिनी ने रोते-रोते माँ के पैर पकड़ लिये और उनकी पद-धूलि पानी में मिलाकर विमला के मुँह में डाल दी। श्रीमाँ ने बालिका के पास बैठकर उसके सारे शरीर पर हाथ फेरा और फिर जगद्धात्री की प्रतिमा के सामने आ, हाथ जोड़कर, अश्रु-भरे नयनों से प्रार्थना करने लगीं, "माता, कल तुम्हारी पूजा होगी, और बड़ी बहू फूट-फूटकर रोयगी?"

उसी रात विमला की चेतना लौट आयी।

जगद्धात्री-पूजा के बाद से ही श्रीमाँ का स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। प्रायः ज्वर हो आता, फिर छोड़ देता। तब वे फिर पूरे जोर से परिजनों और भक्तों की सेवा में लग जातीं। किन्तु पूस में उनका स्वास्थ्य बहुत ही खराब हो गया। उन्होंने खाट पकड़ ली।

माँ ज्वर की यन्त्रणा से छटपटाती रहती थीं। एक सेवक उनकी सेवा में नियुक्त थे। उनसे एक दिन श्रीमाँ ने कहा, "देखो, बेटा, कितने दिन से पुकार रही हूँ, पर कोई सुन न पाया; मैं कितना रोयी हूँ, तो भी कोई नहीं आया। अन्त में आज माता जगद्धात्री आयी थीं; पर उनका मुख ठीक माँ (उनकी जन्मदात्री श्यामासुन्दरी) के मुँह के समान था। अब मेरा रोग दूर हो जायगा।"

इधर संवाद पाकर स्वामी सारदानन्द कलकत्ते से डाक्टर और सेविकाओं को लेकर २१ जनवरी, १९१८ ई. को जयरामवाटी आये। उन लोगों को देखते ही श्रीमाँ ने कहा, "मैं कांजिलाल की दवा खाऊँगी।" डाक्टर कांजिलाल की दवा से माँ धीरे-धीरे स्वस्थ हो गयीं।

स्वामी सारदानन्द नें श्रीमाँ को कलकत्ता ले जाने की इच्छा प्रकट की। पर माँ राजी न हुईं। अन्त में निरुपाय हो, एक सेविका को श्रीमाँ की सेवा के लिए रखकर स्वामी सारदानन्द कलकत्ता लौट गये।

श्रीमाँ का कलकत्ता जाना नहीं हुआ। अतः कोयालपाड़ा के साधुओं ने श्रीमाँ से जलवायु-परिवर्तन के लिए वहाँ आकर कुछ दिन रहने का अनुरोध किया। उनकी लगन से प्रसन्न हो, श्रीमाँ फागुन के अन्त में कोयालपाड़ा आयीं और वहाँ दो महीने से कुछ अधिक रहीं। साधुओं की सेवा-टहल और जलवायु-परिवर्तन से पहले-पहल श्रीमाँ का स्वास्थ्य काफी सुधर गया।

कोयालपाड़ा में रहते समय श्रीमाँ को एक दिन भाव-समाधि लग गयी। 'ठाकुर' यह शब्द कहकर ही उनका बाह्य-ज्ञान लुप्त हो गया। बहुत देर बाद उनका मन सहज-भूमि पर आया। इस भाव-समाधि के सम्बन्ध में उन्होंने एक अन्य समय कहा था, "...एक दिन दोपहर को बरामदे में बैठी हुई थी। नलिनी आदि कुछ दूर पर बैठी कुछ सी रही थीं। तेज धूप थी। मैंने देखा—सामने के दरवाजे से ठाकुर ठण्डे बरामदे में आये और बैठते ही लेट गये। मैं यह देख झटपट अपना आँचल बिछाने गयी। बिछाते समय, मालूम नहीं, मैं कैसी हो गयी।"

कोयालपाड़ा में रहते समय आखिरी दिनों की घटना है। वैशाख का महीना था, दोपहर का समय। कड़कड़ाती धूप थी। लू साँय-साँय चल रही थी। असह्य गरमी थी। श्रीमाँ ने सेवक से बात-ही-बात में कहा, "आह, थोड़ा पानी गिर जाय, तो धरती ठण्डी हो!"

थोड़ी ही देर बाद न जाने कहाँ से चारों दिशाओं को थर्रा देनेवाली बादलों की गड़गड़ाहट के साथ जोर की आँधी चलने लगी, तूफान आ गया और ओले गिरने लगे। श्रीमाँ बालिका की भाँति

प्रसन्न होती हुई ओले उठा-उठाकर मुंह में रखने लगीं। इसी से उन्हें सर्दी लगकर ज्वर हो आया। किसी तरह वह बुखार नहीं उतरा, वरन् धीरे-धीरे बढ़ता ही चला। हाथ-पैर में असह्य जलन होने लगी। अन्त में स्वामी सारदानन्दजी को कलकत्ते में तार किया गया। वे तुरन्त डाक्टर आदि को साथ ले कोयालपाड़ा चले आये। यह १७ अप्रैल, १९१८ ई. की बात है।

शरत् महाराज ने आते ही श्रीमां से कहा, "मां, देखिए, हम लोग आ गये, अब अच्छी हो उठिए।"

मां भी बोलीं, "हां, बेटा, कांजिलाल की थोड़ी दवा खाने से ही अच्छी हो जाऊंगी।"

यह सुनकर शरत् महाराज प्रफुल्लित हो उठे। यह मानो 'इच्छा-रोगमुक्ति' थी। और हुआ भी वैसा ही।

इस बार भी पहले की भांति डाक्टर कांजिलाल की दवाई से श्रीमां का रोग दूर हो गया। श्रीमां को बुखार से जब बहुत कष्ट हो रहा था, उस समय राधू उनकी परवाह न कर ससुराल चली गयी। इस घटना-प्रसंग में श्रीमां ने बाद में कहा था, "देखो, जब राधू मेरी ममता छोड़कर चली गयी, तो मैंने सोचा था कि इस बार शायद मेरा शरीर न रहेगा। पर अभी भी, देखती हूं, ठाकुर का काम बाकी है।"

वास्तव में श्रीरामकृष्ण देव के कार्य के निमित्त ही सारदा देवी माया का अवलम्बन कर स्थूल शरीर में विद्यमान थीं। उनका नित्य-मुक्त, असंसारी मन तो, पिंजरे में बंधे विहंग की भांति, असीम के नीड़ में उड़ जाने के लिए प्रायः अस्थिर हो उठता था। वे कहतीं, "... जोर करके मन को खींचे रखती हूं। कहती हूं, 'ठाकुर, राधी पर मेरा मन थोड़ासा रख दो'।" अहा! श्रीरामकृष्ण देव द्वारा आदेश किये गये जीवोद्धार-रूप कर्म के लिए ऐसा कोई कष्ट

न था, जो हमारी माँ ने स्वीकार न किया हो ! 'क्षमारूपा-तपस्विनी' माँ सब सहनेवाली धरती की भाँति सब कुछ अम्लान-मुख से सहे गयीं। और केवल सहा ही नहीं, वरन् कितने ही पापी-तापियों, अकिंचन, अभागियों के सिर पर अपनी कृपा का छत्र स्वयं ही ताने रहीं। शुष्क-कण्ठ से ऊर्ध्वमुखी हुए जितने भी नर-नारी थे, सबको अमृतवारि पान कराया। उन लोगों के प्राण शीतल हो गये, हृदय निर्मल हो गया।

एक बार माँ कलकत्ते से जयरामवाटी आ रही थीं। विष्णुपुर से वे बैलगाड़ी में बैठीं। राधू के मिजाज ठिकाने पर नहीं रहते थे। कोतलपुर के पास गाड़ी के पहुँचते ही वह पैर से श्रीमाँ को ठेलती-ठेलती कहने लगी, "तू हट जा, तू हट जा, गाड़ी से उतर जा।" श्रीमाँ अपने को यथासम्भव संकुचित करके गाड़ी के पीछे सरकती-सरकती बोलीं, "मैं यदि चली जाऊँ, तो तुझे लेकर फिर कौन तपस्या करेगा !" सत्य ही तो है ! उस दिव्या, असीमा, अप्रमेया जननी का, नर-तनु धारण कर, इतना दुःख-कष्ट भोगना तपस्या छोड़ और क्या है ?

और भी एक बार राधू ने श्रीमाँ को लात मारी थी। उससे बड़ी व्यग्र और आशंकित हो माँ ने कहा था, "यह क्या किया, यह तूने क्या किया, राधी ?" और ऐसा कहकर उन्होंने अपने पैर की धूल राधू के सिर पर लगायी थी !

और, राधू क्या ऐसी अकेली थी ! श्रीमाँ के सारे सगे-सम्बन्धी मानो योगमाया के दल के थे ! जयरामवाटी में आत्मीयों के अत्याचारों से तंग आकर सर्वंसहा श्रीमाँ ने भी एक दिन कहा था, "देखो, तुम लोग मुझे ज्यादा न जलाओ। इसके भीतर जो हैं, वे यदि एक बार रुष्ट होकर फुफकार उठें, तो फिर ब्रह्मा, विष्णु, महेश किसी की भी सामर्थ्य नहीं कि तुम्हारी रक्षा कर सके !"

पर श्रीमाँ ने किसी के भी प्रति क्रोध नहीं दिखाया। क्रोधित होने से क्या उसकी रक्षा हो सकती थी — वह जल-भुनकर भस्म न हो जाता! उन्होंने तो केवल शान्ति-वारि ही छिड़का था।

इस समय की घटनाओं से लगता है कि श्रीमाँ का मन राधू से मानो धीरे-धीरे हटता जा रहा था। बाद में हम यही देखेंगे।

* * * *

श्रीमाँ के शरीर में धीरे-धीरे थोड़ा बल आते देख सभी हर्षित हुए। एक दिन अनुकूल समय देखकर शरत् महाराज ने माँ से कहा, "माँ, अबकी बार तो आपको छोड़कर मैं नहीं जाने का। हम लोग आपको साथ में कलकत्ता ले जायेंगे।"

यह सुनकर माँ ने भी कोई आपत्ति नहीं की, कहा, "पर, बेटा, एक बार जयरामबाटी जाकर यात्रा बदल आनी होगी।"

अतः २९ अप्रैल, १९१८ ई. को श्रीमाँ शरत् महाराज आदि के साथ जयरामबाटी आयीं। श्रीमाँ के आने का समाचार पाकर गाँव की स्त्रियाँ उन्हें देखने आयीं और उनका स्वास्थ्य देखकर दुःख प्रकट करने लगीं। इस पर माँ बोलीं, "हाँ, बीमारी से बहुत भुगती। शरत्, कांजिलाल — ये सब आ गये। माता सिंहवाहिनी की कृपा से इस बार बच गयी। शरत् कलकत्ता जाने को कह रहा है। सो, अगर तुम सबकी राय हो, तो वहाँ जाकर जरा स्वस्थ हो आऊँ।"

सभी ने आनन्दपूर्वक सम्मति प्रकट की। सात-आठ दिन जयराम-बाटी में रहकर श्रीमाँ का कलकत्ता जाना स्थिर हुआ। पहले राधू भी माँ के साथ जाती थी। इस बार राधू उन्हें छोड़कर ससुराल चली गयी थी। श्रीमाँ ने उसके पास खबर भेजी। उसने उत्तर दिया कि वह माँ के साथ नहीं जायगी। तो भी मानो अपना कर्तव्य समझकर श्रीमाँ ने राधू को देखने के लिए उसके ससुराल से उसे बुलवाया। राधू आयी। उसके पालकी से उतरते ही श्रीमाँ ने ठीक पहले की ही

भाँति "आ बेटी, राधू" कहकर हाथ बढ़ाकर उसे छाती से लगा लिया। फिर उसी प्रकार निःस्पृह भाव से, कलकत्ता रवाना होने के पूर्व, उसे उसके ससुराल भिजवा दिया। विदा के समय राधू ने रोते हुए श्रीमाँ के चरणों में प्रणाम किया। श्रीमाँ ने भी उसे और लोगों की तरह आशीर्वाद देकर विदा किया। मानो कोई आया था और अब चला गया — माँ का कुछ ऐसा ही भाव था। सेवकगण माँ की यह उदासीनता देखकर विस्मित हो गये।

श्रीमाँ कलकत्ता जाने के लिए तैयार हुईं। घर से निकलते समय उनकी चाची ने कहा, "सारदा, फिर आना।"

श्रीमाँ आन्तरिकता के स्वर से बोलीं, "क्यों नहीं, अवश्य आऊँगी।"

फिर माँ घर की जमीन को छू-छूकर वारम्वार प्रणाम करने लगीं — "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।"

स्वामी सारदानन्द के साथ श्रीमाँ बंगाब्द १३२५ के २४वें वैशाख (७ मई, १९१८ ई.) को कलकत्ता आयीं।

१५

'जित देखौं तित श्याममयी है' — राधिका श्रीकृष्ण को ही सर्वत्र देख रही थीं। एक अन्य गोपिका ने उनसे कहा, "सखी, तुमने आँखों में कृष्णांजन लगाया है, इसी लिए सब कुछ कृष्णमय देख रही हो।"

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' — यह ब्रह्मज्ञान की चरम अनुभूति की बात है। श्रीसारदा देवी के जीवन में हम देखते हैं, वे श्रीरामकृष्ण देव को सर्व भूतों में देखती थीं। उन्हें चराचर विश्व में वही चैतन्यघन 'रामकृष्ण-रूप' दिखता था।

एक दिन की बात है। एक बड़ा चींटा धरती पर चल रहा था। राधू उसे मारने गयी। श्रीमाँ झटपट राधू को रोककर खड़ी हो गयीं और कहा, "खबरदार, उसे मत मारना!"

श्रीमाँ ने बाद में कहा था, "मैंने देखा, वह चींटा नहीं है, ठाकुर ही चले जा रहे हैं। वे ही ठाकुर — उसी साकार रूप में! वही हाथ-पैर थे, वही मुख, वही आँख — सब कुछ वही था।"

उस समय वे विह्वल होकर सोचने लगीं — अहा, सब प्राणियों के रूप में वे ही विराजमान हैं। फिर उन्हीं ने सबकी देख-भाल का भार दिया है! सबकी देख-भाल करना तो उन्हीं की सेवा है!

श्रीमाँ को यह दर्शन जयरामवाटी में हुआ था। विशेषकर तब से जीव-सेवा, जीव-त्राण ने उनकी पूरी सत्ता को मानो छा-सा लिया था। वे श्रीरामकृष्ण-रूप जीवों की सेवा में डूब गयीं। जिसे जहाँ पर पीड़ा होती, उसके वहीं पर वे शान्ति का लेप लगा देतीं। रोग से दुःखी को

रोग-मुक्त कर देतीं, भय से पीड़ित को निर्भय कर देतीं, जले-हृदय में अमृत-वारि सींच देतीं, शुष्क कण्ठ में अमृत-रस ढाल देतीं।

मलेरिया से भुगत-भुगतकर श्रीमाँ का शरीर जीर्ण-शीर्ण हो गया था। वे इतनी कमजोर हो गयी थीं कि भक्तों को दर्शन आदि देना भी वन्द था। ऐसे समय वम्बई से एक पारसी युवक श्रीमाँ के दर्शनार्थ आया। दर्शन तो वन्द था। तो भी स्वामी सारदानन्दजी ने विशेष कारणवश उसके दर्शन की व्यवस्था कर दी।

युवक ने श्रीमाँ को प्रणाम कर प्रार्थना की, "माईजी, कुछ मूलमन्त्र दीजिए, जिससे खुदा पहचाना जाय।"

प्रार्थना सुनकर माँ को दया आ गयी। सेवक से पूछने लगीं, "दे दूँ? दे ही देती हूँ।"

सेवक ने विस्मित होकर कहा, "यह क्या! किसी को दर्शन तक नहीं करने दिया जाता, अभी तो वीमारी से उठी हो; शरत् महाराज सुनने पर क्या कहेंगे! अभी नहीं, इसका वाद में होगा।"

श्रीमाँ ने मानो कुछ खिन्न-मन से कहा, "अच्छा, तुम शरत् से पूछ आओ।"

सेवक तुरन्त शरत् महाराज से पूछने गये। उन्होंने सव सुनकर कहा, "मैं इस पर क्या कहूँगा? यदि माँ की एक पारसी-सन्तान वनाने की इच्छा हुई हो, तो वनायें। कहकर अव क्या होगा?"

सेवक ने वापस आकर देखा कि माँ इस वीच ही दीक्षा देने के लिए स्वयं दो आसन विछाकर, गंगाजल लेकर तैयार हुई वैठी हैं।

दीक्षा देने के वाद माँ सेवक से कहने लगीं, "लड़का वहुत अच्छा है। जो कुछ मैंने वतलाया, उसने सव ठीक-ठीक समझ लिया।"

दूर-दूरान्तर से किसी अज्ञात आकर्षण से खिचकर नर-नारी श्रीमाँ के पास व्याकुल होकर दौड़े आते थे। श्रीमाँ कहतीं, "इन सवको ठाकुर ही भेज रहे हैं।"

युगावतार के आगमन के साथ मुक्ति-युग आ गया है। लाखों लोगों को कैवल्य-मुक्ति प्राप्त होगी। इसी भाव को मानो दुहराते हुए श्रीमाँ ने एक समय कहा था, "देखते नहीं, इस समय तारकब्रह्म-नाम की लूट है। आन्तरिक होने पर अन्त में यहीं (ठाकुर के आश्रय में) आना पड़ेगा।... जिसमें थोड़ासा भी सार है, वह भी वंचित न रहेगा।"

सन् १९०६ ई. की बात है। श्रीमाँ उस समय जयरामवाटी में थीं। एक ब्रह्मचारी-शिष्य श्रीमाँ के दर्शनार्थ उपस्थित हुए। एक दिन वे ब्रह्मचारी से कहने लगीं, "देखो, (दक्षिणेश्वर में) ठाकुर को प्रायः ही समाधि होती थी। एक दिन बहुत समय बाद समाधि उतरने पर वे बोले, 'देखो, मैं एक देश में चला गया था। वहाँ के सब लोग सफेद-सफेद थे। अहा, उनकी कैसी भक्ति देखी मैंने!' तब क्या मैं समझ पायी थी कि ओली बुल आदि सब भक्त होंगे? (मिसेज ओली बुल स्वामी विवेकानन्द की पाश्चात्य शिष्या थीं।) मैं तो कुछ सोच ही न सकी कि ये सफेद-सफेद आदमी कैसे?"

श्रीरामकृष्ण देव के उस दर्शन को श्रीमाँ भूली नहीं थीं। वे जानती थीं कि ठाकुर ही देश-देशान्तरों से भक्तों को आकर्षित कर मुक्ति देने के लिए उनके पास ले आ रहे हैं।

एक दिन की बात है। शाम के चार बजे थे। श्रीरामकृष्ण देव का अपराह्न का भोग दिया जा चुका था। ऐसे समय सेवक ने आकर श्रीमाँ से कहा, "एक मेम तुम्हारे दर्शन करने आयी हैं। नीचे बैठी हुई हैं।"

श्रीमाँ की अनुमति पाकर सेवक मेम को ऊपर ले आये। मेम के प्रणाम करते ही माँ ने "आओ" कहकर उसका हाथ पकड़ लिया, मानो उससे हाथ मिला रही हों। फिर उसके मुख को छूकर चुम्बन लिया।

मेम बंगाली जानती थी; कहा, "मैंने आकर आपको कोई कष्ट तो नहीं दिया ?...मैं बड़ी विपत्ति में हूँ। मेरे एक लड़की है, बड़ी अच्छी लड़की है, वह बहुत बीमार है। इसी लिए, माँ, मैं आपके पास करुणा की भीख माँगने आयी हूँ। आप दया करें, जिससे लड़की अच्छी हो जाय। वह इतनी अच्छी लड़की है, माँ! अच्छी इसलिए कह रही हूँ कि हम लोगों में अच्छी स्त्रियाँ अधिकतर नहीं रहतीं। अधिकांश बड़ी कुटिल और दुष्टप्रकृति होती हैं — यह मैं आपसे सच कह रही हूँ। यह लड़की वैसी नहीं है — आप उस पर कृपा करें।"

श्रीमाँ ने बहुत आश्वासन देते हुए कहा, "मैं तुम्हारी लड़की के लिए प्रार्थना करूँगी — वह अच्छी हो जायगी।"

विह्वल-मेम के प्राणों से आवेग का निर्झर फूट पड़ा — "तब तो अब कोई चिन्ता नहीं रही। आप जब कह रही हैं कि वह अच्छी हो जायगी, तो वह अच्छी होगी ही — अवश्य, अवश्य, अवश्य।"

श्रीमाँ को बड़ी दया आ गयी। वे हाथ में श्रीठाकुर का प्रसादी फूल और बेलपत्र लेकर कुछ क्षण आँखें बन्द करके रहीं; फिर ठाकुर की ओर अपलक नेत्रों से देखकर, वह बेलपत्र मेम के हाथों में देते हुए कहा, "अपनी लड़की के सिर पर इसे फेर देना।"

मेम ने हाथ जोड़कर वह प्रसादी निर्माल्य ग्रहण किया और प्रणाम करके माँ से पूछा, "उसके बाद इसका क्या करूँगी ?"

एक महिला-भक्त ने कहा, "और क्या करोगी ? सूख जाने पर गंगा में छोड़ देना।"

मेम ने श्रद्धापूर्वक कहा, "नहीं, नहीं; भगवान की इस चीज को फेंक दूँगी ! नये कपड़े की एक थैली बनाकर उसमें रख दूँगी। उस थैली को रोज लड़की के सिर और शरीर पर फेरा करूँगी।"

यह सुन माँ ने प्रसन्न होकर कहा, "हाँ, वही करो।"

विदा लेते समय मेम की आँखों से टप-टप आँसू गिरने लगे।

वह बोली, " आपका बहुतसा समय मैंने खराब किया, क्षमा करेंगी।"

श्रीमां ने प्रसन्न-मुख से कहा, " नहीं, नहीं, तुमसे बातचीत करके मुझे बड़ा आनन्द हुआ, तुम किसी मंगलवार को आओ।"

मेम मंगलवार को आयी थी। उस पर श्रीमां की विशेष कृपा थी। उन्होंने उसे दीक्षा भी दी थी। श्रीमां का उस पर बड़ा स्नेह था। मां के आशीर्वाद से उसकी लड़की ने आरोग्य-लाभ किया था।

स्त्री-भक्त ब्रजेश्वरी देवी बहुत दिनों से कठिन हिस्टीरिया रोग से भुगत रही थीं। नाना प्रकार की चिकित्सा करायी गयी, देवी-देवताओं की शान्ति के लिए भी बहुत कुछ किया गया, पर किसी से कुछ लाभ न हुआ। उनमें जीवन के प्रति एक अरुचि-सी आ गयी। बहुत ही हताश हो वे एक समय श्रीमां से दीक्षा की भिक्षा मांगने जयरामबाटी गयीं। हिस्टीरिया से मुक्त होने के लिए उन्होंने हाथों में चांदी के तार पहन रखे थे। यह देखकर पगली मामी ने उनसे तार पहनने का कारण पूछा। श्रीमां के कानों में यह बात पहुँचते ही वे पगली मामी को कुछ धमकाती हुई बोलीं, " ये सब बातें लोगों से क्यों पूछना ? किसी बीमारी के लिए पहन रखा होगा।" फिर उन्होंने उन स्त्री-भक्त की ओर करुणा-भरे नेत्रों से देखकर कहा, " तुम्हें अब यह तार पहनने की जरूरत न होगी, बेटी, रोग यों ही दूर हो जायगा।"

उसी दिन से ब्रजेश्वरी देवी का हिस्टीरिया दूर हो गया। श्रीमां की कृपा से भव-रोग तो दूर हुआ ही, साथ ही दैहिक रोग से भी मुक्ति प्राप्त हो गयी।

* * * *

१३ श्रावण, बंगाब्द १३२५ को स्वामी प्रेमानन्दजी ने देह छोड़ दी। यह समाचार पाते ही श्रीमां सन्तानहारा जननी की भांति व्याकुल होकर फूट-फूटकर रोने लगीं। वह भी कैसा हृदय-विदारक रुदन था!

रात में एक स्त्री-भक्त श्रीमां के दर्शनार्थ आयी। उसके प्रणाम

कर खड़ी होते ही श्रीमाँ नें कहा, "आयी हो, वेटी, वैठो। आज मेरा वाबूराम चला गया। सवेरे से ही आँसू नहीं थम रहे हैं"—और यह कहकर रोने लगीं। "वावूराम मेरे प्राणों का प्यारा था। मठ की शक्ति, भक्ति, युक्ति सव मेरे वावूराम का रूप धरकर गंगातीर को उजाला करते हुए घूमती थी!"

थोड़ी देर वाद वीच के कमरे के दक्षिण ओर की दीवाल पर श्रीरामकृष्ण देव के वड़े चित्र के नीचे सिर रखकर श्रीमाँ करुण-स्वर से कहने लगीं, "ठाकुर, ले लिया!"—वह क्या ही मर्मभेदी स्वर था! जिसने सुना, वही रो पड़ा।

सन्तान-वियोग की मार्मिक वेदना विभिन्न प्रकार से प्रकट होने लगी। दूसरे दिन भी देखा गया, माँ वावूराम महाराज की चर्चा करती हैं और रोती हैं। किसी महिला-भक्त से उन्होंने कहा, "देखो वेटी, वावूराम की देह में और कुछ नहीं था—हड्डी भर रह गयी थी।" इसी समय चन्द्रवावू ने आकर वावूराम महाराज के अन्तिम संस्कार का विवरण सुनाया। वह एक महान् सात्त्विक अनुष्ठान हुआ था। वेलुड़-मठ के प्रांगण में, पुण्य-सलिला गंगा के तीर पर, भक्तों द्वारा दिये गये प्रचुर चन्दन-काष्ठ, घी, धूप, गुग्गुल से प्रज्वलित की गयी पवित्र होमाग्नि में संन्यासियों ने स्वामी प्रेमानन्दजी की भगवद्-विलासी पूत देह को गंगा में नहलाकर, नये गैरिक वस्त्र और पुष्प-माला आदि से सुसज्जित कर, उसकी आहुति दे दी। साधु-भक्तों के मुख से "हरि ॐ, राम राम" की ध्वनि निकल रही थी; कोई वेद-मन्त्रों का उच्चारण और कोई भगवद्-गुणगान कर रहे थे।

स्वामी प्रेमानन्दजी की अन्त्येष्टि-क्रिया के लिए भक्तों ने चार-पाँच सौ रुपये का चन्दन-काष्ठ आदि दिया था। यह सुनकर श्रीमाँ ने कहा, "अहा, उन लोगों ने अपना धन सार्थक कर लिया। ठाकुर के भक्त के लिए जो दिया है! भगवान ने उन लोगों को दिया है, और भी देंगे।"

कुछ क्षण बाद माँ पुनः कहने लगीं, "सुनो बेटी, चाहे जितना भी बड़ा महापुरुष हो, देह-धारण करने पर देह के सब भोगों को लेना ही पड़ता है। पर अन्तर यही है कि साधारण लोग रोते-रोते जाते हैं और ये लोग हँसते-हँसते—मानो मृत्यु एक खेल हो !"

श्रीमाँ अपनी संन्यासी-सन्तानों को उनके पहले के नाम से ही पुकारती थीं, जैसे, नरेन, राखाल, योगीन, बाबूराम, तारक, शरत् आदि-आदि। इधर श्रीरामकृष्ण देव और श्रीमाँ ने ही उन लोगों को संसार-त्यागी संन्यासी बनाया था। बाद में भी माँ ने अपनी अनेक सन्तानों को संन्यास-धर्म में दीक्षित किया था। पर वे किसी को उसके संन्यास-नाम से नहीं पुकारती थीं। एक संन्यासी बहुत सोचकर भी इसका कोई कारण न पा, एक दिन श्रीमाँ से पूछ बैठे, "आप मठ के संन्यासियों को उनके संन्यास-नाम से क्यों नहीं पुकारती हैं ?"

प्रश्न सुनकर श्रीमाँ का मुखमण्डल करुणा से भर उठा। कुछ मौन रहकर उन्होंने उत्तर दिया, "मैं माँ हूँ न; इसलिए संन्यास-नाम लेकर पुकारने से हृदय में धक्का लगता है।"

इन थोड़े से शब्दों में श्रीमाँ के जीवन के देवी-मानवी भावों का अपूर्व सम्मिश्रण प्रस्फुटित हो उठा।

स्वामी योगानन्द के देह-त्याग के शोक से श्रीमाँ कितनी जीर्ण-शीर्ण हो गयी थीं—इसका उल्लेख हमने अन्यत्र किया है। स्वामी प्रेमानन्द के देह-त्याग से श्रीमाँ की मार्मिक वेदना, उमड़ता हुआ शोका-वेग और अविराम अश्रु-सिंचन देख मन में एक प्रश्न उठता है—इन लोगों के साथ श्रीमाँ का क्या सम्बन्ध था ? गुरु, गुरुपत्नी और शिष्य के सिवा क्या इन लोगों में और भी कोई गहरा सम्बन्ध था ?

श्रीमाँ ने एक समय कहा था, "जो जिसका, सो उसका, युग-युग में अवतरता।"

श्रीरामकृष्ण और श्रीसारदा देवी धरा का भार हरने के लिए

युग-युग में अवतीर्ण होते हैं और विवेकानन्द, योगानन्द, प्रेमानन्द आदि—अवतार के संगीगण—उनके साथ अन्तरंग पार्षद-रूप से आते हैं। यह सम्बन्ध ईश्वरीय सम्बन्ध है, चिरन्तन सम्बन्ध है, अवतार-लीला की पुष्टि का सम्बन्ध है।

दक्षिणेश्वर में नरेन (स्वामी विवेकानन्द) के न आने से श्रीरामकृष्ण आकुल होकर रोते थे। अन्यान्य अन्तरंग पार्षदों को देखने के लिए भी वे बहुत व्याकुल हो उठते थे। इस सम्बन्ध में एक दिन श्रीमाँ ने कहा था, "यह देखकर हाजरा ने एक दिन ठाकुर से कहा था, 'आप नरेन आदि के लिए इतना क्यों सोचते हैं? ... आप भगवान के चिन्तन में मन को लगावें। आपमें इतना माया-मोह क्यों?' ठाकुर ने हाजरा की बात मानकर, सारी माया काटकर भगवान में मन को लीन किया। वे समाविस्थ हो गये। दाढ़ी और सिर के केश इस तरह (दिखाकर) सीधे होकर काँटे के समान खड़े हो गये—कदम्ब-फूल की तरह। एक बार सोचो तो, वे कैसे पुरुष थे! वे इस अवस्था में एक घण्टा तक रहे। तब रामलाल उनके कानों में विभिन्न देवी-देवताओं के नाम सुनाने लगा। नाम सुनाते-सुनाते तब कहीं उनमें चेतना लौटी। समाधि उतरने पर उन्होंने रामलाल से कहा, 'देखा तूने, ईश्वर के भाव में रहने से यही अवस्था होती है। इसी लिए नरेन आदि को लेकर मन को नीचे थामे रखता हूँ।' रामलाल ने कहा, 'नहीं, आप अपने भाव से ही रहें।' दया के वश हो वे मन को नीचे उतारे रखते थे।

"योगीन (स्वामी योगानन्द) ने जब देह छोड़ी, उसने निर्वाण की कामना की। गिरिशबाबू ने कहा, 'देख योगीन, निर्वाण मत ले। ... ठाकुर जैसे थे, ठीक वैसा ही चिन्तन करते-करते उनके पास चले जा'।"

एक दिन एक संन्यासी ने श्रीमाँ से पूछा, "माँ, ठाकुर ने अनेकों को अपना जन कहा है, इसका क्या तात्पर्य है?"

श्रीमाँ--"ठाकुर कहते थे, 'उनमें से कोई शरीर से, कोई रोम-कूप से, तो कोई हाथ-पैर से निकला है। वे सब मेरे संगी-साथी हैं।'...जो अपने हैं, वे युग-युग के संगी हैं। ठाकुर कहते, 'जो लोग अन्तरंग हैं, वे व्यथा में व्यथित हैं।' इन सब लड़कों को दिखाकर कहते, 'ये लोग मेरे सुख में सुखी, दुःख में दुःखी और व्यथा में व्यथित होते हैं।' जब वे आते हैं, तब सभी साथ आ जाते हैं। नरेन को वे सप्तर्षि से ले आये थे--वह भी पूरा नहीं आया था।..."

श्रीरामकृष्ण देव ने अपने सम्बन्ध में संकेत किया था, "जो राम थे, जो कृष्ण थे, वे ही अब (अपने शरीर को दिखाकर) इस शरीर में आये हैं।" विभिन्न समयों में, विभिन्न देशों में एक ही शक्ति का नये-नये नाम-रूपों से अवतार होता है। फिर, पूर्ण-अवतार, अंश या कला अवतार भी हैं। शक्ति-प्रकाश के तारतम्य और प्रयोजन के अनुसार कोई अवतार सारे जगत् के लिए आते हैं, और कोई देश, जाति, सम्प्रदाय या स्थानविशेष के लिए।

श्रीरामकृष्ण और सारदा देवी युग्म-अवतार हैं। शिव-शक्ति का एकत्र समावेश और आगमन हुआ है। वे किसी देश, जाति या धर्मविशेष के लिए नहीं आये। वे आये थे विश्व-मानवता के लिए, सनातन विश्व-धर्म के लिए। 'जितने मत, उतने पथ'--यह विश्व-धर्म का शाश्वत रूप है।

वे एक ऐसा आदर्श सामने रख गये हैं, एक ऐसा सर्वांगसुन्दर और परिपूर्ण जीवन बिता गये हैं, जो न केवल धर्म-जीवन की प्राप्ति के लिए आदर्शस्वरूप है, बल्कि जिसमें प्रत्येक स्तर का मनुष्य अपने सर्वोच्च आदर्श और आकांक्षा का पूर्णतम विकास व सार्थकता पायगा। इतना ही नहीं, वरन् उनके इस युग्म-जीवन में समस्त देशों के मानव अपने-अपने जीवन को सर्वोत्तम रूप से गढ़ने के लिए सभी आवश्यक उपादान प्राप्त करेंगे।

यहाँ न विश्वास का प्रयोजन है, न ग्रहण करने का प्रश्न। हम

पृथ्वी के दूर-दूर के देशों के प्रत्येक नर-नारी का सम्मानपूर्वक हार्दिक आह्वान करते हैं — वे स्वाधीन चिन्तन और विवेक के अन्वेषक प्रकाश की सहायता से अपनी-अपनी वेधशाला में इस युग्म-जीवन का पर्यवेक्षण करें, उन्हें व्यक्तिगत, समाजगत, जातिगत और अन्तर्जातीय सभी समस्याओं का सुन्दर समाधान प्राप्त होगा।

श्रीसारदा देवी निर्मल पवित्रता, 'तृणादपि सुनीचेन' विनय, सीमाहीन मातृ-स्नेह, सर्वंसहा धरती की सहिष्णुता, मूर्तिमती सेवा और करुणा के रूप से, और सर्वोपरि, उमड़ती ईश्वर-परायणता लेकर इस सीता-सावित्री के देश में अवतीर्ण हुई थीं। ये देवी सारा जीवन मानवी का महोत्तम आदर्श दिखा गयीं। इस आदर्श को सामने रखने का इस युग में विशेष प्रयोजन था।

आज सारे संसार में सर्वत्र साम्य, मैत्री और स्वाधीनता लाभ की जो चेष्टा उद्दाम गति से चल रही है, उसकी सामंजस्य-पूर्ण सफलता को व्यक्तिगत, समाजगत और जातिगत जीवन के सुषमा-मण्डित कल्याण के लिए किस प्रकार रूपान्तरित करने से वह संसार के लिए शुभ होगा, इस सम्बन्ध में एक स्पष्ट संकेत हम श्रीरामकृष्ण और श्रीसारदा देवी के मिलन में देख पाते हैं। पूर्ण व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के रहते हुए भी गार्हस्थ्य-जीवन में पुरुष और स्त्री एक दूसरे के पूरक हैं; और इसी प्रकार के मर्यादा-सापेक्ष मिलन के फलस्वरूप ही शान्ति-पूर्ण और फलप्रद गार्हस्थ्य-जीवन विकसित होगा, जहाँ रहेगी सुन्दर सृष्टि, सार्थक स्थिति और परिपूर्ण पालन।

* * * *

श्रीमाँ बहुधा किसी को उपदेश नहीं देती थीं। कोई यदि हठ करने लगता, तो श्रीरामकृष्ण देव को दिखाकर कहतीं, "मैं और क्या उपदेश दूँगी। ठाकुर की बातों की धारणा करके यदि चल सको, तो सब हो जायगा।"

इस उपदेश न देने के कारण के सम्बन्ध में एक दिन बातें करते-करते श्रीमाँ ने कहा था, "उपदेश लेने लायक आधार कहाँ है? आधार चाहिए, बेटी, नहीं तो कुछ नहीं होता।" उनके उपदेश शास्त्र-श्लोकों की आवृत्ति नहीं थे, केवल मुख की वाणी भी न थे! तो भी घटना-क्रम से जो सब प्रेरणा-भरे वाक्य उनके श्रीमुख से निःसृत हुए हैं, वे हताश प्राणों में आशा का मलय-स्पर्श ला देते हैं, अज्ञान-अन्धकार में ज्ञान की ज्योति जला देते हैं।

एक दिन श्रीमाँ ने साधन-भजन के सम्बन्ध में कहा था, "साधना करते-करते देखोगी, जो मेरे भीतर हैं, वे तुम्हारे भी भीतर हैं, डोम-चाण्डाल-चमार आदि में भी वे ही हैं। तभी तो मन में दीनता का भाव आयगा। . . . मन एक उन्मत्त हाथी है, बेटी। हवा की चाल से चलता है। इसी लिए सत्-असत् विचार करके सब देखना पड़ता है, और भगवान के लिए मन को खूब लगाना पड़ता है। उस समय, दक्षिणेश्वर में, मेरा मन ऐसा था कि रात में किसी का बंसी बजाना सुनकर वह व्याकुल हो उठता था; ऐसा लगता था मानो साक्षात् भगवान बंसी बजा रहे हैं — त्योंही समाधि लग जाती थी।"

एक संन्यासी-शिष्य वासना से मुक्ति और महामाया की कृपा पाने के लिए श्रीमाँ से प्रार्थना करने लगे। वे जितना ही कहने लगे कि वासना ही बन्धन का कारण है, श्रीमाँ उतनी ही मानो अनमनी-सी होने लगीं। अन्त में उदासीनवत् बोलीं, "सच तो है, वासना से ही सब कुछ होता है। वासना न रहे तो किसका क्या? यह जो मैं इन सबको लेकर हूँ, कहाँ, मेरी तो कोई वासना नहीं होती — कुछ भी नहीं।"

संन्यासी स्तम्भित हो श्रीमाँ के मुख की ओर ताकने लगे। मुहूर्त-भर में संन्यासी का हृदय आलोकित हो गया। इन महामाया की थोड़ीसी कृपा से ही जीव मृत्युंजय हो जाता है। ये ही तो मुक्तिदात्री,

भयहारिणी हैं। इसी लिए संन्यासी ने कहा, "तुम्हें भला कैसी वासना, माँ! हमारे भीतर कितने प्रकार की वासनाएँ उठती रहती हैं, यह सब कैसे जायगा ?"

अभया माँ ने कहा, "वह कुछ नहीं है। तुम लोगों में जो उठती है, उसे वासना नहीं कहा जा सकता।"

फिर धीर भाव से सार बात कहने लगीं, "जब तक 'मैं' है, तब तक वासना तो रहेगी ही।... वे (ठाकुर) तुम लोगों की रक्षा करेंगे। जो उनकी शरण में आया है, जिसने सब कुछ छोड़कर उनका आश्रय लिया है, जो अच्छा होना चाहता है, उसकी यदि वे रक्षा न करें, तो यह तो उन्हीं का महापाप है।..."

यदि भगवान शरणागत की रक्षा न करें, तो यह उन्हीं का महापाप होगा ! कैसा कठोर सत्य कहा माँ-भवानी ने ! उन्होंने अनन्य-शरणागति की ओर संकेत किया। सब शास्त्रों की अन्तिम बात है — हे जीव, 'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन'। उन्हीं के प्रसाद से परम शान्ति पाओगे।

एक दिन स्वामी योगानन्द के देह-त्याग के प्रसंग में श्रीमाँ ने कहा था, "योगीन जिस समय देह छोड़ रहा था, उसने कहा, 'माँ, मुझे लेने ब्रह्मा, विष्णु, शिव और ठाकुर आये थे।'... योगीन को (ठाकुर) अर्जुन कहते थे।... शरत् और योगीन ये दोनों मेरे अन्तरंग हैं।"

कुछ पश्चात् उसी प्रसंग का जिक्र करके अपने सम्बन्ध में कहने लगीं, "बलरामबाबू मुझे 'क्षमारूपा तपस्विनी' कहते थे।... जिसमें दया नहीं, वह क्या मनुष्य है ? वह तो पशु है। मैं कभी-कभी दया से अपने को भूल जाती हूँ।"

एक संन्यासी-सेवक से श्रीमाँ ने कहा, "साधन-भजन, योग-याग, जप-पुरश्चरण जो कुछ क्यों न करो, पर जब तक वे अपने को प्रकट

नहीं करते, तब तक जीव किसी प्रकार उनके दर्शन नहीं पा सकता। कृष्ण-सखा अर्जुन भी दिव्य-चक्षु पाने से पहले श्रीभगवान के सच्चे स्वरूप के दर्शन नहीं कर सके थे। भगवान को भला कौन बाँध सका है, बताओ? वे स्वयं पकड़ में आ गये थे, तभी तो यशोदा उन्हें बाँध सकी थी, गोप-गोपियों ने उन्हें पाया था।

"वासना के रहते जीव का आवागमन बन्द नहीं होता, वासना के कारण ही एक देह से दूसरी देह की प्राप्ति होती है।... वासना छोटे बीज के समान है — जैसे इतने छोटे वट-बीज से समय आने पर बहुत बड़ा वृक्ष हो जाता है, वैसे ही। वासना रहने से पुनर्जन्म होगा ही।... तो भी, पूर्वजन्म के यदि अच्छे कर्म रहें, तो वासना से दूसरी देह प्राप्त होने पर भी चैतन्य का बिलकुल लोप नहीं होता।"

संन्यासी-सन्तान ने पूछा, "क्या चित्र में ठाकुर हैं?"

श्रीमाँ — "क्या नहीं हैं? छाया-काया समान हैं। चित्र तो उनकी छाया है।"

संन्यासी — "वे क्या सभी चित्रों में हैं?"

श्रीमाँ — "हाँ, पुकारते-पुकारते चित्र में उनका आविर्भाव होता है। उनकी पूजा का स्थान एक 'पीठ' बन जाता है। जैसे, इस जगह ('उद्बोधन' के पास के मैदान को दिखाकर) में, मान लो, किसी ने उनकी पूजा की। तो यह उनका एक स्थान बन जायगा।... उस स्थान पर उनकी दृष्टि रहेगी।"

संन्यासी — "अच्छा, ठाकुर को जो सब नैवेद्य देती हो, वह क्या ठाकुर खाते हैं?"

श्रीमाँ — "हाँ, खाते हैं।"

संन्यासी — "कहाँ, कोई चिह्न तो नहीं देखता?"

श्रीमाँ — "उनकी आँखों से एक ज्योति निकलकर सब चीजों

को ग्रहण करती है। उनके अमृत-स्पर्श से वह सब फिर से पूरा हो जाता है, इसी लिए कम नहीं होता।"

कुछ रुककर माँ फिर कहने लगीं, "जहाँ भक्त लोग पुकारते हैं, वहाँ भगवान वैकुण्ठ से उतर आते हैं। शरद्-पूर्णिमा के दिन लक्ष्मी वैकुण्ठ से पृथ्वी पर आती हैं। जहाँ-जहाँ उनकी नजर रहती है, वहाँ जाती हैं और पूजा ग्रहण करती हैं। मेरी सास ने कामारपुकुर में (लक्ष्मी को) देखा था — चौदह-पन्द्रह साल की लड़की के रूप में; गोरा रंग था, कानों में शंख के कुण्डल थे और हाथों में हीरे के कंगन। बकुल के नीचे (ठाकुर के घर के सामने) खड़ी हो उनके साथ उन्होंने बातचीत की थी।"

* * * *

रामेश्वर के दर्शन कर, कलकत्ते में कुछ दिन रह, जब श्रीमाँ जयरामबाटी आयीं, उस समय की बात है। एक संन्यासी-सन्तान के साथ त्याग-वैराग्य के सम्बन्ध में उनका वार्तालाप हो रहा था। श्रीमाँ कह रही थीं, "यह क्या? साधु को तो सारी माया काट डालनी चाहिए। सोने की जंजीर भी बन्धन है और लोहे की जंजीर भी बन्धन है। साधु को माया में नहीं फँसना चाहिए।"

संन्यासी — "अच्छा, जो लोग वेदान्तवादी साधु हैं, वे सब क्या निर्वाण प्राप्त करेंगे?"

श्रीमाँ — "क्यों नहीं? माया काट-काटकर अन्त में निर्वाण मिल जायगा—वह भगवान में मिल जायगा। वासना से ही तो यह देह है। यदि तनिक भी वासना न रहे, तो शरीर नहीं रहता। एकदम वासनाशून्य होने से तो सब खतम हो गया!... माया के राज्य में सर्वज्ञ होना एकमात्र ईश्वर के लिए ही सम्भव है।... उन सब ग्रह-नक्षत्रों में किसी जीव का वास नहीं है।"

श्रीमाँ 'उद्बोधन' में थीं। सेवक ने ऊपर जाकर माँ को एक

व्यक्ति के सम्बन्ध में कहते हुए सुना, "अपने स्वभाव को न छोड़ सकने के कारण जीव बन्धन में फँसा हुआ है। पर जो अपने स्वभाव को छोड़कर भगवान को भजता है, उसके चरणों में वन्दना।"

सेवक ने श्रीमाँ से इसका स्पष्टीकरण करने के लिए कहा। इस पर माँ बोलीं, "मनुष्य अपना स्वभाव नहीं छोड़ सकता। चैतन्य देव ने कहा था, 'अपने पहले के स्वभाव को छोड़कर जो मुझे भजता है, मैं उसे भजता हूँ।' स्वभाव ही तो सब कुछ है। बाकी और है क्या ? . . . इन लोगों का आजकल कैसा स्वभाव हो गया है ? थोड़ीसी बात हुई नहीं कि घर को सिर पर उठा लेते हैं। . . . बेटा, सहनशीलता एक बहुत बड़ा गुण है, इससे बढ़कर और कोई गुण नहीं है।"

एक दिन 'उद्बोधन' में श्रीमाँ बहुतसी स्त्री-भक्तों से घिरी हुई थीं। नाना प्रकार के प्रसंग चल रहे थे। गार्हस्थ्य-जीवन के बारे में उपदेश देते हुए श्रीमाँ ने अपने सम्बन्ध में संकेत करते हुए अतीत की बात कही, "वे (ठाकुर) कहते थे, 'अरे, उसका नाम सारदा है, वह सरस्वती है। इसी से वह सुसज्जित रहना चाहती है।' हृदय से कहा था, 'देख तो, तेरे सन्दूक में कितने रुपये हैं, उसे एक जोड़ा सुन्दर बाजूबन्द बनवा दे।' . . . इधर तो वे रुपया-पैसा छू तक नहीं सकते थे, पर मेरे लिए तीनसौ रुपये की लागत से एक जोड़ा बाजूबन्द बनवा दिया।"

श्रीरामकृष्ण और सारदा देवी के बीच जो ईश्वरीय सम्बन्ध था, उसे छोड़ देने पर भी उनके जीवन में हम दाम्पत्य-जीवन का जो महिमोज्ज्वल आदर्श देख पाते हैं, वह संसार में विरल ही है।

भगवद्दर्शन के लिए व्याकुल एक भक्त ने रूठने के स्वर में माँ से कहा, "माँ, केवल हमीं को ठाकुर के दर्शन नहीं मिले !"

श्रीमाँ सान्त्वना देती हुई बोलीं, "मिलेंगे, बेटा, जरूर मिलेंगे। तुम लोगों का यही आखिरी जन्म है। निवेदिता (भगिनी निवेदिता)

ने कहा था, 'माँ, हम लोग हिन्दू ही हैं, कर्म के फेर से ईसाई होकर जन्म लिया है।' उन लोगों का भी यह आखिरी जन्म है।"

सेवक — "माँ, 'आखिरी जन्म' का क्या मतलव ? ठाकुर ने भी वहुतों के लिए आखिरी जन्म कहा था, और तुम भी कह रही हो।"

श्रीमाँ — "आखिरी जन्म का मतलव है — संसार में उनका आवागमन अव और न होगा, वस इसी जन्म में सव खतम हो जायगा।"

सेवक — "उनमें से तो अनेकों में वासना का खेल दिखता है। घर-गृहस्थी है, स्त्री है, लड़के-वच्चे हैं। वासना विना मिटे आवागमन कैसे वन्द हो जायगा ?"

श्रीमाँ — "सो वे (ठाकुर) जिसको जो कुछ वता गये हैं, वह सच ही तो है। वह झूठ होने का नहीं। भले ही अभी वासना रहे, या वे लोग जो कुछ करें, पर उन्होंने (ठाकुर ने) देखा था कि वह सव अन्त में नहीं रहेगा। उन्होंने यह जान लिया था।"

सेवक — "तो क्या 'आखिरी जन्म' का मतलव निर्वाण-लाभ है ?"

श्रीमाँ — "हाँ, वही तो। हो सकता है, देह छूटने के समय मन वासनाशून्य हो जाय।"

श्रीमाँ की भतीजी नलिनी भी माँ को सताने में कुछ कम नहीं थी। उसे वड़ी शुचिता की धुन थी। पायखाना थोड़ा साफ नहीं था, इसी लिए अस्वस्थ होती हुई भी वह नहाने गंगा चली गयी थी। उसके लौटते ही श्रीमाँ ने पूछा, "नलिनी, गंगा में नहा आयी क्या ?"

एक भक्त ने कहा, "नल के पानी से नहाने से ही तो चल जाता था!"

श्रीमाँ भी वोलीं, "ठीक ही तो है, नल में नहाकर गंगाजल छू लेने से ही तो हो जाता था।"

नलिनी — "सो क्या होता है, पायखाना जो था !"

श्रीमाँ — "उससे क्या ? तूने विष्ठा तो नहीं छूई। और अगर छू भी जाती तो क्या ? . . . मैं तो देश में कितनी ही बार सूखी विष्ठा पर से चली हूँ। दो बार 'गोविन्द, गोविन्द' कहा कि बस, शुद्ध हो गयी। सब कुछ मन पर ही है — मन में ही शुद्ध है, मन में ही अशुद्ध है। . . . जिसका मन शुद्ध है, वह सब शुद्ध देखता है।"

बाद में श्रीमाँ ने गोलाप-माँ के शुद्ध मन के सम्बन्ध में कहा, "वृन्दावन में माधवजी के मन्दिर में किसी के बच्चे ने टट्टी कर दी थी। सभी लोग 'गू, गू' कहकर दूर हट जा रहे थे, पर गोलाप ने अपनी नयी मलमल की साड़ी फाड़कर उस स्थान को पोंछ डाला और इस प्रकार भगवान के मन्दिर को साफ कर दिया।" फिर गोलाप-माँ की उदारता के सम्बन्ध में कहने लगीं, "इस गंगा के घाट में यदि कहीं पर मैला रहे, तो गोलाप इधर-उधर से चिथड़े बीनकर ले आती है और उस जगह को साफ कर, लोटा-लोटा पानी डालकर धो डालती है। इससे और दस लोगों को भी सुविधा होती है। वे लोग जो शान्ति पाते हैं, उससे गोलाप का भी मंगल होगा; उनकी शान्ति से इसकी भी शान्ति होगी। . . . गोलाप का मन कितना शुद्ध है, कितना ऊँचा है ! इसी लिए उसका इतना शुचि-अशुचि-विचार नहीं है — वह शुचिता-कुचिता की उतनी परवाह नहीं करती। उसका यह आखिरी जन्म है। तुम लोगों को ऐसा मन पाने के लिए दूसरा जन्म लेना पड़ेगा। . . . साधना बिना शुद्ध वस्तु कभी नहीं मिलती। . . . बहुत साधना-तपस्या करने पर, पूर्व-जन्म की अनेक सुकृति रहने पर तब कहीं इस जन्म में मन शुद्ध होता है।"

फिर अपने सम्बन्ध में संकेत करते हुए श्रीमाँ ने कहा, "मनुष्य पहले अपने मन को दोषी बनाकर फिर दूसरे का दोष देखता है। दूसरे का दोष देखने से उस दूसरे का क्या बिगड़ता है ? — अपनी ही

हानि होती है। बचपन से ही मेरा यह अभ्यास था कि मैं किसी का दोष नहीं देख सकती थी। मेरे लिए जो इतनासा भी करता है, उसी को लेकर मैं उसे याद रखने का प्रयत्न करती हूँ। मनुष्य का दोष क्यों देखना! दूसरे का दोष देखना क्या ठीक है? मैंने वह नहीं सीखा। क्षमा ही तपस्या है।"

और इतना ही नहीं, श्रीमाँ की दृष्टि में सब कुछ सुन्दर था, सब कुछ अच्छा था।

'उद्बोधन' के सामने के मैदान में झोपड़ियाँ बाँधकर जगह-जगह के कुली-मजदूर रहते थे। एक जन के द्वारा अपनी उपपत्नी की सेवा देखकर श्रीमाँ प्रशंसा करती हुई कहने लगीं, "कैसी सेवा की है, बेटी, ऐसा तो मैंने आज तक नहीं देखा! इसी को कहते हैं सेवा, इसी को कहते हैं खिचाव!"

उपपत्नी की सेवा कोई आलोचना की बात ही नहीं है। पर श्रीमाँ ने उसमें देखा आन्तरिक स्नेह के सौरभ को। उन्होंने उसमें से सेवा के खिचाव को ले लिया।

वृन्दावन में रहते समय श्रीमाँ ने राधा-रमण के मन्दिर में कातर-भाव से प्रार्थना की थी, "हे देव, मेरी दोष-दृष्टि दूर कर दो। मैं कभी भी किसी का दोष न देखूँ।"

दक्षिणेश्वर में रहते समय, पूर्णिमा की रात को जब पूर्ण-चन्द्र अपनी निर्मल ज्योत्स्ना से गंगावक्ष को नहलाता रहता, श्रीमाँ हाथ जोड़कर प्रार्थना किया करतीं, "हे भगवन्, चाँद में भी कलंक है, मेरे हृदय को चाँद से भी निर्मल बना दो!" श्रीमाँ के निर्मल, शुद्ध मन में 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' का प्रकाश होता था।

* * * *

स्वामी प्रेमानन्द के देह-त्याग के बाद से श्रीमाँ के मन में मानो उनकी त्यागी-सन्तानों की बात ही अधिक उठने लगी। एक दिन वे

कहने लगीं, "नरेन, बाबूराम ये सब कितना कष्ट उठा गये हैं!... अहा, नरेन ने मठ में जिस साल पहली बार दुर्गा-पूजा की थी, उस समय वह मुझे मठ में ले गया था। मेरे हाथ से उसने पूजक को पचीस रुपये दक्षिणा दिलवायी थी। पूजा के दिन मठ लोगों से खचाखच भर गया था। सभी लड़के जी-तोड़ मेहनत कर रहे थे। नरेन आकर मुझसे क्या कहता है, 'माँ, मुझे बुखार ला दो।' देखते-ही-देखते उसे जोर का बुखार चढ़ आया। मैं कहने लगी, 'यह क्या हुआ, अब क्या होगा?' नरेन ने कहा, 'कोई चिन्ता नहीं है, माँ। मैंने साध करके इसलिए बुखार ले लिया कि इधर लड़के लोग तो प्राणपण से परिश्रम कर रहे हैं, और कहीं छोटी-मोटी त्रुटि देखकर मैं गुस्से में आकर डाँटने न लगूँ। तब उन्हें भी दुःख होगा और मुझे भी। इसी लिए सोचा—अभी वैसा काम ही क्या है, रहूँ न थोड़ी देर बुखार में पड़ा।' जब काम-काज पूरा हो गया, तो मैंने कहा, 'ओ नरेन, तब तो अब उठो।' वह बोला, 'हाँ माँ, यह उठ ही गया।' और ऐसा कहते ही वह पहले-जैसा स्वस्थ होकर बैठ गया।

"नरेन अपनी माता को भी पूजा के समय मठ में ले आया था। वह कहीं बैंगन तोड़ती, मिर्च तोड़ती, एक बगीचे से दूसरे बगीचे में घूम रही थी।...नरेन ने तब आकर उससे कहा, 'अरे, यह तुम क्या कर रही हो? माँ (श्रीमाँ) के पास जाकर जरा बैठो न—यह तो तुम मिर्च-बैंगन तोड़ती घूम रही हो! शायद सोच रही हो कि तुम्हारे 'नरु' ने यह सब किया है? ऐसी बात नहीं है। जो करनेवाले हैं, उन्हीं ने किया है, नरेन कुछ भी नहीं है।' तात्पर्य यह कि ठाकुर ने ही सब किया है। हाय, मेरा बाबूराम नहीं रहा, कौन अबकी पूजा (दुर्गा-पूजा) करेगा!"

१६

श्रीमाँ के कलकत्ता आने के कुछ दिन बाद ही राधू अस्वस्थ हो, ससुराल से कलकत्ते में माँ के पास आ गयी। फिर से श्रीमाँ का वही पुराना झमेला शुरू हो गया। उन्होंने भी श्रीरामकृष्ण देव का संकेत समझ लिया कि उनका काम अब भी शेष है, उन्हें और भी कुछ समय इस लीला-देह में रहना होगा।

एक दिन सन्ध्या के बाद सारे दिन की थकावट से चूर हो श्रीमाँ ने थोड़ा विश्राम करने का विचार किया। उस समय उनके पैर में गठिये के लिए तेल आदि की मालिश की जाती थी। ऐसे समय ब्रह्मचारी-सेवक ने आकर खबर दी कि एक महिला उनसे मिलने आयी है। उनसे अब मानो और कुछ न हो सकेगा, इस भाव से श्रीमाँ बोलीं, "यह और ले आया एक जन को ! आह, मैं तो मर गयी, बेटी !" यह कहकर तैयार हो बैठ गयीं। सुन्दर वस्त्राभरणों से सुसज्जित एक महिला ने आकर, श्रीमाँ के चरणों पर सिर रखकर प्रणाम किया। उसके पति मरणासन्न अवस्था में थे। डाक्टरों ने एक प्रकार से जवाब ही दे दिया था। अतः वह उनकी रोग-मुक्ति की याचना करने के लिए श्रीमाँ के पास आयी थी। अपने पति की अवस्था बताकर वह श्रीमाँ से कहने लगी, "माँ, आपको इसका कुछ उपाय कर ही देना होगा। आप कह दीजिए कि वे अच्छे हो जायँगे।"

श्रीमाँ — "मैं क्या जानूँ, बेटी ? ठाकुर ही सब कुछ हैं। वे यदि अच्छा कर दें, तभी होगा। उनके पास प्रार्थना करूँगी।"

महिला — "इसी से हो जायगा। आपकी बात को ठाकुर क्या कभी टाल सकते हैं ?"

और यह कहकर वह श्रीमाँ के चरणों पर सिर रखकर रोने लगी।

श्रीमाँ सान्त्वना देती हुई कहने लगीं, "ठाकुर को पुकारो और उनसे प्रार्थना करो कि वे तुम्हारा सुहाग बनाये रखें।"

कुछ देर बाद उस महिला ने विदा ली।

"लोगों के शोक-ताप से मेरा शरीर जल-भुन गया, बेटी!" —यह कहकर श्रीमाँ शरीर का कपड़ा सरकाकर मालिश कराने के लिए तैयार हुईं। ऐसे समय एक और महिला प्रणाम करने आ गयी। वह भी रोग-मुक्ति की प्रार्थना करने लगी। उसके चली जाने पर श्रीमाँ फिर से तेल-मालिश के लिए तैयार हो कहने लगीं, "अब कोई भी आये, मैं उठने की नहीं। पैर के दर्द के मारे बार-बार उठने में कितना कष्ट होता है, देखती हो, बेटी! उस पर आम-वात की जलन से सारी पीठ कैसी हो गयी है, देखो न! तेल थोड़ा अच्छी तरह मल दो, बेटी।"

सेविका जब मालिश कर रही थी, श्रीमाँ ने पहले आयी हुई महिला के सम्बन्ध में कहा, "ऐसी भारी विपत्ति है, ठाकुर के पास आयी है; कहाँ तो सिर ठोक-ठोककर मनौती मानकर जाती, सो तो नहीं, कैसी सज-धजकर, इतर-फुलेल लगाकर आयी थी, देखा तुमने? देवता के स्थान में क्या इस तरह आना चाहिए? यहाँ (कलकत्ता) की सब बातें विचित्र ही हैं।"

कुछ समय से, पैर के गठिया के कारण श्रीमाँ प्रतिदिन गंगा-स्नान करने नहीं जा सकती थीं। वे हर दूसरे दिन बागबाजार के राजा-घाट में गंगा-स्नान करने जाती थीं। बचपन से ही उनकी गंगा-भक्ति अनुपम थी। वे गंगा-तीर पर रहना पसन्द करतीं; कहतीं, "गंगा की हवा जहाँ तक जाती है, वहाँ तक सब कुछ पवित्र हो

जाता है।" वे जब दक्षिणेश्वर में रहती थीं, तब का तो प्रश्न ही नहीं है, कलकत्ते और बेलुड़ में रहते समय भी वे नित्य गंगा-स्नान करती ही थीं।

एक दिन की बात है। श्रीमाँ गंगा-स्नान को गयीं। साथ में गोलाप-माँ और अन्य एक स्त्री-भक्त थी। श्रीमाँ गंगा में उतरी ही थीं कि फुहार पड़ने लगी।

स्नान करके घाट पर आकर उन्होंने पण्डे को केले, आम और पैसे दिये और कहा, "फल दिया तो मैंने है, पर दान का फल तुम्हारा हो।"

पण्डा भला क्या जाने कि उसने स्वयं अन्नपूर्णा के हाथों दान पाया है! और उस पर निष्काम दान! वे ही तो चतुर्वर्ग-फलदायिनी हैं, उनकी फिर फल-कामना कैसी?

नहाने के बाद गीले कपड़े महिला-भक्त के हाथ में दे, श्रीमाँ हाथ में गंगाजल से भरा लोटा ले घर लौटीं। रास्ते के इधर-उधर के प्रत्येक वट-वृक्ष में गंगाजल ढालकर प्रणाम किया। जिस प्रकार नारायण जीव-रूप से हैं, उसी प्रकार वृक्ष के रूप से भी।

श्रीमाँ सब कुछ मानकर चलती थीं। लोकाचार, देशाचार, धर्म के सारे आचार-नियम — सभी की पूरी मर्यादा बनाये रखकर उनके व्यवहार होते थे। सबकी पूर्णता सम्पादित करने के लिए, सबके बीच दिव्य-दृष्टि खोल देने के लिए ही तो श्रीरामकृष्ण देव का आगमन हुआ था।

* * * *

एक भक्त श्रीरामकृष्ण देव के पूजन के लिए एक सुन्दर माला ले आया। श्रीमाँ अपने हाथों से श्रीरामकृष्ण के चित्र को सजाने लगीं। पगली मामी यह देखकर मुसकराने लगी और व्यंग-विनोद करती हुई स्त्री-भक्तों से बोली, "देखो, अपनी माँ का ढंग देख लो! अपने

स्वामी को आप ही सजा रही हैं !" वह यह कहती जाती थी और मुंह पर कपड़ा रखकर हँसती जाती थी।

धीरे-धीरे शारदीया दुर्गा-पूजा का समय निकट आया। स्वामी प्रेमानन्द के देह-त्याग के कारण उस वर्ष वेलुड़-मठ में महामायी की प्रतिमा की पूजा स्थगित थी। वागवाजार में श्रीमां के पास भक्त नर-नारियों की भीड़ होने लगी। महाष्टमी के दिन सवेरे से ही वहुतसे भक्तों का आगमन होने लगा। दिन चढ़े सवसे पहले स्वामी सारदानन्दजी मां को प्रणाम करने आये। फिर भक्त स्त्री-पुरुषों ने प्रणाम करना आरम्भ किया। करुणामयी मां स्मित-मुख हो, वराभया-रूप से वैठी हुई थीं। कालीघाट में काली माता की पाद-पूजा के वाद लोग जिस प्रकार उस विग्रह के शरीर में नये वस्त्र पहनाते हैं, उसी प्रकार महिला-भक्तगण श्रीमां की चरण-पूजा कर उनके शरीर में नये वस्त्र पहनाने लगीं। श्रीमां सवको आशीर्वाद दे रही थीं, किसी-किसी के साथ दो-एक वात भी करती थीं।

इसके वाद पुरुष-भक्तों के प्रणाम करने की वारी आयी। वह एक अनुपम दृश्य था! हाथों में खिले हुए कमल, फल-फूल आदि नाना प्रकार की पूजा की सामग्रियां ले, भक्तगण स्नान करके, सिर झुकाये हुए भक्ति-गद्गद चित्त से धीरे-धीरे आ रहे थे और आवेग-भरे हृदय से मातृ-चरणों में गिरकर जगन्माता की पाद-पूजा कर रहे थे। वहुतेरों के सिर पर अभय-हस्त रखकर मां ने आशीर्वाद दिया। वह एक शान्त स्वर्गीय वातावरण था। मां का शुभ आशीर्वाद प्राप्त कर भक्त एक-एक करके हटकर खड़े होने लगे। कोई-कोई ध्यान की गम्भीरता में खड़े-खड़े मूलमन्त्र का जप करने लगे। इस प्रकार वहुत समय व्यतीत हो गया। श्रीमां की वह सौम्य-कृपामूर्ति भक्तों के ध्यान का विषय वनी हुई है।

वाद में गेरुआ वस्त्र पहने एक स्त्री आयी। मां की पूजा कर

उसके खड़ी होते ही माँ ने पूछा, "यह क्या! तुमने यह क्या पहन रखा है! गेरुआ कपड़े हैं, हाथों में रुद्राक्ष की माला है— यह भला क्यों? ... कहाँ से दीक्षा ली तुमने?"

उसने कहा, "दीक्षा नहीं हुई है।"

श्रीमाँ — "बिना दीक्षा लिये, बिना किसी प्रकार की उपलब्धि के ही तुमने यह वेश साज लिया है! यह तो तुमने अच्छा नहीं किया। यह वेश एक बड़ी पवित्र चीज है— मेरे ही हाथ प्रणाम करने के लिए जुड़ जा रहे थे। ऐसा मत करो, पहले कुछ उपलब्धि तो हो जाय। यह वेश देखकर सब लोग पैर पर अपने सिर रखने आयेंगे, वह ग्रहण करने की शक्ति पहले होनी चाहिए।"

उस महिला ने श्रीमाँ के पास ही दीक्षा की प्रार्थना की। पहले तो माँ किसी प्रकार राजी न हुईं। बाद में कुछ चुप रहकर बोलीं, "बाद में देखा जायगा।"

गौरी-माँ अपने आश्रम की लड़कियों को लेकर आयीं। सबने श्रीमाँ की चरण-पूजा की। दर्शन और प्रणाम समान रूप से चल रहे थे। धीरे-धीरे मध्याह्न-भोग का समय हुआ। इसी समय किसी दूर स्थान से तीन पुरुष और तीन स्त्रियाँ श्रीमाँ के दर्शनार्थ आये। वे बड़े निर्धन थे। पहने हुए वस्त्र के अतिरिक्त उनके पास दूसरा वस्त्र नहीं था। किसी प्रकार भिक्षा के द्वारा आने का खर्च जुटाकर वे इतनी दूर आये थे। उनमें से एक पुरुष-भक्त माँ के साथ बड़े धीमे स्वर से लम्बी बातचीत करने लगा। माँ भी बड़े आग्रह से उसकी बातें सुनने लगीं। वार्तालाप का मानो अन्त न था। इधर भोग का समय हुआ जा रहा था। माँ ही भोग निवेदित करनेवाली थीं। सब लोग चंचल हो उठे। एक सेवक ने आकर उन आगन्तुकों से कहा, "और भी कुछ कहने का हो, तो नीचे जाकर किसी महाराज से कहिए न!"

पर माँ ने दृढ़ता के साथ कहा, "अब अगर समय हो भी जाय, तो क्या करें, उनकी बातें तो सुननी होंगी।" माँ ने धैर्यपूर्वक सब बातें सुनीं। फिर धीमे स्वर में कुछ गुह्य उपदेश दिया। उन्होंने भक्त की पत्नी को भी समीप बुला लिया। वे बड़े भाग्यवान भक्त थे, स्वप्न में दर्शन और मन्त्र पाया था। इसी लिए श्रीमाँ ने सारा स्वप्न-वृत्तान्त सुनकर सब ठीक कर दिया — उन्हें बहुत आशीर्वाद दिया।

* * * *

राधू का स्वास्थ्य फिर से बिगड़ गया। इधर वह गर्भवती थी। दिन-रात लेटी ही रहती थी, आँखों में नींद न थी, सारे समय छटपटाती रहती। कोई आवाज उसे सहन नहीं होती थी — छाती धड़कने लगती और वेदना अनुभव होती। उसके लिए श्रीमाँ को बड़ी चिन्ता थी। चिकित्सा चल रही थी, पर उससे कुछ लाभ दिखाई न दे रहा था। कलकत्ते के आस-पास किसी निर्जन स्थान में राधू को ले जाकर रहने की बातचीत भी चल रही थी।

एक दिन बात-ही-बात में श्रीमाँ कहने लगीं, "मठ के लिए यह साल बड़ा खराब जा रहा है। मेरे बाबूराम, देवव्रत, शचीन — सभी चले गये।"

देवव्रत महाराज (स्वामी प्रज्ञानन्द) के शरीर-त्याग के कुछ दिन पहले स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने 'उद्बोधन' में एक सूक्ष्म-देही को देखा था। उस प्रसंग में श्रीमाँ ने कहा, "ठाकुर भी ऐसा बहुत कुछ देखते थे। एक दिन वे राखाल को साथ ले वेणी पाल के बगीचे में गये। वे बगीचे में घूम रहे थे कि एक प्रेत ने आकर उनसे कहा, 'तुम यहाँ क्यों आये? हम लोग तो जले-भुने जा रहे हैं। तुम्हारी हवा हमें सहन नहीं होती, तुम चले जाओ, चले जाओ।' भला, उनका तेज, उनकी हवा उन लोगों को कैसे सहन होती? वे हँसकर वहाँ से चले गये। किसी को इस सम्बन्ध में कुछ न बताया। खाना-पीना होने के बाद

...वे उसी रात गाड़ी में वापस दक्षिणेश्वर लौट आये। इतनी रात बीते फाटक के पास गाड़ी का शब्द सुनकर मैं कान लगाकर सुनने लगी -- ठाकुर राखाल से बातें कर रहे थे। यह सुनते ही मैंने सोचा -- हे भगवान, अब क्या होगा! अगर बिना खाये आये हों, तो इस रात में क्या खाने दूंगी? अन्य दूसरे दिन घर में कुछ-न-कुछ रख देती थी -- सूजी हो या और कुछ। कारण, वे कब खाने के लिए माँग बैठें, यह कुछ ठीक न था। उस दिन वे रात में नहीं आनेवाले हैं, यह जानकर मैंने कुछ न रखा था। मन्दिर के सारे दरवाजे बन्द हो गये थे, उस समय एक बजा होगा। वे ताली पीट-पीटकर देवताओं का नाम लेने लगे। मालूम नहीं, कैसे उन्होंने अपने कमरे का दरवाजा खोल लिया। मैं कहती हूँ, 'अरी यदू की माँ (महरी), अब क्या होगा?' उन्होंने यह सुन लिया, समझ गये और अपने कमरे से ही जोर से कहा, 'तुम लोग चिन्ता मत करो, हम लोग खाकर आये हैं'।"

भक्त ने पूछा, "माँ, प्रेत तो बड़े मूर्ख थे। ठाकुर के पास कहाँ तो मुक्ति माँगनी चाहिए थी, और कहाँ उन्हें चले जाने के लिए कहा। प्रेतों ने ऐसा क्यों किया, माँ?"

माँ बोलीं, "ठाकुर के जब दर्शन मिल गये, तो क्या उन लोगों की मुक्ति बाकी रही? नरेन ने एक बार मद्रास में एक प्रेत के लिए पिण्ड देकर उसे मुक्त कर दिया था।"

एक दिन एक संन्यासी-सन्तान ने माँ के पास अपने प्राणों की वेदना प्रकट कर उनसे पूछा, "माँ, भगवान-लाभ किससे होता है? पूजा, जप-ध्यान--इन सबसे होता है?"

माँ ने करुणा-कोमल स्वर से कहा, "किसी से भी नहीं।"

संन्यासी--"जप-ध्यान आदि किसी से भी नहीं?"

श्रीमाँ--"किसी से भी नहीं।"

संन्यासी ने विस्मित हो कहा, "किसी से भी नहीं?"

श्रीमां—"नहीं, किसी से भी नहीं।"

संन्यासी यह सुनकर हताश हो गये। रुद्ध-कण्ठ से पूछा, "तो फिर, भगवान-लाभ कैसे होता है?"

श्रीमां—"केवल उनकी कृपा से होता है। पर तो भी जप-ध्यान करना पड़ता है। उससे मन का मैल धुल जाता है। पूजा, जप, ध्यान यह सब करना पड़ता है। जैसे फूल को हिलाने-डुलाने से सुगन्ध निकलती है, चन्दन को घिसने से सुगन्ध बाहर आती है, वैसे ही भगवत्-तत्त्व की आलोचना करते-करते तत्त्वज्ञान का उदय होता है। यदि वासनाशून्य हो सको, तो अभी (भगवान का लाभ) हो सकता है।"

दूसरे समय श्रीमां ने अनन्य-शरणागति के प्रसंग में कहा था, "बेटा, चाहे इतना जप मैंने किया है कहो, चाहे इतना पुण्य कर्म किया है कहो, पर वह सब कुछ भी नहीं है। महामाया यदि रास्ता न छोड़ दें, तो भला किसकी क्या सामर्थ्य है! हे जीव, शरणागत होओ, केवल शरणागत होओ। तभी वे दया करके रास्ता छोड़ देंगी।"

इसी प्रसंग में, श्रीरामकृष्ण देव के कामारपुकुर में रहते समय की एक घटना का उल्लेख करते हुए श्रीमां ने कहा, "एक बार की बात है। जेठ का महीना था। एक दिन कामारपुकुर में दिन के तीसरे पहर खूब पानी बरसा। मैदान आदि सब पानी में डूब गये। ठाकुर डोम-बस्ती के पासवाले निचले रास्ते से घुटनों तक पानी में से शौच के लिए जा रहे थे। वहां 'मागुर' मछलियां उठी हुई देखकर बहुत से लोग लाठी ले-लेकर मार रहे थे। एक 'मागुर' मछली ठाकुर के पैरों के इर्द-गिर्द घूमने लगी। यह देखकर उन्होंने कहा, 'इसे मत मारना रे, यह शरणागत हो मेरे पैरों के ही आस-पास चक्कर लगा रही है। यदि कोई कर सके, तो इसे हालदार तालाब में छोड़ आवे।' फिर वे स्वयं ही उसे ले जाकर तालाब में छोड़ आये और घर में

कहने लगे, 'अहा, कोई यदि ऐसा ही शरणागत हो, तभी उसकी रक्षा हो सकती है'।"

*　　　*　　　*　　　*

श्रीमाँ अपनी जन्म-तिथि के समय कलकत्ते में थीं। कलकत्ते और आस-पास के भक्तों के हृदयों में विमल आनन्द की धारा उमड़ पड़ी। साक्षात् शिवानी के चरणों की पूजा करने की आशा से उनके अन्तस्तल में आनन्द की हिलोरें उठने लगीं। बागबाजार में माँ के भवन में बड़े समारोह के साथ श्रीमाँ की जन्मतिथि-पूजा अनुष्ठित हुई। बहुत से भक्तों ने माँ के दर्शन किये, उन्हें माँ के चरण-स्पर्श करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। श्रीमाँ ने भी सबको हृदय खोलकर आशीर्वाद दिया। कृपामयी माँ की कृपा में मानो बाढ़ आ गयी थी।

जब सबने श्रीमाँ के चरणों में अंजलि दे दी, तब माँ ने एक सेवक से कहा, "फूल के पात्र में और जो फूल-चन्दन बाकी है, उससे उन सब लड़कों का नाम ले-लेकर अंजलि दो, जो आ नहीं सके हैं।" सेवक माँ के श्रीचरणों में अंजलि देने लगा, और माँ राखाल, तारक, खोका आदि सन्तानों के नाम बता देने लगीं। अन्त में, जहाँ भी जितनी सन्तानें थीं, उन सबके कल्याण के लिए भी उन्होंने अपने परों में अंजलि दिलवायी। चरणों में फूल-बेलपत्र चढ़ाये जा रहे थे, माँ नेत्र निमीलित कर बैठी हुई थीं — सन्तानों के कल्याण के लिए आशीर्वाद दे रही थीं, जगत् के कल्याण के लिए प्रार्थना कर रही थीं। श्रीमाँ की वह दक्षिणा-मूर्ति दर्शकों के लिए सदा के लिए ध्यान की वस्तु बन गयी है।

महामायी की जन्म-तिथि के उपलक्ष में उत्सव हो रहा था। इसी लिए भक्तगण अनेक प्रकार की चीजें लाये थे। बहुतों ने उनके चरणों में रुपये देकर प्रणाम किया। नये-नये कपड़ों, फल-मिठाइयों और अन्यान्य वस्तुओं का ढेर-सा लग गया। एक निर्धन भक्त फटे

कपड़ों में आया और माँ के चरणों में बड़े भक्ति-भाव से एक हर्रा निवेदित करते हुए प्रणाम किया। श्रीमाँ ने उसके सिर पर हाथ रखकर बहुत आशीर्वाद दिया। उसके चले जाने पर उन्होंने सेवक से कहा, "यह हर्रा उठाकर रख दो भला। काटकर मुझे थोड़ासा देना। अहा, कितनी भक्ति से दिया है!"

* * * *

राधू की बीमारी क्रमशः बढ़ती ही चली। इस कारण श्रीमाँ मानो बहुत चिन्तित हो गयीं। राधू को किसी प्रकार की आवाज सहन नहीं होती थी, इसलिए श्रीमाँ उसे लेकर बागबाजार के निर्जन भाग में अवस्थित निवेदिता-स्कूल के छात्रावास म कुछ दिन रहीं। इसी निर्जनता की आशा से एक बार बेलुड़ ग्राम में जाकर रहने की भी बातचीत हुई थी। राधू अब और कलकत्ते में नहीं रहना चाहती थी; कहती — मुझे देश ले चलो। यह सच है कि देश में शहर का-सा हल्ला-गुल्ला नहीं था, पर वहाँ डाक्टर-वैद्य की कोई सुविधा भी तो नहीं थी। इधर राधू क्रमशः अधीर होती जा रही थी। उसने बस यही रट लगा रखी थी — 'देश चलो, देश चलो'। निरुपाय हो श्रीमाँ देश जाने के लिए प्रस्तुत हुईं। १३ माघ, १३२५ बंगाब्द (२७ जनवरी, १९१९ ई.) को वे सेवक-सेविकाओं और संगिनियों के साथ जयरामवाटी के लिए रवाना हुईं। मार्ग में विष्णुपुर में एक दिन विश्राम लेकर, वे १५ माघ की रात को कोयालपाड़ा पहुँचीं।

दो-एक दिन कोयालपाड़ा में विश्राम लेकर जयरामबाटी जाने की बात थी, पर वह स्थान बड़ा निर्जन था, राधू को भी वहाँ अच्छी नींद आती थी। इसलिए राधू ने वहीं रहना चाहा। श्रीमाँ भी सहमत हो गयीं। अतः तब से लगभग छः महीने वे कोयालपाड़ा में रहीं। जगदम्बा-आश्रम से थोड़ी दूर पर एक निर्जन मकान में राधू के रहने की व्यवस्था हुई थी। इस मकान के तीन ओर नागफनी का जंगल

था। श्रीमाँ वहाँ पर सारे समय बड़ी अन्तर्मुख रहती थीं। उन्हें देखने पर ऐसा लगता, मानो वे गम्भीर ध्यान में मग्न हों। वे राधू का सेवा-यत्न, साधु-भक्तों के साथ ईश्वरीय प्रसंग — सब कुछ करती जा रही थीं, पर इधर प्राणों की गहराई में मानो भगवद्भाव में निरवच्छिन्न विलास चल रहा था। वे अनमनी-सी रहतीं — किसी से मानो लगाव न था। करना पड़ता था, इसलिए सारे काम-काज यन्त्रवत् किये जा रही थीं।

कुछ दिन बाद उन्होंने सेवक से कहा, "देखो, आजकल यह मन की कैसी अवस्था हो गयी है, जो भी विचार उठता है, वही हो जाता है — फिर वह भला हो या बुरा। राधू को तो यह जंगल पसन्द है। निर्जन है न, इसलिए। पर यह आखिर जंगल ही ठहरा! किसी दिन भालू-वालू न निकल पड़े।"

सेवक — "कहाँ, माँ, इधर तो कभी भालू नहीं देखा गया।"

एक-दो दिन बाद दोपहर में सुना गया कि एक मील दूर देशड़ा के मैदान में एक भालू ने एक बूढ़ी को गोबर उठाते समय मार डाला। बाद में वह भालू भी बन्दूक से मार डाला गया। उस दिन सन्ध्या समय माँ ने सेवक से कहा, "सुनी तुमने भालू की करतूत! सुनते हैं, उसने अम्बिका (जयरामबाटी का चौकीदार) की सास को मार डाला है। तुम तो कह रहे थे कि इधर भालू हैं ही नहीं।"

एक दिन, श्रीमाँ सेवक के साथ दक्षिणेश्वर के उन आनन्दमय दिनों की बातें कर रही थीं कि एक सेविका ने सेवक को लक्ष्य करके कहा, "ओ दादा, सुना आपने? आज दोपहर को माँ और मैं यहाँ बैठी हुई थी। सुनसान था। माँ कह रही थीं, 'कुछ दिनों से कहाँ से दो कौए आकर इसी समय इस झाड़ पर बैठकर बड़े जोर से चीखते थे। राधू बड़ी खीज उठती थी। पर आज कुछ दिन हुए, कौए दिखते नहीं हैं। कहाँ गये वे दोनों, बताओ भला?' माँ के यह कहते-न-कहते

वे दोनों कौए आकर पेड़ पर काँव-काँव करने लगे ! " माँ ने भी हँसकर, " हाँ, बेटा " कहकर उसका समर्थन किया।

श्रीमाँ के इस निर्जन-वास के समय भी दूर-दूर से बहुत से भक्त उनकी कृपा पाने के लिए उनके चरणों में उपस्थित होते थे। उनके आ जाने से निर्जन कोयालपाड़ा भी लोगों से भर गया। साधुओं और भक्तों का समागम होता ही रहता था। पुरुषों के आहार आदि की व्यवस्था स्थानीय आश्रम में की गयी थी और स्त्रियों के लिए जगदम्बा-आश्रम में। दोनों स्थानों में प्रतिदिन लगभग चालीस पत्तलें बिछायी जाती थीं।

श्रीमाँ किसी को विमुख नहीं करती थीं। उन्हें अयाचित कृपा करते और जिस-तिसको दीक्षा देते हुए देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि वे मानो नर-लीला के कार्य को समेट ले रही हैं। बहुत समय तक वे गम्भीर भाव में मग्न होकर रहती थीं। एक हाथ से राधू की सेवा-शुश्रूषा करतीं, एक ओर योगमाया का माया-जाल था, और दूसरे हाथ से दयारूपी चिरन्तनी-माँ का कृपा-वितरण होता था। फिर यह भी देखा जाता था कि वे अनमनी हो, असीम की ओर दृष्टि गड़ाकर, अस्तव्यस्त-सी विह्वल बैठी हुई हैं।

एक राजनैतिक-बन्दी पुलिस की नजरबन्दी से छूटते ही कोयाल-पाड़ा में श्रीमाँ के निकट उपस्थित हुआ। सन्ध्या का समय था। श्रीमाँ की कृपा पाने की आशा से व्याकुल होकर वह युवक आया था। उस समय भी आश्रम पर पुलिस की कड़ी नजर थी। कौन आया-गया इसकी खबर पुलिस रोज लेती थी। श्रीमाँ ने सब सुना। उस युवक की कातरता और निष्ठा देख श्रीमाँ को दया आ गयी। पर समस्या यह थी कि वह रात में कहाँ रहे ? आश्रम के अध्यक्ष पुलिस के अत्याचारों के कारण उसे आश्रम में रख नहीं पा रहे थे।

श्रीमाँ ने सेवक को बुलाकर कहा, " अहा, वह लड़का कितना

कष्ट उठाकर, व्याकुल होकर आया है। तुम यदि गाँव में किसी के यहाँ उसके आज रहने की व्यवस्था कर सको, तो कल सवेरे दीक्षा देकर मैं उसे चले जाने के लिए कह दूँगी।" माँ की इच्छानुसार वही व्यवस्था की गयी।

दूसरे दिन सवेरे श्रीमाँ सेवक के साथ आश्रम से राधू के मकान की ओर जा रही थीं कि वही युवक स्नान करके मैदान के बीच में ही माँ के समीप आ उपस्थित हुआ। श्रीमाँ के निर्देशानुसार सेवक निकटवर्ती तालाब से एक गिलास पानी ले आया। मैदान में आसन कहाँ मिलता! माँ ने पास के पुआल के ढेर को दिखाकर सेवक से कहा, "दो पुआल ले आओ, हम दोनों उसी पर बैठ जायँगे।" युवक को पास लेकर माँ उस पुआल पर बैठीं। सेवक को कुछ दूर खड़ा रहने का आदेश दे, उन्होंने आचमन करके उस युवक को दीक्षा दी।

एक बार की बात है। कलकत्ता जाते समय श्रीमाँ विष्णुपुर स्टेशन में गाड़ी की प्रतीक्षा में बैठी हुई थीं। न जाने कहाँ से एक पछाँही कुली दौड़ता हुआ आया और श्रीमाँ के चरणों में लोट-पोट होने लगा। रोते-रोते उसने कहा, "तुम मेरी जानकी माई हो, तुम्हें मैं कितने दिनों से खोजता फिर रहा हूँ। इतने दिनों तक तुम कहाँ थीं?" ऐसा प्रतीत होता है कि उसने स्वप्न में श्रीजानकी को देखा था, और अब उसी स्वप्न में दिखी देवी को उसने अपने सामने जीते-जागते रूप से देखा।

श्रीमाँ ने उसे शान्त किया और एक फूल ले आने को कहा। वह दौड़ता हुआ गया और फूल ले आया। श्रीमाँ के श्रीपादपद्मों में उसे अर्पण किया। माँ ने उसी समय उसे मन्त्र देकर उसका मनोरथ पूरा कर दिया।

जयरामबाटी में एक दिन श्रीमाँ छज्जे के नीचे खड़ी हुई थीं। भक्त आ-आकर प्रणाम कर रहे थे। अन्त में एक भक्त आया। वह

माँ के श्रीचरणों को पकड़कर अवोध-शिशु की भाँति रोने लगा। श्रीमाँ उससे रोने का कारण पूछने लगीं, पर भक्त के मुँह में मानो शब्द न थे। वह और भी रोने लगा। माँ ने सन्तान की हृदय-वेदना समझ ली। उन्होंने अन्य सबको वहाँ से हट जाने का संकेत किया और वहीं पर खड़े-खड़े उस भक्त को मुक्ति-मन्त्र दे दिया।

दल-के-दल लोग मुक्ति-मलय का अमर-स्पर्श प्राप्त कर रहे थे। उसमें पात्र-अपात्र का भेद नहीं था, देश-काल का विचार नहीं था। क्षेमंकरी के हृदय में कृपा की वाढ़ आ गयी थी। वह सबको उस अमृत-सागर की अथाह गहराई में वहाये ले जा रही थी। महेशभामिनी अवकी वार करुणारूपिणी होकर आयी थीं।

काशीपुर में श्रीरामकृष्ण देव ने एक वार कलकत्ते की ओर हाथ दिखाकर श्रीमाँ से कहा था, "देखती हो, लोग अँधेरे में कीड़ों की तरह कुलबुला रहे हैं, इनकी ओर जरा नजर रखना।" तभी तो श्रीमाँ इस देख-भाल के कार्य में अपने को भूल-सी गयी थीं। यह श्रीरामकृष्ण देव का आदेश मात्र नहीं था, वह उनकी अन्तिम इच्छा थी। इसी लिए श्रीमाँ अथक रूप से 'उनकी' इस अन्तिम इच्छा की पूर्ति में लगी हुई थीं। वे जिस-तिसको मन्त्र दे देती थीं — स्थान-पात्र का विचार नहीं था। कारण, शुभक्षण वीता जो जा रहा था! जीवों का उद्धार करनेवाली, पतितपावनी श्रीसारदा देवी इस वार आयी थीं — अज्ञान-अन्धकार में भटकते हुए जीवों के हृदयों में ज्ञान-दीप जला देने के लिए, सैकड़ों हृदय-मन्दिरों को दीपावली की अमल ज्योति से उद्भासित कर देने के लिए।

अरे, एक वार तो व्याकुल-हृदय से तू 'माँ-माँ' कहकर पुकार, और देख अपने हृदय-मन्दिर में उस मातृदेवी को, जो जीवों के कल्याण के ध्यान में मग्न होकर वैठी है। ओ माँ, तुम्हारी कृपा के विना तो तुम्हें भी नहीं देखा जा सकता! मूक शिशु को माँ ही तो पहले-पहल

'माँ, माँ' कहना सिखाती है ! माता, फिर मुझे भी 'माँ, माँ' कहना सिखा दो न !

सन् १९०७ ई. की बात है। एक मातृहीन बालक जयरामबाटी में आया। उसकी माता बहुत पहले ही मर चुकी थी, इसलिए वह 'माँ' कहना भूल-सा गया था। श्रीमाँ को भी 'माँ' कहकर पुकारने में उसे न जाने कैसा लगता था। श्रीमाँ की नजर में यह बात पड़ी। एक दिन उन्होंने इस बालक के हाथ किसी के पास एक खबर भेजनी चाही। उसे बतला दिया कि क्या-क्या कहना होगा। जाने के समय उन्होंने उससे पूछा, "अच्छा, जाकर क्या कहोगे, जरा बताओ तो, बेटा?" उसने उत्तर दिया, "कहूँगा, 'उन्होंने आपको ये-ये बातें बतलाने के लिए कही हैं'।"

श्रीमाँ ने उसे रोककर कहा, "कहना, 'माँ ने कहा है —'।" उन्होंने 'माँ' शब्द पर जोर देते हुए उच्चारण किया। उस सन्तान ने जब उन्हें 'माँ' कहकर पुकारा, तो तृप्ति से उनका हृदय भर गया, नेत्रों से आनन्दाश्रु झरने लगे।

* * * *

राधू का प्रसव-काल निकट था। पर वह इतनी दुर्बल और अस्वस्थ हो गयी थी कि अपने-आप करवट तक न बदल सकती थी। कलकत्ते से आते समय, विष्णुपुर में एक ज्योतिषी ने राधू का हाथ देखकर कहा था, "इसका आसानी से प्रसव न होगा।" यह सुनकर श्रीमाँ और भी दुश्चिन्ता में पड़ गयी थीं। कोयलपाड़ा में आने पर, राधू के भले के लिए जो जैसा परामर्श देता, माँ वैसा ही करती जा रही थीं। 'तिरोल का कड़ा' (एक दैवी उपचार) लाकर उसे पहनाया गया। एक बड़े तान्त्रिक को बुलवाकर शान्ति-स्वस्त्ययन और नाना प्रकार के क्रिया-काण्ड कराये गये। चण्ड की पूजा आदि की गयी। कोई टोना-टोटका, झाड़-फूंक भी बाकी न रही। देवी-देवताओं

की मनौतियाँ मानी गयीं। सारांश यह कि राधू के स्वास्थ्य-सुधार के लिए श्रीमाँ ने कोई कसर वाकी न रखी।

अन्त में एक दिन उन्होंने कहा, "मैंने तो सभी देवी-देवताओं को मानकर उनकी कृपा के लिए प्रार्थना की है, पर कोई आँख उठाकर नहीं ताकते। विधि का जो विधान है — राधू के भाग्य में जो बदा है, वही होगा। ठाकुर, तुम्हीं रक्षा करनेवाले हो।"

और हुआ भी ऐसा ही। २४ वैशाख, वंगाब्द १३२६ को विना किसी विघ्न-वाधा के राधू का सुख से प्रसव हो गया। राधू की लम्वी अस्वस्थता और स्नायविक दुर्वलता को ध्यान में रखते हुए, आवश्यकता पड़ने पर अस्त्रोपचार के लिए एक विशेषज्ञ डाक्टर और धात्री की व्यवस्था की गयी थी। पर सौभाग्य से राधू ने स्वाभाविक रूप से एक पुत्र-सन्तान को जन्म दिया। इस समाचार से सवको विशेष आश्चर्य हुआ।

वन में जन्म लेने के कारण श्रीमाँ ने राधू के लड़के का नाम रखा 'वनविहारी'। प्यार से वे उसे 'वनू' कहकर पुकारतीं। प्रसव के वाद राधू की शारीरिक शिथिलता और दुर्वलता और भी वढ़ गयी। उसने एक प्रकार से खाट ही पकड़ ली। अतः अव राधू की सेवा-देखभाल के अतिरिक्त श्रीमाँ पर 'वनू' के लालन-पालन का भार भी आ पड़ा। लगभग उन्नीस वर्ष पूर्व उन्होंने जिस प्रकार राधू को गोद में उठा लिया था, उसी प्रकार अव उन्हें वनू को उठा लेना पड़ा। 'योगमाया' की लीला थी! इधर माँ का स्वास्थ्य धीरे-धीरे गिरता जा रहा था। अव और भार उठाने में मानो वे असमर्थ-सी हो रही थीं। तो भी, उन्होंने फिर से योगमाया का आश्रय लिया। पगली मामी, राधू, वनू — इन तीनों ने मिलकर श्रीमाँ के मन के चारों ओर मानो माया के ताने-वाने वुन रखे थे।

राधू सारे समय लेटी ही रहती थी। खाना-पीना भी लेटे-लेटे

करती थी। श्रीमाँ ही उसे खिलाती थीं। उसके मान-अभिमान और पागलपन का ठिकाना न था! मुँह में कौर डालकर बहुधा श्रीमाँ के शरीर पर ही उगल देती थी। फिर भी माँ उसे कितना मना-मनाकर खिलाती थीं! कभी-कभी श्रीमाँ का मन उचाट भी हो जाता, पर तो भी वे सब कुछ करती ही जाती थीं।

एक दिन वे राधू को खिलाने बैठीं। राधू ने कौर मुँह में ले, उसे माँ के सारे शरीर पर थूक दिया। माँ खीज उठीं। सेविका को लक्ष्य करके कहा, "देखो, बेटी, इस शरीर को (अपने शरीर को दिखाकर) देव-शरीर जानना। यह और कितना अत्याचार सहेगा? भगवान न हो, तो क्या मनुष्य इतना सह सकता है?... इन लोगों ने मुझे जला डाला, बेटी! इस बार ठाकुर किसी तरह राधू को अच्छा कर दें, फिर इस जंजाल में न फँसूंगी, राम-राम!... देखो बेटी, मेरे रहते कोई मुझे न पहचान सकेगा, ...बाद में सब समझेंगे।"

राधू के लड़का होने के लगभग ढाई महीने बाद ७ श्रावण, १३२६ बंगाब्द को श्रीमाँ राधू आदि को लेकर जयरामबाटी आयीं। राधू तब भी खाट से लगी हुई थी, खड़ी न हो सकती थी, घुटनों के बल चलती थी। उस पर उसने अफीम खाना आरम्भ कर दिया था। सारे समय लेटी रहती थी। उसके कारण श्रीमाँ के कष्टों का कोई अन्त न था।

बनू के लालन-पालन का भार श्रीमाँ ने स्वयं अपनी इच्छा से अपने हाथों में लिया था। उस पर कितना प्यार-दुलार था उनका! सवेरे कौशल्या की भाँति गीत गाकर माँ बनू को नींद से उठातीं; कहतीं—

"उठो, लालजी, भोर भयो, सुर-नर-मुनि-हितकारी।
स्नान करो, दान देहु, गो-गज-कनक-सुपारी॥"

बस इसी भाँति श्रीमाँ लोगों की आँखों के सामने माया का आवरण डाल, अपने स्वरूप को छिपाकर रहती थीं। उस परमाप्रकृति ने अपने जीवन के अन्तिम दिन तक इस लीला-रहस्य के आवरण में अपने को अगम्य-अपार बनाये रखा था।

फिर कभी-कभी सहसा माँ अपने स्वरूप को प्रकट भी कर देती थीं। श्रीमाँ के जीवन-नाटक के अन्तिम अंक में इस देवी-भाव का अभिनय जैसा विस्मयकारक है, वैसा ही ध्यान का विषय भी है।

एक दिन रात को लगभग नौ बजे रसोई बनानेवाली ब्राह्मणी ने आकर श्रीमाँ से कहा, "कुत्ता छू गया है, नहाकर आती हूँ।"

श्रीमाँ बोलीं, "इतनी रात में नहाओ मत। हाथ-पैर धो आओ और कपड़े बदल डालो।"

पर ब्राह्मणी आनाकानी करती हुई कहने लगी, "उससे क्या होगा?"

माँ ने कहा, "तो फिर गंगा-जल छिड़क लो।"

इससे भी ब्राह्मणी का मन नहीं मान रहा है, यह देखकर अन्त में श्रीमाँ बोलीं, "अच्छा, तो मुझे छू लो।"

इतनी देर बाद ब्राह्मणी की आँखें खुलीं!

* * * *

जयरामबाटी आने के बाद से ही श्रीमाँ को बीच-बीच में बुखार आने लगा। उन्हें मलेरिया हो गया था। जब बीमारी बहुत बढ़ जाती, तभी वे खाट पकड़ती थीं। उसके थोड़ा कम होते ही वे फिर से उठकर घर के काम-काज और भक्तों व परिजनों की सेवा में लग जातीं। बुखार हलका रहने पर वे चुपचाप सह लेती थीं — सेवकों तक को न बतलाती थीं, ताकि कहीं वे लोग व्यग्र न हो उठें। दीक्षार्थी आते ही रहते थे। पर इस दशा में भी वे किसी को विमुख नहीं करती थीं। ज्वर थोड़ा रुकते ही, अन्न-पथ्य लेने के पहले भी, वे दीक्षा दे देती थीं।

किसी के वाधा देने पर कहतीं --- अहा, ये लोग कितनी दूर से व्याकुल होकर आये हैं! सेवकगण दीक्षा देने में कहीं गड़वड़ न करें, वाधा न दें, इस कारण श्रीमाँ सेवकों को भी कई वार अपनी अस्वस्थता की खवर नहीं लगने देती थीं। श्रीमाँ के स्वास्थ्य की दृष्टि से उनका जयरामवाटी में रहना विलकुल ठीक नहीं था; पर क्या करें, राधू तव भी इतनी दुर्वल थी कि वह अपने-आप खड़ी तक नहीं हो सकती थी। राधू के लिए श्रीमाँ को जयरामवाटी में रहना पड़ रहा था।

श्रीमाँ राधू को ले जव कोयालपाड़ा के जंगल में रह रही थीं, तव की वात है। एक दिन न जाने कहाँ से एक पागल आ गया और घर के वाहर खड़ा हो वड़ी गड़वड़ी मचाने लगा। उसकी करतूत देख माँ ने कहा था, "देखो न, पागलों का जमघट लगा हुआ है। हम लोग आये हैं न, इसी लिए जितने पागल हैं, सव इधर आ रहे हैं। देखो न, राधू पगली है, उसकी माँ पगली है, इन्हीं सवको लेकर मेरा संसार है।" श्मशानवासिनी रुद्राणी की डाकिनी-योगिनी आदि ही तो संगिनियाँ हैं!

कुछ चुप रहकर श्रीमाँ अपने आपसे कहने लगीं, "घर आयगी चण्डी, सुनूँगी कितनी चण्डी, आयेंगे कितने दण्डी, योगी जटाधारी।"

राधू का पति मन्मथ भी उस समय जयरामवाटी में था। एक दिन राधू की पगली-माँ सुरवाला के सिर में न जाने कैसे यह वात घुस गयी कि उसका जमाई मन्मथ कहीं खो गया है। इधर-उधर खोजने पर जव उसे मन्मथ दिखाई न दिया, तो वह तालाव चली गयी और पानी में उतरकर, डुवकी मार-मारकर अपने जमाई को खोजने लगी। फिर सोचा — हो न हो, यह ननद (श्रीमाँ) का ही काम है। यह विचार उसके सिर में आया ही था कि वह गीले कपड़ों में तालाव से दौड़ती-दौड़ती आयी और श्रीमाँ के चरणों पर पछाड़

खाकर गिर पड़ी । व्याकुल होकर रोते-रोते उसने कहा, " अरी, ननदजी, मेरा जमाई तालाब में डूब गया ! अब क्या होगा ! "

पगली के रोने से विचलित और व्यग्र हो श्रीमाँ सबको पुकारने लगीं, " अरे, जल्दी आओ, सुनो, पगली क्या कह रही है ! " एक सेवक ने आकर कहा, " मन्मथ तो बनिये की दुकान में बैठा तास खेल रहा है, मैंने अभी देखा है । "

तो भी माँ ने कहा, " दौड़कर जाओ और उसे बुला लाओ । " उसी समय मन्मथ को बुला लाया गया । उसे देख पगली भौचक्की हो गयी और क्रोध में बकती-झकती चली गयी ।

ऐसे वातावरण में महामाया वास कर रही थीं; अपनी माया से विलास कर रही थीं !

* * * *

राधू ने कलकत्ते से जो खाट पकड़ ली थी, तो अब तक वह छोड़ने का नाम ही न लेती थी । कोई कहते थे — यह शारीरिक शिथिलता है, किसी-किसी के मत से वह निरा पागलपन था और कोई-कोई सोचते थे कि यह बिलकुल ढोंग है । राधू बैठे-बैठे ही सरक-सरककर चलती थी । उसका इस प्रकार चलना बच्चा होने के छः महीने बाद तक चलता रहा । फिर उसने अफीम की आदत लगा रखी थी । उसे रोज अफीम चाहिए । इधर ज्वर से पीड़ित हो श्रीमाँ का शरीर दिनोंदिन कमजोर होता जा रहा था, उस पर राधू के ये अत्याचार ! राधू अफीम की मात्रा थोड़ा बढ़ा देना चाहती थी और माँ की इच्छा थी कि वह धीरे-धीरे घटा दे । इसी को लेकर बहुधा उन दोनों में खट-पट हो जाती थी ।

एक दिन सवेरे की बात है । माँ तरकारी काट रही थीं । इतने में राधू सरकती-सरकती वहाँ आयी । राधू क्यों आयी है, यह माँ समझ गयीं । उन्होंने कहा, " राधी, और यह क्यों ? उठकर खड़ी हो न ।

तुझे अब मैं नहीं सँभाल सकती। तेरे लिए मेरा धर्म-कर्म सब गया! इतना खर्चा कहाँ से जुटाऊँ, बता तो भला?"

श्रीमाँ की इस मृदु भर्त्सना से राधू के तेवर बदल गये। उसने सामन की टोकनी से एक बड़ा बैंगन उठाया और जोर से उसे माँ की पीठ पर दे मारा। चोट खाकर माँ की पीठ झुक गयी और देखते-ही-देखते उस स्थान पर सूजन आ गयी। माँ श्रीरामकृष्ण देव के चित्र की ओर देखती हुई हाथ जोड़कर कहने लगीं, "ठाकुर, उसका अपराध न लेना। वह नासमझ है।" इतना कहकर वे अपने पैरों की धूल राधू के सिर पर लगाती हुई कहने लगीं, "राधी, इस शरीर को ठाकुर ने एक दिन भी कोई कड़ी बात न कही, और तू इतना कष्ट दे रही है! तू क्या समझे, मेरा स्थान कहाँ है? तुम लोगों को लेकर पड़ी हुई हूँ, इससे तूने क्या समझ रखा है, बता तो सही?" तब राधू रो पड़ी। माँ ने और भी कहा, "राधी, यदि मैं रुष्ट हो गयी, तो त्रिभुवन में भी तेरे लिए आश्रय नहीं है। ठाकुर, उसके अपराध पर ध्यान न देना।"

इसी भाँति त्रिलोकपूजिता, दिव्या माँ सारदा देवी की मर्त्य-लीला चल रही थी।

श्रीमाँ की भतीजी नलिनी भी बात-बात में रूठ पड़ती थी। वह भी नाना प्रकार से श्रीमाँ को तंग करती रहती थी। एक दिन वह गुस्से में आकर सारे दिन भूखी ही पड़ी रही। माँ ने आकर बहुत मनाया, पर कुछ फल न हुआ। अन्त में उन्होंने गम्भीर स्वर से कहा, "मुझे अपनी बूआ न समझना। चाहूँ तो मैं अभी यह देह छोड़कर चली जा सकती हूँ।"

योगमाया नाना प्रकार से माया फैलाकर श्रीसारदा देवी के मन को आच्छन्न किये रखती थी। ऐसा यदि न होता, तो श्रीरामकृष्ण-अवतार का प्रधान कार्य ही अपूर्ण रह जाता। कितने ही हृदय-तीर्थों

में श्रीरामकृष्ण देव का पुण्य-स्पर्श नहीं पड़ पाया था। श्रीमाँ वहाँ-वहाँ अपनी कृपा-दृष्टि और श्रीरामकृष्ण के दिये हुए सिद्ध-मन्त्र दे रही थीं। मुक्ति के अमृत-सरोवर में उन लोगों को मुक्ति-स्नान करा रही थीं; शाश्वत-ज्योति की आभा से सैकड़ों अज्ञान-तमसाच्छन्न हृदयों को उद्भासित कर रही थीं।

एक आश्रित शिष्य संसार के दुःखानल में जला-भुना जा रहा था। वह सोचने लगा — माँ की कृपा तो पायी है, पर कहाँ, दुःख-कष्ट तो कम नहीं होते ? वह दग्ध-प्राणों से सन्तापहारिणी माँ के समीप आया और अपना दुखड़ा रोने लगा। माँ ने शान्तिपूर्वक उसकी सारी बातें सुनीं; फिर अभय देती हुई बोलीं, "देखो बेटा, ऐसी बात नहीं है कि तुम लोगों को विपत्तियों का सामना न करना पड़ेगा। विपत्तियाँ तो आयँगी ही। पर वे रहेंगी नहीं; देखोगे, पैर के नीचे से पानी के समान चली जायँगी।"

एक दिन सन्ध्या के बाद श्रीमाँ को भक्तों के पत्र पढ़कर सुनाये जा रहे थे। वे बड़े एकाग्र-चित्त से, आँखें मूंदकर चिट्ठियाँ सुन रही थीं और बीच-बीच में प्रार्थना करती जाती थीं, "ठाकुर, इनके इहकाल और परकाल का कल्याण करो।" श्रीमाँ के कण्ठ-स्वर में कैसा आवेग था! चिट्ठियाँ पढ़ना समाप्त होने पर वे कहने लगीं, "सांसारिक दुःख-कष्ट, शोक-ताप, पैसे की तंगी — केवल यही सब लिखते हैं। बस इन्हीं सबसे रक्षा पाना चाहते हैं। भगवान को हृदय से कोई नहीं चाहता।... ठाकुर से कहती हूँ, 'ठाकुर, इनके इहकाल-परकाल की तुम्हीं रक्षा करो।' मैं माँ होकर और क्या कहूँ ? भला, कितने लोग उन्हें (भगवान को) सचमुच में चाहते हैं ? वह व्याकुलता कहाँ है ? इतना भक्ति-आग्रह दिखाते तो हैं, पर थोड़ीसी भोग्य-वस्तु पाते ही बस सन्तुष्ट हो जाते हैं। कहते हैं, 'अहा, उनकी कितनी दया है'!"

१७

श्रीमाँ जहाँ भी रहती थीं, वही भक्तों के लिए पुण्यपीठ हो जाता था, सन्तानों के लिए स्नेह का नीड़ बन जाता था। बंगाब्द १३२६ के २७ अगहन (१३ दिसम्बर, १९१९ ई.) को श्रीमाँ की जन्म-तिथि पड़ती थी। माँ उस समय जयरामवाटी में थीं। अतः भक्तगण जन्मतिथि के उपलक्ष में माता के चरणों की पूजा के निमित्त नाना प्रकार के उपकरण और सामग्रियाँ लेकर जयरामवाटी में एकत्रित होने लगे।

श्रीमाँ का स्वास्थ्य उतना अच्छा नहीं था। इसी लिए उस दिन उन्होंने गरम पानी से देह पोंछ ली और स्वामी सारदानन्दजी द्वारा भेजे गये नये वस्त्र को पहनकर श्रीठाकुर की पूजा की। तत्पश्चात् भक्तों ने उन्हें माल्यादि से विभूषित किया और उनके श्रीचरणों में पुष्पांजलि देने लगे। श्रीमाँ ने सबको हृदय खोलकर आशीर्वाद दिया। भक्तों के अतिरिक्त, बहुत से गाँववालों ने भी सन्तोषपूर्वक प्रसाद पाया।

कठोर परिश्रम के फलस्वरूप उसी दिन शाम को श्रीमाँ को बुखार हो आया। गाँव की चिकित्सा चलने लगी। बुखार कभी थोड़ा उतर जाता, और फिर से चढ़ जाता। इस प्रकार लगातार कई दिनों तक भुगतने के कारण वे धीरे-धीरे बहुत ही दुर्बल हो गयीं।

इस अवधि में दूर-दूर से दीक्षार्थी हृदय में बड़ी आशा लिये आते रहते थे। इसी लिए वे किसी को निराश नहीं करती थीं। सेवकों के निषेध का कोई फल न होता था। उन्होंने मानो मुक्ति देने के लिए कमर कस ली थी।

स्थानीय चिकित्सा से कुछ लाभ न होता देखकर स्वामी सारदानन्दजी को उनकी शारीरिक अवस्था के सम्बन्ध में सारी खबर भेजी गयी। पर उस समय वे 'श्रीरामकृष्ण-संघ' के विशेष कार्य से काशी गये हुए थे। सारदानन्दजी की अनुपस्थिति में श्रीमाँ ने उस समय कलकत्ता जाना स्वीकार नहीं किया। काशी से लौटते ही सारदानन्दजी को कुछ आवश्यक काम से भुवनेश्वर जाना पड़ा। कलकत्ते में लौट आते ही उन्होंने अविलम्ब श्रीमाँ को बागबाजार के उद्बोधन-मठ में लाने की व्यवस्था की। माँ भी राजी हो गयीं। १२ फाल्गुन को यात्रा का दिन निश्चित हुआ।

रवाना होने के दो दिन पहले श्रीमाँ धीरे-धीरे सिंहवाहिनी देवी के मन्दिर में प्रणाम करने गयीं। अथवा, वे देवी से विदा लेनें गयीं — यह कौन जाने! वापस आने पर उन्हें इतनी थकावट मालूम हुई कि कहने लगीं, "मैं पसीना-पसीना हो गयी थी।" यात्रा के दिन सवेरे वे घर के पास के तालाब में हाथ-मुँह धोनें गयीं। वे इतनी दुर्बल हो गयी थीं कि घाट पर ही गिर पड़ीं। भाग्य से वे पानी में नहीं गिरीं।

सवेरे श्रीरामकृष्ण देव की पूजा आदि समाप्त कर श्रीमाँ यात्रा के लिए तैयार हुईं। इस बीच गाँव के बहुत से स्त्री-पुरुष श्रीमाँ के मकान में इकट्ठे हो गये थे। सभी ने सजल-नयनों से कहा, "चंगी होकर जल्दी चलीं आना; हम लोगों को ज्यादा दिन भूलीं मत रहना।" श्रीमाँ ने केवल इतना कहा, "सब कुछ ठाकुर की इच्छा है, तुम लोगों को क्या भूल सकती हूँ?" और यह कहकर उन्होंने श्रीरामकृष्ण देव के नित्यपूजित चित्रपट को कपड़े में लपेटकर बकस में रखा और प्रणाम करके खड़ी हुईं। इस बार माँ ने "क्यों नहीं, जरूर आऊँगी" — ऐसा नहीं कहा। अब, श्रीरामकृष्ण देव 'काया' थे और वे उनकी 'छाया'-रूप से उनमें पूर्ण रूप से विलीन हो गयी

थीं। इस समय के श्रीमां के प्रत्येक व्यवहार और वात से यह स्पष्ट प्रतीत होता था कि वे अपनी मर्त्य-लीलाभूमि जयरामवाटी से सदा के लिए विदा ले रही हैं।

पहले के ही समान वे इस वार भी गाँव के छोर तक धीरे-धीरे पैदल चलकर, फिर पालकी पर बैठीं। गाँव में से होकर जाते समय उन्होंने मन्दिरों के उद्देश्य से हाथ जोड़कर प्रणाम किया। वे इस प्रकार तन्मय होकर चल रही थीं, मानो वे हृदय से सबसे विदा लेती हुई जा रही हैं। पालकी पर बैठकर, एक सेवक को अपने उपयोग में आयी हुई चादर देते हुए कहा, "हरि, इसे रख देना।" उन्होंने अपनी पार्थिव-स्मृति के रूप में वह चादर दी और अलौकिक रूप से वे हृदय-मन्दिर में रहीं।

मार्ग में शिहड़ में शान्तिनाथ शिवमन्दिर के पास पालकी उतारी गयी। श्रीमां ने मन्दिर में पूजा चढ़वायी। बहुत से बच्चे आकर वहां इकट्ठे हो गये थे। उन्होंने उन सबको प्रसाद दिया और स्वयं भी थोड़ासा ग्रहण किया। उस समय उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता था, मानो वे ध्यान में निमग्न हैं।

लगभग ग्यारह बजे श्रीमां कोयालपाड़ा पहुँचीं। कुछ देर बाद खोजने पर उनकी एक मच्छरदानी नहीं मिली। इस पर उन्होंने कहा था, "सभी असगुन देख रही हूँ।" (उस ओर मार्ग में किसी चीज का खो जाना अशुभ-सूचक माना जाता है।)

उसी दिन शाम को श्रीमां की संगिनियाँ राधू आदि पाँच बैलगाड़ियों में विष्णुपुर की ओर रवाना हुईं। श्रीमां उस रात कोयालपाड़ा में रहीं। दूसरे दिन सवेरे श्रीरामकृष्ण देव की पूजा आदि समाप्त कर वे यात्रा के लिए तैयार हुईं। सेवक ने जगदम्बा-आश्रम में पहुँचते ही सुना — श्रीमां ठाकुर से कह रही हैं, "उठो, रवाना होने का समय हो गया।" फिर उन्होंने ठाकुर के चित्रपट को कपड़े

में लपेटकर वकस में रखा। सेवक को देखते ही उन्होंने कहा, "आ गये ? इतनी देर क्यों की ? धूप हो जायगी। इस यात्रा का फूल लो।" इतना कहकर एक निर्माल्य अपने सिर से छुलाकर सेवक के हाथ में देते हुए कहा, "कपड़े के छोर में वाँध लो।"

आश्रमवासियों से विदा लेकर श्रीमाँ पालकी पर चढ़ीं। एक आश्रमवासी सिर नीचा करके पालकी के पास खड़ा हुआ था — उसके नेत्र-कोनों में अश्रु-विन्दु झलझल कर रहे थे। यह देखकर श्रीमाँ ने कहा, "वेटा, शरत् रहा।" उनकी इस उक्ति के साथ सामयिक परिस्थितियों का कोई मेल न पाकर आश्रमवासी स्तब्ध हो गये।

कोतलपुर से विष्णुपुर का रास्ता कहीं-कहीं पर वीहड़ जंगल में से होकर जाता था। इस मार्ग पर दिन के समय भी डाकुओं का डर वना रहता था। श्रीमाँ और उनकी भतीजी माकू दो पालकियों में जा रही थीं। सेवक साइकिल में साथ-साथ चल रहा था। फिर भी श्रीमाँ ने उसे पास-पास रहने के लिए कहा। सेवक ने शिविकावाहकों के सरदार से श्रीमाँ के भय की वात कही। सरदार साहस देता हुआ वोला, "हम इतने कहार हैं और हर एक के एक-एक मजवूत लाठी है — पालकी के नीचे रखी हुई है।"

लगभग दो वजे श्रीमाँ निर्विघ्न विष्णुपुर के भक्त सुरेश्वरवावू के मकान में पहुँचीं। विष्णुपुर में एक दिन विश्राम लेकर, १५ फाल्गुन, वंगाब्द १३२६ (२७ फरवरी, १९२० ई.) की रात को श्रीमाँ सवको लेकर कलकत्ता आयीं। उनका अस्थिमात्र शरीर देखकर गोलाप-माँ आदि स्त्री-भक्त वड़ी शंकित हो कह उठीं, "तुम लोगों ने माँ का यह क्या हाल कर दिया ? माँ का स्वास्थ्य इतना खराव होगा, यह तो हम लोग विलकुल न जानते थे।"

स्वामी सारदानन्दजी ने विशेष तत्परतापूर्वक दूसरे दिन से ही श्रीमाँ की सुचिकित्सा की व्यवस्था कर दी। एक के वाद एक

होमियोपैथी, आयुर्वेदिक और ऐलोपैथिक चिकित्साएँ होने लगीं। कलकत्ते के प्रसिद्ध चिकित्सकों के अनुसार दवाइयों, सुपथ्य और जी लगाकर सेवा-टहल करने में कोई कसर न रखी गयी। और समय की तरह इस बार भी माँ धीरे-धीरे स्वस्थ हो उठेंगी — इस आशा से धीरज धरकर सेवक-सेविकाएँ अथक रूप से सेवा किये जा रहे थे।

श्रीमाँ के कलकत्ता-आगमन के तेरह-चौदह दिन बाद भी जब होमियोपैथिक चिकित्सा से कोई विशेष फल न हुआ, तब आयुर्वेदिक चिकित्सा शुरू की गयी। उससे ज्वर थोड़ा उतर गया। इससे सबका हृदय आशा से भर गया।

श्रीमाँ का शरीर विशेष रूप से रुग्ण होने के कारण भक्तों के दर्शन आदि बन्द थे। इस बीच जिस दिन वे कुछ अच्छी रहतीं, उस दिन सबको दर्शन देतीं, आशीर्वाद देतीं। दो-एक लोगों को उन्होंने दीक्षा भी दी थी। इस बारे में वे किसी का निषेध नहीं मानती थीं।

एक दिन शाम को एक महिला-भक्त श्रीमाँ के दर्शनार्थ आयी। उस पर श्रीमाँ की बड़ी कृपा थी। वे उसकी सेवा आदि भी ग्रहण करती थीं। उसके आते ही श्रीमाँ ने उससे कहा, "जरा हाथ दो तो, बेटी, पकड़कर उठूँ। बुखार आता ही रहता है, शरीर एकदम दुर्बल हो गया है।" उसका हाथ पकड़कर माँ बड़े कष्ट से उठ पायीं। बगल के नलघर में जाना चाहती थीं। धीरे-धीरे चौखट के पास आकर कहा, "अरे, यह देखो, कौन यहाँ एक लाठी रख गया है। कुछ दिन से सोच रही थी —एक लाठी मिले, तो उसके सहारे थोड़ा चलूं-फिरूँ। सो ठाकुर ने ठीक जुटा दिया!"

लाठी को हाथ में लेकर देखा। बाद में हँसते-हँसते कहने लगीं, "मैंने पूछा — कौन लाठी भूल गया है? पर कोई बता न सका।"

श्रीमाँ लगातार ज्वर से पीड़ित थीं। उनका वह अस्थिमात्र, रक्तहीन शरीर देखकर सबकी आँखों में आँसू भर आते थे। पर इधर

वे मूर्तिमती सहिष्णुता की भाँति सब कुछ चुपचाप सहे जा रही थीं। सर्वदा प्रफुल्ल-चित्त रहतीं। किसी को अपने दु:ख-कष्ट का तनिक-सा भी आभास नहीं लगने देतीं। माँ का कष्ट देखकर एक ब्रह्मचारी-शिष्य सोचने लगे—'माँ की बीमारी मेरे शरीर में आ जाय, तो अच्छा हो। माँ अच्छी रहें। उनका स्वास्थ्य अच्छा रहे, तो कितने लोगों का कल्याण हो सकेगा!' यह दृढ़ संकल्प करके उन्होंने माँ के पास अपनी यह आन्तरिक इच्छा प्रकट की, "माँ, आप इतना कष्ट पा रही हैं, अपनी बीमारी मुझे दे दें।"

सुनकर माँ चौंक उठीं, कहने लगीं, "कहते क्या हो, बेटा? माँ क्या कभी लड़के को बीमारी दे सकती है? लड़के के कष्ट से माँ को तो और भी कष्ट होता है। डरो मत, बेटा, ठाकुर की इच्छा से मैं अच्छी हो उठूँगी।"

श्रीमाँ चुपचाप सहती जा रही थीं। सेवकगण अकेले में आँसू बहाते थे। उनका शरीर तिल-तिल करके नष्ट होता देख सन्तानों की छाती फटी जाती थी। एक दिन संन्यासी-शिष्यगण कहने लगे, "इस बार माँ के अच्छी हो जाने पर और किसी को दीक्षा नहीं लेने देंगे। दुनिया-भर के लोगों के पाप का भार लेने के कारण ही तो उन्हें इतना दु:ख भोगना पड़ रहा है!"

श्रीमाँ ने चुपचाप सब सुन लिया। फिर थोड़ा हँसकर बोलीं, "क्यों भला? अबकी बार ठाकुर क्या खाली रसगुल्ला खाने ही आये थे?"

इस पर क्या और कोई बात कही जा सकती है? सभी चुप हो रहे, उनके मुख म्लान हो गये। यह कृपा के कारण देह-धारण, कृपा के कारण जीव-त्राण, और स्वेच्छा से दु:ख-वरण है! अथवा, इस अशेष दु:ख-भोग के बीच भी प्रगाढ़ शान्ति, असीम तृप्ति और निर्मल आनन्द है! 'यस्मिन् स्थितो न दु:खेन गुरुणापि विचाल्यते', वही तो हैं वे!

जयरामवाटी की बात है। श्रीमां वहीं थीं। एक दिन सवेरे सात-आठ बजे तीन भक्त स्वामी ब्रह्मानन्दजी का पत्र लेकर दीक्षा के लिए जयरामवाटी में उपस्थित हुए। श्रीमां को वह चिट्ठी पढ़कर सुनायी गयी। भक्त प्रणाम करने गये। उनको देखते ही मां पैर समेटकर बैठ गयीं। बाकी समय गठिया के कारण वे पैर फैलाकर ही बैठती थीं और भक्तों के प्रणाम करने के समय भी उनके पैर फैले रहते थे। इन भक्तों के प्रणाम करके बाहर जाते ही वे करुण-स्वर से कहने लगीं, "आखिर राखाल ने क्या मेरे लिए यही भेजा ? लड़के लोग बाहर देश से मां के लिए कितनी अच्छी-अच्छी चीजें भेजते हैं, और राखाल ने मेरे लिए यही भेजा ?" वे उन भक्तों को दीक्षा देने के लिए राजी न हुईं, उन लोगों को बेलुड़-मठ लौट जाने के लिए कह दिया।

भक्त फिर से मां के पास आये और कातर होकर दीक्षा के लिए प्रार्थना करने लगे। पर मां सहमत न हुईं। उन लोगों के बाहर चले जाते ही वे श्रीरामकृष्ण देव से कुछ मान करने के स्वर में कहने लगीं, "ठाकुर, कल भी मैंने तुमसे (कोई दीक्षार्थी न आने के कारण) प्रार्थना की थी कि दिन व्यर्थ न चला जाय। और अन्त में तुम यही ले आये ?"

बाद में बहुत देर तक सोच-विचारकर उन्होंने अन्त में उन भक्तों को दीक्षा देना स्थिर किया; कहा, "जब तक शरीर है, ठाकुर, तुम्हारा काम किये जाऊँ।" उन भक्तों की दीक्षा हो गयी।

इस घटना के कुछ दिन बाद की बात है। बेलुड़-मठ में, दुमंजिले के गंगा-ओर के बरामदे में स्वामी ब्रह्मानन्द, प्रेमानन्द, शिवानन्द और सारदानन्द बैठे हुए थे। उन्हें जयरामवाटी के इस दीक्षा-दान के सम्बन्ध में पूरा-पूरा विवरण सुनाया गया। सुनकर ब्रह्मानन्दजी तो सिर लटकाकर स्तब्ध हो रहे। शिवानन्दजी और सारदानन्दजी भी एकदम चुप हो रहे। प्रेमानन्दजी कुछ क्षण बाद लम्बी सांस छोड़ते हुए, हाय



जयरामवाटी में माँ

जोड़कर, गम्भीर आवेग-भरे स्वर से कहने लगे, "कृपा, कृपा ! इस महिमामय कृपा द्वारा ही माँ हम लोगों की सारे समय रक्षा कर रही हैं ! उन्होंने स्वयं कैसा विष ग्रहण कर लिया, यह हम शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकते ! यदि हम लोगों ने इस विष को लिया होता, तो जल-भुनकर राख हो जाते ! "

शिवावतार में शिव विष-पान करके नीलकण्ठ हो गये थे, रामकृष्ण-अवतार में बहुत से लोगों का पाप अपने ऊपर लेने के कारण कण्ठ-रोग उनका भूषण हुआ था, और सारदा देवी के जीवन में दूसरों के पाप पचाते-पचाते उनके सारे शरीर में भीषण दाह होने लगा था। फिर भी उनके अन्तिम जीवन में उनकी लीला-देह में केवल कृपा की ही दीप्ति थी। तभी तो उन्होंने हँसते हुए कहा था, "क्यों भला, ठाकुर क्या खाली रसगुल्ला खाने ही आये थे ? "

* * * *

आयुर्वेदिक चिकित्सा से श्रीमाँ का ज्वर कुछ उतर गया। सबके हृदयों में कुछ आशा का संचार हुआ। और बार की भाँति इस बार भी राधू, नलिनी, माकू आदि भतीजियाँ माँ के साथ आयी थीं। राधू का लड़का बनू भी था। माँ के प्रति राधू का अत्याचार मानो कदम-कदम बढ़ता जा रहा था। माँ इधर इतनी बीमार थीं, पर राधू की उस ओर तनिक भी नजर न थी, वह तो अपने ही विचारों में मस्त थी। अब तक श्रीमाँ उसके सारे अत्याचार सहती रहीं, पर अब धीरे-धीरे उनके लिए भी वह सब असह्य हो उठा। एक दिन एक महिला-भक्त माँ के पास आयी। उसके पास खेद प्रकट करते हुए माँ ने कहा, "हाय बेटी, इस राधू के लिए तो मेरा सब कुछ गया — देह, धर्म, कर्म, अर्थ — जो कुछ कहो, सब ! लड़के को तो वह मार ही डालती थी। यहाँ आकर सरला (सेविका) के हाथ सौंप देने से वह बच गया। फिर कांजिलाल भी देख रहा है।" . . .

इसी समय डाक्टर कांजिलाल माँ को देखने आये। राधू ने भी आकर कहा, "मेरा हाथ देखो तो। नीचे लोहे के खम्भे से टकराकर फूल गया है, कहीं-कहीं छिल जाने से खून भी निकला है।" डाक्टर के देखकर चले जाने पर माँ दुःख प्रकट करती हुई कहने लगीं, "हाय, मेरी बच्ची को कितनी चोट लग गयी! आह, बेचारी मेरी, जन्म-दुःखिनी है। शरीर में भला कुछ रह गया है! अरे देखो, कांजिलाल से जरा दवा देने को कह दो। उसे अच्छी कर दे!" इसी भाँति योगमाया का खेल चल रहा था।

एक महिला-भक्त एकान्त में श्रीमाँ को अपने दर्शन और अनुभूति के सम्बन्ध में बतला रही थी। उन्होंने एकाग्र-चित्त से सब सुनकर कहा, "अहा! वैसा आनन्द क्या रोज मिलता है, बेटी? सब सत्य है, सब सत्य है। कुछ भी मिथ्या नहीं है, बेटी। वे ही सब हैं। वे ही प्रकृति हैं, वे ही पुरुष हैं। उन्हीं को पकड़े रहो, सब कुछ मिलेगा।"

महिला-भक्त अपनी अनुभूति के सम्बन्ध में कह रही है, "किसी-किसी दिन गम्भीर रात्रि में ध्यान करते समय एक ध्वनि सुन पाती हूँ — अधिकांश समय उसे शरीर के दाहिनी ओर से उठते हुए सुनती हूँ। कभी-कभी (मन थोड़ा नीचे आने पर) बायीं ओर से उठते हुए भी सुनती हूँ।"

श्रीमाँ ने कुछ सोचकर कहा, "हाँ, दाहिनी ओर से ही होती है। बायीं ओर से उठना देह-भाव से होता है। कुण्डलिनी जागृत होने पर ये सब अनुभव होते हैं। दायीं ओर से जो उठती है, वही ठीक है। अन्त में मन ही गुरु हो जाता है। मन स्थिर करके यदि कोई दो मिनट भी उन्हें (भगवान को) पुकार सके, तो वह भी अच्छा।"

* * * *

आयुर्वेदिक चिकित्सा से ज्वर लगभग दो सप्ताह बन्द रहने के बाद फिर से श्रीमाँ को ज्वर हो आया। अतः लाचार हो ऐलोपैथिक

चिकित्सा शुरू की गयी। धीरे-धीरे श्रीमाँ अधिकाधिक ध्यानमग्न रहने लगीं; सर्वदा अनमनी-सी रहती थीं, मानो उनका मन असीम-ज्योति के राज्य में उड़कर विचरण कर रहा था। ज्वर फिर से बढ़ता चला।

चैत्र मास में, एक दिन श्रीमाँ के शरीर को अत्यन्त दुर्बल देखकर एक संन्यासी-शिष्य बहुत दुःख प्रकट करते हुए कहने लगे, "माँ, इस बार आपका स्वास्थ्य बहुत ही गिर गया है। इतना दुर्बल शरीर मैंने कभी नहीं देखा।"

श्रीमाँ धीरे-धीरे कहने लगीं, "हाँ बेटा, शरीर बड़ा दुर्बल हो गया है। अब मन सर्वदा उन्हीं को चाहता है, और कुछ अच्छा नहीं लगता। यही देखो न, राधू को कितना चाहती थी, उसकी सुख-सुविधा के लिए मैंने क्या नहीं किया है; पर अब भाव बिलकुल उलटा हो गया है। उसके सामने आने से विरक्त हो उठती हूँ; सोचती हूँ — क्यों वह सामने आकर मेरे मन को नीचे लाने की कोशिश कर रही है? ठाकुर अपने काम के लिए अब तक इन सबके द्वारा मन को नीचे रखे हुए थे, नहीं तो उनके चले जाने के बाद क्या मेरा रहना सम्भव होता था?"

श्रीमाँ मानो श्रीरामकृष्ण देव का आह्वान सुन पा रही थीं। स्वेच्छा से लिये हुए उनके सारे माया के आवरण अब हटते जा रहे थे। वे भी मानो महाप्रयाण के लिए प्रस्तुत होने लगीं।

एक दिन दोपहर को लगभग एक-दो बजे बुखार तेज होने लगा। सेवक बरदा नित्य की भाँति उनकी खाट के पास बैठकर हवा कर रहा था और उनके मस्तक पर गीला हाथ फेर रहा था। श्रीमाँ स्नेहपूर्वक सेवक-सन्तान की छाती और पीठ पर हाथ फेरने लगीं और उसके विषण्ण मुख की ओर देखकर करुण-स्वर से कहने लगीं, "शरीर के चले जाने पर तुम लोगों को बहुत दुःख होगा, यह मैं समझ रही हूँ।"

सेवक की आँखें डबडबा आयीं; सिर नीचा करके अपने को सँभालकर उसने कहा, "मां, वह सब आप क्या कह रही हैं? दवा-पानी से जब उतना लाभ नहीं हो रहा है, तो ठाकुर से स्वास्थ्य के लिए थोड़ा कहिए न! उसी से सब अच्छा हो जायगा।"

श्रीमां ने मन्द हँसी के साथ कहा, "कोयालपाड़ा में मुझे इतने जोर का ज्वर होता था कि मैं बेहोश हुई बिस्तर पर अस्तव्यस्त भाव से पड़ी रहती थी। पर होश आने पर जब कभी शरीर के लिए उनका (ठाकुर का) स्मरण करती थी, तभी उनके दर्शन मिलते थे।... तुम लोगों की ओर देखकर क्या मैं बीच-बीच में शरीर की बात ठाकुर से नहीं कहती? पर अब जब कभी शरीर के लिए उनका स्मरण करती हूँ, तब तो किसी प्रकार उनके दर्शन नहीं मिलते। मुझे लगता है, उनकी इच्छा नहीं है कि यह शरीर रहे। (तुम लोगों की देख-भाल के लिए) शरत् रहा।"

सारी चिकित्साएँ व्यर्थ हुईं। रोग दिन-पर-दिन बढ़ता ही चला। कलकत्ते के सबसे बड़े डाक्टर नीलरतन सरकार को भी लाया गया। उन्होंने कहा कि काला-ज्वर हो गया है। तदनुसार चिकित्सा चलने लगी, पर ज्वर थोड़ा भी कम न हुआ। दिन में तीन-चार बार बुखार चढ़ आता था। पित्त-प्रधान ज्वर था, इस कारण शरीर में असह्य जलन होती थी। मां कहतीं, "पानापुकुर (एक तालाब) में डूबे रहने का जी करता है।"

तब गरमी के दिन थे। एक दिन बहुत दूर जाने पर बरफ मिली। इधर मां का बुखार चढ़ रहा था, शरीर में भीषण जलन हो रही थी। बरफ को कपड़े में लपेटकर उस पर मां का हाथ रखते ही उन्हें आराम मिला। वे सेवक का नाम लेकर कह उठीं, "ओ रासबिहारी, यह कहां से पाया तुमने?"

इतने कष्ट और बीमारी की दशा में भी सब कोई श्रीमां का

स्नेह-स्पर्श पाते थे। सेवक सवेरे डाक्टर के पास जानेवाला था, अतः वह रोग का विवरण पूछने श्रीमाँ के पास आया। माँ स्नेह-भरे स्वर से बोलीं, "खाकर जाना, आते देर हो जायगी।"

डाक्टर और वैद्य उन्हें देखने आते थे। वे प्रत्येक का नाम ले-लेकर स्वयं फल-मिठाई आदि दिलवाती थीं। एक दिन आरामबाग से कुछ परिचित भक्त आये। बहुत धीमे स्वर में श्रीमाँ रुक-रुककर उन लोगों से पूछने लगीं, "अच्छे हो, बेटा? कुछ खाया नहीं जाता। दुर्बल हो गयी हूँ। . . . बरदा (श्रीमाँ का तृतीय भाई) चल बसा।"

देश की खबर भी लेने लगीं, "उधर पानी बरसा है?" फिर भक्तों से सस्नेह पूछने लगीं, "प्रसाद ग्रहण करोगे न?"

कुछ दिन पहले आरामबाग के भक्तों ने रमणी नामक एक स्त्री के हाथ से श्रीमाँ के लिए कुछ कच्चे ताड़-फल भेजे थे। वह स्त्री श्रीमाँ की परिचित थी, कई बार कुछ सामग्रियाँ लेकर जयरामबाटी भी गयी थी। उसके सम्बन्ध में माँ कहने लगीं, "रमणी कब आयी थी पता नहीं; बुखार के कारण होश नहीं था। उससे कहना कि मन में दुःख न लाये।"

काशी में स्वामी अद्भुतानन्दजी सख्त बीमार थे। श्रीमाँ रोग-शय्या में पड़ी हुई उनकी खबर सुन रही थीं। उनके लिए भी माँ की कितनी उत्कण्ठा थी! काशी से कोई आते ही वे खोज-खबर लेतीं, पूछतीं, "लाटू कैसा है?"

'निर्मनिमोहा' माँ धीरे-धीरे माया का त्याग कर अपने स्वरूप में लीन हुई जा रही थीं। इसी समय की बात है, माँ के (तृतीय) भाई बरदा कठिन निमोनिया से चल बसे। माँ को केवल उनकी बीमारी की खबर ही दी गयी। उनकी मृत्यु का संवाद माँ की अस्वस्थता को देखते हुए उनसे गुप्त रखा गया। तो भी माँ ने वह जान लिया, कहा, "बरदा शायद चल बसा? मैंने देखा, (बरामदे के)

जँगले के पास खड़ा मेरी ओर ताक रहा है।" तव उन्हें सारी वात वतलायी गयी। स्नेहास्पद भाई के मृत्यु-संवाद पर श्रीमाँ ने वस सामयिक शोक-प्रकट मात्र किया।

इस घटना के कुछ दिन वाद ही एक ब्रह्मचारी आया। वह जयरामवाटी में श्रीमाँ का सेवक था, माँ के भाइयों को घनिष्ठ रूप से जानता था। ब्रह्मचारी से वातचीत के प्रसंग में श्रीमाँ ने कहा, "सुना तुमने, वरदा अव नहीं रहा।" माँ की वाणी में शोक का लेशमात्र न था, इसी लिए उनकी वात का मर्म समझने में असमर्थ हो ब्रह्मचारी केवल उनके मुख की ओर ताकता रहा। माँ ने तव स्पष्ट करते हुए कहा, "अरे, जयरामवाटी के फुदे (क्षुदे) का वाप।" यहाँ तक कि, उन्होंने 'मेरा भाई' कहकर भी उल्लेख नहीं किया!

श्रीमाँ का अपार्थिव मन अव धीरे-धीरे स्वरूप में लीन होता जा रहा है, यह वात दिन-पर-दिन छोटी-वड़ी अनेक घटनाओं से प्रकट होने लगी। वे अव राधू आदि की वहुधा खोज-खवर नहीं लेती थीं। उनके सामने आने पर भी वे मानो विरक्त हो, कुछ क्षण वाद ही अपना मुँह फेर लेती थीं।

स्त्री-पुरुष सव भक्तों के लिए दर्शन आदि वन्द थे। तो भी जो-जो श्रीमाँ के विशेष परिचित थे, ऐसे दो-एक भक्त उनके पास आते रहते थे। गौरी-माँ — दक्षिणेश्वर-जीवन की माँ की वह गौरदासी, माँ की सेविका-संगिनी, ठाकुर की शिष्या — प्रतिदिन गंगा-स्नान के वाद थोड़ी देर के लिए माँ के पास आती थीं। माँ का उन पर वहुत प्यार था, वड़ी कृपा थी।

गौरी-माँ रोज सवेरे आती थीं। जैसा वन पड़ता, श्रीमाँ की कुछ सेवा करतीं — हुआ तो थोड़ी देर पंखे से हवा कर दी, या और कुछ। इसी से उन्हें परम सन्तोष होता था। किन्तु एक दिन उनके आते ही श्रीमाँ का सहसा भावान्तर हो गया, वे कुछ कड़े स्वर से कह

उठीं, "मुझे स्पर्श न करो। रोज क्या करने, क्या देखने आती हो? मुझे क्यों इस तरह सताने आती हो?"

श्रीमाँ की इस अचिन्तनीय उदासीनता से गौरी-माँ स्तम्भित रह गयीं। शुष्क नेत्रों से श्रीमाँ की ओर देखती हुई वे कातर-कण्ठ से बोलीं, "माँ, आप इतनी बीमार हैं, इससे हम लोगों के मन में शान्ति नहीं है।... इसी लिए रोज एक बार आपको देखने आ जाती हूँ।"

श्रीमाँ ने कुछ चुप रहकर कहा, "...यदि आओ भी, तो मेरे कमरे में न आना, दरवाजे के बाहर से देख जाना, और कोई बातचीत न करना।"

गौरी-माँ के मुँह पर मानो ताला पड़ गया। रोते-रोते उन्होंने विदा ली। उसके बाद भी वे प्रतिदिन आतीं, पर माँ के कमरे के दरवाजे के बाहर बहुत देर तक चुप बैठी रहतीं और हृदय की वेदना आँखों के रास्ते आँसुओं के रूप से प्रकट करतीं। माँ सब कुछ देखतीं, पर वे अचल, अटल, निर्विकार पड़ी रहतीं। एक-एक करके वे सारे माया-बन्धन काटती जा रही थीं।

बुखार बढ़ने पर वे छटपटाने लगतीं और अकसर कहतीं, "मुझे गंगा के तट पर ले चलो, गंगातीर पर मैं ठण्डी होऊँगी।" वे मानो मायिक घेरे से निकल जाना चाहती थीं। शरत् महाराज गंगा के तीर पर मकान की खोज में थे। इधर माँ को काशी ले जाने की भी बात चल रही थी; पर डाक्टरों ने माँ की इस दशा में स्थानान्तर करने की सम्मति नहीं दी।

बुखार जाता ही नहीं था। चिकित्सकों को कुछ सूझ न पड़ता था। चिकित्सा बदल दी जाती थी, पर किसी से कुछ लाभ न हो रहा था। दो महीने पहले ही वैद्यराज ने कह दिया था, "आप लोगों के भक्तों में से जो कोई (श्रीमाँ के) दर्शन करना चाहें, उन्हें आप लोग खबर दे सकते हैं; क्योंकि इस बीमारी से अच्छी होने की अब आशा नहीं है।"

इसी समय की बात है। एक दिन सहसा श्रीमाँ ने राधू को बुलवाया और उससे कहा, "देख, तू जयरामवाटी चली जा, यहाँ और न रह।" राधू विह्वल हो श्रीमाँ की ओर ताकती रह गयी। सेविका से श्रीमाँ ने कहा, "शरत् से कहो कि इन सबको जयरामवाटी भेज दे।" सेविका तो स्तब्ध रह गयी! सोचने लगी — राधू तो उनके श्वास-प्रश्वास के समान है, और उसी राधू को वे हटा देना चाहती हैं! इसी लिए उसने पूछा, "उन लोगों को भिजवा देने के लिए आप क्यों कह रही हैं? राधू को छोड़कर आप रह सकेंगी?"

माँ ने सहज-स्वर से कहा, "बिलकुल रह सकूँगी, मन उठा लिया है।"

सेविका ने जाकर शरत् महाराज को श्रीमाँ का निर्देश बतलाया। योगीन-माँ ने भी सुना। सभी विशेष चिन्तित हो पड़े। योगीन-माँ ने उसी समय जाकर माँ से पूछा, "क्यों माँ, उन लोगों को भेज देने के लिए क्यों कह रही हो भला?"

उन्होंने उत्तर दिया, "योगेन, इसके बाद तो उन्हें वहीं रहना होगा! हरि (सेवक) जा रहा है, उसके साथ उन लोगों को भेज दो। मन उठा लिया है, अब और नहीं चाहती।" यह तो उन सारदा देवी की वाणी नहीं थी, जो राधू को प्राण से भी अधिक प्यार करती थीं!

योगीन-माँ ने विनती करते हुए कहा, "वह बात न कहो, माँ! तुम अगर मन उठा लो, तो हम लोग कैसे रहेंगी?"

श्रीमाँ जरा भी नरम न पड़ीं; असीम की ओर देखते हुए उन्होंने कहा, "योगेन, माया को हटा दिया है, अब और नहीं।"

योगीन-माँ के मुख से शब्द न निकले। वे सिर झुकाकर, भरे-नेत्रों से चली गयीं और शरत् महाराज को सारी बातें सुनायीं। उन्होंने चुपचाप सब सुना; फिर लम्बी साँस छोड़ते हुए म्लान-मुख से कहा,

"तब तो माँ को और रखा नहीं जा सकता। राघू पर से जब उन्होंने मन उठा लिया है, तब और आशा नहीं।"

सेविका पास ही खड़ी हुई थी। उसे लक्ष्य करते हुए शरत् महाराज ने कहा, "देखो, तुम लोग बहुत समय से माँ के पास हो; जरा प्रयत्न करके देखो, जिससे उनका मन राधू पर आ जाय।" पर हजार प्रयत्न करने पर भी कुछ न हुआ। एक दिन माँ ने काफी जोर के साथ सेविका से कहा, "जिस मन को उठा लिया है, वह अब नीचे नहीं आयगा, यह निश्चय जानना।"

अनेक वर्ष पूर्व श्रीमाँ ने एक दिन कहा था, "देखो, सब कोई कहते हैं कि मैं 'राघू-राघू' करके पागल हो गयी हूँ, उस पर मेरी बड़ी आसक्ति है! यह आसक्ति यदि न रहती थी, तो ठाकुर का शरीर चला जाने पर यह देह न रहती। उन्होंने अपने काम के ही लिए 'राघू राघू' करवाते हुए इस शरीर को रखा है। जब उस पर से मन चला जायगा, तब यह देह और न रहेगी।"

श्रीमाँ की यह वाणी अब मर्मवेदना के हाहाकार-रूप से भक्तों के मन में गूँजने लगी। सभी सोचने लगे — हाय! राघू पर से तो अब माँ का मन उठा जा रहा है, अब क्या होगा!

सत्यसंकल्प माँ का यह दृढ़ निश्चय धीरे-धीरे स्पष्टतर होने लगा। इससे सन्तानों के मन में गम्भीर विषाद की कालिमा छा गयी। मातृ-सदन 'उद्बोधन' में सर्वत्र नैराश्य का घना अन्धकार जम गया।

श्रीमाँ की कुछ सेवा करने की आशा लेकर बहुत से लोग उद्बोधन-मठ में उपस्थित होने लगे। पर ऐसी कठिन बीमारी में भी श्रीमाँ किसी से भी सेवा कराते हुए बड़ी ही कुण्ठित हो जाती थीं। वे किसी को भी अपनी सेवा करने का कोई अवसर नहीं देती थीं।

एक दिन की बात है। श्रीमाँ का दोपहर का पथ्य ग्यारह बजे के भीतर ही हो गया। वे तखत पर करवट से सोयी हुई थीं। उन्हें

नींद लाने के लिए सेवक धीरे-धीरे हवा कर रहा था। चार-पांच मिनट बाद ही माँ ने कहा, "और नहीं चाहिए, तुम्हारा हाथ दर्द करता होगा।"

सेवक — "नहीं, माँ, यह तो छोटासा पंखा है। मेरे हाथ जरा भी नहीं दुख रहे हैं। यदि दर्द होने लगे, तो मैं स्वयं बन्द कर दूंगा।"

थोड़ी देर आँखें मूँदकर श्रीमाँ ने पुनः कहा, "नहीं, बेटा, तुम्हारे हाथ में दर्द होगा। रहने दो, मैं ऐसे ही थोड़ा आँखें झपकाती हूँ।"

कुछ क्षण चुप रहकर पुनः कहने लगीं, "बेटा, तुम्हारे हाथ दुखने लगेंगे, यह सोचकर मुझे नींद नहीं आ रही है। तुम पंखा झलना बन्द कर दो, तो मैं भी निश्चिन्त होकर सोऊँगी।"

लाचार हो सेवक को पंखा झलना बन्द करना पड़ा, उसे दस मिनट भी हवा करते न हुआ होगा।

बीमारी बढ़ती ही चली। दुर्बलता भी उतनी ही बढ़ने लगी। शरीर में कुछ न रह गया। वे अब बगल के नलघर में भी नहीं जा सकती थीं। लीला-संवरण के लगभग एक महीना पूर्व उन्होंने श्रीरामकृष्ण देव के नित्य-पूजित चित्रपट को दूसरे कमरे में ले जाने का निर्देश दिया। इसका कारण समझने में असमर्थ हो सब कोई अवाक् हो गये। तब उन्होंने समझाते हुए कहा, "अब से शौचादि के लिए नलघर में जाना न हो सकेगा, तब यहाँ ठाकुर की पूजा फिर कैसे होगी ?" उसके कुछ दिन बाद उन्होंने कमरे की खाट हटा देने के लिए कहा और जमीन पर ही उनका बिस्तर लगाने का निर्देश किया।

सेवक हरि के जयरामबाटी चले जाने पर एक दिन श्रीमाँ ने सेवक बरदा से कहा, "राधू, नलिनी ये लोग हरि के साथ देश क्यों नहीं गयीं ? तुम उन सबको जयरामबाटी पहुँचा आओ।"

श्रीमाँ का निर्देश शरत् महाराज को बतलाया गया। वे बड़े चिन्तित हो पड़े। पर इधर एकदम से अपना कर्तव्य भी स्थिर न कर

सके। इधर श्रीमाँ की कठोर उदासीनता देखकर नलिनी, माकू आदि को उनके सामने जाने का भी साहस न होता था। नलिनी कहने लगी, "यदि हम लोगों के रहने से बूआ को कष्ट होता हो, तो हम क्यों न चली जायँ। पर लोग क्या कहेंगे?" अतः सारदानन्दजी ने आकर माँ से कहा, "आपकी ऐसी बीमारी के समय इन लोगों को जाने में कष्ट होगा। आपके जरा अच्छी हो उठने पर वे लोग चली जायँगी।"

फिर भी माँ ने कहा, "सो भेज देने से ही अच्छा होता था। पर देखना, वे लोग मेरे पास न आयें। मैं अब उनकी छाया तक नहीं देखना चाहती।" महामाया ने अपनी योगमाया को त्याग दिया!

धीरे-धीरे रक्त की कमी के कारण श्रीमाँ के हाथ-पैरों में सूजन दिखाई देने लगी। निरुपाय हो स्वामी सारदानन्दजी ने अन्त में दैव-प्रतिकार का सहारा लिया। उन्होंने क्रिया-काण्ड में निपुण एक अच्छे ब्राह्मण द्वारा नाना प्रकार के शान्ति-स्वस्त्ययन आदि कराये। पर कोई फल न हुआ।

माँ चुपचाप रोग-यन्त्रणा सहे जा रही थीं। अधिकांश समय वे अन्तर्मुख होकर रहती थीं। उनके सारे जागतिक सम्बन्ध शिथिल हो गये थे। दिन-पर-दिन उनका स्वभाव एक छोटी बालिका के समान होता जा रहा था। छोटी-मोटी बातों में वे एक छोटे बच्चे के समान हठ करने लगती थीं।

एक रात लगभग बारह बजे सेविका यथारीति श्रीमाँ को पथ्य खिलाने आयी। पर माँ ने जिद पकड़ ली, "मैं नहीं खाऊँगी। बस तेरी एक ही बात है, 'माँ, खाओ' और 'बगल में डण्डी (थर्मामीटर) लगाओ'।"

श्रीमाँ जब ऐसा हठ करने लगतीं, तो उनसे कहा जाता — अच्छा, शरत् महाराज को बुलाऊँ? यह सुनते ही वे बच्चे के समान चुपचाप खाने लगतीं। इसी लिए उस समय भी सेविका ने कहा, "तो फिर, माँ, (शरत्) महाराज को बुलाऊँ?"

फिर भी खाने के लिए राजी न होकर माँ ने कहा, "हाँ, शरत् को वुला। मैं तेरे हाथ से नहीं खाऊँगी।"

खबर पाते ही शरत् महाराज झटपट चले आये। श्रीमाँ ने उन्हें पास वैठने का संकेत करते हुए सस्नेह कहा, "थोड़ा हाथ फेर दो तो, वेटा।" फिर उनका हाथ पकड़कर वोलीं, "देखो न, वेटा, ये सव मुझे कितना तंग करती हैं। इनकी वस 'खाओ, खाओ' की रट है और केवल जानती हैं वगल में डण्डी देना। तुम उससे कह दो कि मुझे दिक न किया करे।"

शरत् महाराज ने सान्त्वना देते हुए कहा, "नहीं, माँ, वे लोग अव आपको तंग न करेंगी।" क्षण-भर वाद ममता-भरे स्वर से पूछा, "माँ, अभी थोड़ा खायँगी ?"

शान्त वालिका की भाँति माँ ने कहा, "दो।"

शरत् महाराज ने सेविका को पथ्य लाने के लिए कहा। इस पर माँ वोलीं, "नहीं, तुम मुझे खिला दो, मैं उसके हाथ से नहीं खाऊँगी।"

'फीडिंग-कप' से थोड़ा दूव पिलाकर शरत् महाराज ने कहा, "माँ, जरा सुस्ताकर पीजिए।"

माँ यह सुनकर स्नेह से द्रवीभूत हो गयीं, वोलीं, "देखो भला, कैसी सुन्दर वात कही, 'माँ, जरा सुस्ताकर पीजिए।' ऐसी वात कहना उन लोगों को नहीं आता? देखो तो, वच्चे को इस रात में कष्ट दिया! जाओ, वेटा, जाकर सोओ।" और यह कहते-कहते सन्तान के शरीर पर स्नेह से हाथ फेरने लगीं।

सारदानन्दजी ने मसहरी गिराकर कहा, "तो अव चलूँ, माँ।"

कोमल स्वर से माँ ने कहा, "अच्छा, वेटा। अहा, वच्चे को कितना कष्ट हुआ!"

यद्यपि शरत् महाराज इतने वर्षों से श्रीमाँ के वीर-सेवक, 'माँ के वासुकी' थे, फिर भी उन्हें अव तक माँ की कोई शारीरिक सेवा

करने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ था। इस हेतु उनके प्राणों में एक गहरा दुःख बना हुआ था। अपनी मर्त्य-लीला के अन्तिम अंक में श्रीमाँ अपने 'भारवाहक' के मन की अप्रकट आकांक्षा को पूरा कर गयीं। सन्तापहारिणी किसी के भी हृदय में तिलमात्र भी क्षोभ या अभाव न रख गयीं; वे तो सभी सन्तानों के प्राणों को मधुमय परिपूर्णता से उच्छलित कर गयीं। अन्तिम बीमारी का अवलम्बन करके उन्होंने कितने ही भक्तों के मनोरथ पूर्ण किये थे, अपने चिन्मय स्वरूप की झलक देकर कितने ही हृदयों को दिव्य-आलोकमय कर दिया था! उन सब घटनाओं के समावेश के लिए हमारे पास स्थान नहीं है।

* * * *

एक दिन दोपहर को माँ जमीन पर बिस्तरे में लेटी हुई थीं। सेविकाएँ भोजन करने गयी थीं। सेवक बरदा माँ के पास बैठा हुआ उनकी सेवा में नियुक्त था। राधू भी बगल के कमरे में लेटी हुई थी। राधू का लड़का बनू घुटनों के बल चलता हुआ आया और माँ की छाती पर चढ़ने लगा। यह देख माँ बनू को लक्ष्य कर कहने लगीं, "तुम सबका माया-मोह मैंने बिलकुल काट डाला है। जा, जा, अब न सकेगा।" फिर सेवक से कहा, "इसे उठाकर उधर रख आओ। यह सब अब अच्छा नहीं लगता।" सेवक बनू को गोद में उठाकर ले गया और उसकी नानी के पास रख आया।

श्रीमाँ की बीमारी बढ़ती ही चली। शरीर सूखकर काँटा हो गया — बिस्तर के साथ मानो एक हो गया। चिकित्सकों ने आशा छोड़ दी। श्रीमाँ भी उत्कण्ठित हो श्रीरामकृष्ण देव के आह्वान की प्रतीक्षा करने लगीं। महाशक्तिरूपिणी ने जिस प्रकार अपनी प्रचण्ड शक्ति का — अपनी माया का आश्रय लिया था, उसी प्रकार निर्ममता से उन्होंने माया-अवलम्बन को समूल काट डाला।

श्रीमाँ की अपनी इच्छा नाम की कोई चीज न थी। वे तो श्रीरामकृष्ण देव की इच्छा का यन्त्रस्वरूप होकर इस संसार में रहती थीं। नर-देह में रहना, नर-लीला करना — यह भी श्रीठाकुर की इच्छा से ही हो रहा था। फिर अन्तिम दिनों में वे इसी भाव में डूबी रहती थीं कि "जब ठाकुर ले जायँगे, चली जाऊँगी।"

श्रीमाँ के स्वधाम को प्रस्थान करने के कुछ ही दिन पहले की बात है। राधू आकर सूखे मुँह से, डरती-डरती एक कोने में खड़ी हुई। श्रीमाँ ने कुछ अवज्ञा के स्वर में उससे कहा, "तिनके की तरह काट चुकी हूँ। तू अब मेरा क्या कर सकेगी? मैं क्या मनुष्य हूँ?" राधू के साथ यही उनकी अन्तिम बात थी।

बहुत दिन पूर्व श्रीमाँ ने एक सेवक से भगवान की अवतार-लीला का रहस्य प्रकट करते हुए कहा था, "... तालाब के पानी में चाँद की परछाईं देखकर छोटी-छोटी मछलियाँ आनन्द से उसके इर्द-गिर्द उछल-कूदकर खेलने लगती हैं, सोचती हैं — यह (चाँद) हमीं में से एक है। पर जब चाँद डूब जाता है, तो उनकी पहली-जैसी दशा हो जाती है। उछल-कूद के बाद शिथिलता आ जाती है — कुछ भी नहीं समझ सकतीं।" तभी तो राधू को सुनाते हुए उन्होंने कहा, "मैं क्या मनुष्य हूँ?" राधू ने महामाया को मानवी रूप से, बूआ के रूप से पाया था। माँ की यह बात सुनकर राधू चौंक उठी।

लीला-संवरण के एक सप्ताह पहले की बात है। सबेरे लगभग साढ़े आठ बजे श्रीमाँ ने शरत् महाराज को बुलवाया। खबर पाते ही वे चले आये और माँ के चरणों के पास घुटने टेककर बैठ गये। वे माँ के हाथ पर हाथ फेरने ही वाले थे कि माँ ने उनका हाथ अपने बायें हाथ के नीचे रखकर सहज-स्वर से कहा, "शरत्, ये सब रहे।" और इतना कहकर उन्होंने अपना हाथ उठा लिया।

शरत् महाराज श्रीमाँ का संकेत समझ गये। बड़े कष्ट से आँसू

रोककर वे विषण्ण-मुख से उठ खड़े हुए। हाथ जोड़कर धीरे-धीरे पीछे हटते हुए वे बाहर चले आये।

'माँ के भारवाहक' पर भार-अर्पण का समाचार फैलते ही सबका अन्तिम आशा-प्रदीप मानो हवा के एक झोंके से बुझ गया। सबने समझ लिया कि स्वरूप में लीन होनेवाले श्रीमाँ के मन को अब किसी प्रकार नीचे नहीं लाया जा सकेगा, वे देह छोड़ने के लिए कृत-संकल्प हो चुकी हैं, ठाकुर अपनी लीला-संगिनी को अमरधाम में ले जा रहे हैं। हृदय-हृदय में वेदना की रागिनी बज उठी। मातृ-सदन में निष्कम्प स्तब्धता उतर आयी।

भक्तगण प्रतिदिन आते थे। माँ की खबर सुनकर अश्रु-भरे नयनों से बहुत देर तक नीचे बैठकर चले जाते थे। सारे दिन भक्तों का आना-जाना लगा रहता था। बहुत से साधु-शिष्यों का भी समागम हो रहा था। संन्यासियों के जी में जी न रह गया था, सेवक-सेविकाओं को कुछ सूझ न पड़ता था। सर्वत्र नीरव हाहाकार हिलोरें ले रहा था। सब लोग यन्त्र के समान काम-काज किये जा रहे थे। ध्यानस्था श्रीमाँ मूर्तिमती प्रशान्ति के रूप से विराज कर रही थीं। उनके मुखमण्डल पर एक अनिर्वचनीय शान्ति और आनन्द की दीप्ति खेल रही थी। महाकाली मानो महाकाल के ध्यान में मग्न हो गयी हों!

देह-त्याग के पाँच दिन पहले की बात है। स्त्री-भक्त अन्नपूर्णा की माँ श्रीमाँ के दर्शनार्थ आयीं। अन्दर जाना मना था, इसलिए वे दरवाजे पर खड़ी होकर तृषित नयनों से श्रीमाँ की ओर देखने लगीं। माँ ने अचानक करवट बदली। उन महिला-भक्त को देखते ही उन्होंने इशारे से पास बुलाया। वे पास गयीं और प्रणाम करके रोते-रोते बोलीं, "माँ, हम लोगों का क्या होगा ?"

करुणारूपिणी क्षीण-कण्ठ से अभय देती हुई, रुक-रुककर कहने लगीं, "डर कैसा ? तुमने ठाकुर को देखा है, तुम्हें फिर डर कैसा ?"

थोड़ा रुककर फिर धीरे-धीरे कहने लगीं, "पर एक बात कहती हूँ — यदि शान्ति चाहो, बेटी, तो किसी का दोष मत देखना। दोष देखना अपना। संसार को अपना बना लेना सीखो। कोई पराया नहीं है, बेटी, यह सारी दुनिया तुम्हारी अपनी है।"

जिन लोगों के दुःख से विगलित हो परमाप्रकृति ने माया-देह धारण कर अपनी इच्छा से उनके पाप-भार अपने ऊपर ले लिये थे, उन आर्त-सन्तानों के प्रति यही उनकी अन्तिम शान्ति-वाणी थी। "ठाकुर हैं, मैं हूँ, फिर भय कैसा, बेटा!" — उनकी यह अभय-वाणी सन्तानों के हृदयों में सदैव गूंजती रहेगी।

अन्तिम तीन दिन श्रीमाँ ने विशेष कोई बात नहीं की। वे सारे समय मानो गहरी समाधि में मग्न होकर रहती थीं — प्रशान्त, स्थिर, गम्भीर। उस अपूर्व प्रशान्ति को भंग करने का किसी को भी साहस न होता था, इच्छा भी न होती थी।

शोक-विह्वल सेवक के प्रति सान्त्वना से भरे ये उनके अन्तिम शब्द थे, "शरत् रहा, डर क्या?"

श्रीरामकृष्ण देव के साथ श्रीसारदा देवी का चौंतीस वर्ष का स्थल विच्छेद समाप्त हुआ। बंगाब्द १३२७ के ४थे श्रावण, मंगलवार (२० जुलाई, १९२० ई.) की रात को डेढ़ बजे, शिवयोग से, ६६ वर्ष ७ मास की आयु में, मंगलमयी पराशक्ति श्रीमाँ का परमशिव श्रीरामकृष्ण के साथ चिरमिलन हो गया।

* * * *

दूसरे दिन सवेरे श्रीमाँ की दिव्य देह को गन्ध-पुष्प-माल्य आदि से सुशोभित कर, बागबाजार-मठ से विराट जुलूस के साथ, 'राम-नाम' कीर्तन करते हुए वराहनगर के मार्ग से बेलुड़-मठ लाया गया। श्रीमाँ की पूत देह के प्रधान वाहक हुए स्वामी सारदानन्द, शिवानन्द, मास्टर महाशय (श्री 'म') और अन्यान्य मातृहीन प्रौढ़ संन्यासी व भक्तगण।

स्त्री-भक्तों ने वेलुड़-मठ के सामनें की गंगा में श्रीमाँ की पवित्र देह को स्नान कराया, नया वस्त्र पहनाया और फूल-चन्दन से सुसज्जित किया। लगभग तीन वजे मठ-प्रांगण के निर्धारित स्थान में चन्दन-काष्ठ की चिता प्रज्वलित कर उसमें श्रीसारदा देवी की मर्त्य देह की आहुति दे दी गयी।

सन्ध्या के पूर्व, चिता वुझाने के लिए ज्योंही स्वामी सारदानन्दजी ने कलश से गंगा-जल ढाला, त्योंही आसमान फोड़कर घनघोर वर्षा आरम्भ हो गयी। सुरलोक से प्रकृति देवी सवके मस्तक पर मानो शान्ति-वारि वरसाने लगी !

इस पवित्र चिता-स्थान पर मातृ-मन्दिर निर्मित किया गया। वेलुड़-मठ महाशक्तिपीठ वन गया।

॥ ॐ श्रीसारदादेव्यर्पणमस्तु ॥



घटनापंजिका

घटना	ईसवी सन्	बंगाब्द	पृष्ठ
श्रीमाँ का आविर्भाव	२२ दिसम्बर, १८५३	पौष कृष्णा सप्तमी, १२६०	१
विवाह	मई, १८५९	वैशाख, १२६६	१३
दक्षिणेश्वर में प्रथम आगमन	मार्च, १८७२	चैत्र, १२७८	२७
षोड़शी-पूजा	५ जून, १८७२	ज्येष्ठ कृष्णा अमावस्या, १२७९	३९
पहली बार जयरामवाटी गमन	१८७३	श्रावण(?),१२८०	४४
पिता की मृत्यु	२६ मार्च, १८७४	१४ चैत्र, १२८०	४४
जयरामवाटी में प्रथम जगद्धात्री-पूजा	१८७५	१२८२	४७
सास का गंगा-लाभ	२७ फरवरी, १८७६	१६ फाल्गुन, १२८२	५०
शम्भु मल्लिक का गृह-दान	११ अप्रैल, १८७६	चैत्र, १२८२	५२
श्रीरामकृष्ण के कण्ठ-रोग का सूत्रपात	जून, १८८५	वैशाख, १२९२	१००
श्यामपुकुर में	अक्तूबर, १८८५	आश्विन, १२९२	१०१
काशीपुर में	११ दिसम्बर, १८८५	२७ अगहन, १२९२	१०३
श्रीरामकृष्ण का लीला-संवरण	१६ अगस्त, १८८६	३१ श्रावण,१२९३	११३
वृन्दावन-यात्रा	३० अगस्त, १८८६	१५ भादों, १२९३	११५
कलकत्ता लौटना	३१ अगस्त, १८८७	१५ भादों, १२९४	१२४
क़ामारपुकुर-गमन	इसके १५ दिन बाद		१२४

घटना	ईसवी सन्	बंगाब्द	पृष्ठ
कलकत्ते के 'बलराम-भवन' में	मई, १८८८	१२९५ का प्रारम्भ	१३३
बेलुड़ में नीलाम्बर मुखर्जी के उद्यान-भवन में	इसके १५ दिन बाद		१३४
पुरी-गमन	नवम्बर, १८८८	कार्तिक, १२९५	१३६
कलकत्ता लौटना	१२ जनवरी, १८८९	२९ पौष, १२९५	१४०
आँटपुर-गमन	लगभग ३ सप्ताह बाद		१४०
गया में	२५ मार्च, १८९०	१३ चैत्र, १२९६	१४१
कलकत्ता-आगमन	२ अप्रैल, १८९०	१ वैशाख, १२९७	१४४
बलरामबाबू का देह-त्याग	१३ अप्रैल, १८९०	१२ वैशाख, १२९७	१४४
घुघुड़ी में	मई-सितम्बर, १८९०	जेठ-भादों, १२९७	१४४
जयरामबाटी में गिरिशचन्द्र	१८९१ के प्रथमार्ध में	१२९८	१४६
बेलुड़ में नीलाम्बर बाबू के मकान में (पंचतपा-अनुष्ठान)	१८९३	आषाढ़, १३०० से	१५५
कैलोआर में (दो महीने)	१८९४	१३००	१६०
काशी, वृन्दावन-यात्रा (अपनी माता के साथ)	१८९५	१३०१ के अन्त में	१६२
बेलुड़-मठ में प्रथम आगमन	१२ नवम्बर, १८९८	२७ कार्तिक, १३०५	१६४
'आत्माराम के पात्र' की बेलुड़-मठ में प्रतिष्ठा	९ दिसम्बर, १८९८	अगहन, १३०५	१६५

घटना	ईसवी सन्	बंगाब्द	पृष्ठ
जयरामवाटी-यात्रा	१९ अप्रैल, १९१५	६ वैशाख, १३२२	३१०
जयरामवाटी के नये मकान में गृह-प्रवेश	१५ मई, १९१६	२ ज्येष्ठ, १३२३	३१४
कलकत्ता-गमन	६ जुलाई, १९१६	२२ आषाढ़, १३२३	३१५
दुर्गोत्सव में बेलुड़-मठ में पदार्पण	अक्तूबर, १९१६	आश्विन(सप्तमी), १३२३	३२१
जयरामवाटी-यात्रा	३१ जनवरी, १९१७	१८ माघ, १३२३	३३५
कोयालपाड़ा में दो महीने	मार्च, १९१८ से	फाल्गुन, १३२४ से	३४०
जयरामवाटी आना	२९ अप्रैल, १९१८	१६ वैशाख, १३२५	३४३
कलकत्ते में	७ मई, १९१८	२४ वैशाख, १३२५	३४४
प्रेमानन्दजी की महासमाधि	३० जुलाई, १९१८	१३ श्रावण, १३२५	३४९
जयरामवाटी की ओर	२७ जनवरी, १९१९	१३ माघ, १३२५	३७३
कोयालपाड़ा में छः महीने (राधू के साथ)	२९ जनवरी, १९१९ से	१५ माघ, १३२५ से	३७३
जयरामवाटी-आगमन	२३ जुलाई, १९१९	७ श्रावण, १३२६	३८०
जयरामवाटी में जन्मोत्सव (ज्वर का आरम्भ)	१३ दिसम्बर, १९१९	२७ अगहन, १३२६	३८६
कलकत्ते की ओर	२४ फरवरी, १९२०	१२ फाल्गुन, १३२६	३८७
'उद्बोधन' में	२७ फरवरी, १९२०	१५ फाल्गुन, १३२६	३८९
लीला-संवरण	२० जुलाई, १९२० की रात को डेढ़ बजे	४ श्रावण, १३२७	४०८

इस चरित्र के आधारभूत ग्रन्थ

इस पुस्तक के उपादान-संग्रह के लिए निम्नलिखित ग्रन्थों पर विशेष रूप से निर्भर रहना पड़ा है:—

'उद्बोधन' से प्रकाशित — "श्रीश्रीमायेर कथा", प्रथम व द्वितीय भाग,

स्वामी सारदानन्दकृत — "श्रीश्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग", पाँचों खण्ड,

श्री 'म' (मास्टर महाशय) लिखित — "श्रीश्रीरामकृष्ण-कथामृत", पाँचों खण्ड,

श्रीअक्षयकुमार सेन रचित — "श्रीश्रीरामकृष्ण-पुंथि",

स्वामी गम्भीरानन्द प्रणीत — "श्रीमा सारदा देवी"।

इनके अतिरिक्त अन्यान्य ग्रन्थों से भी कुछ-कुछ सहायता ली गयी है। सभी ग्रन्थकारों और प्रकाशकों के प्रति हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

—इति लेखकस्य।



हमारे अन्य प्रकाशन



१-३. श्रीरामकृष्णवचनामृत—तीन भागों में—अनु० पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', प्रथम भाग (तृतीय संस्करण)—मूल्य ६);
द्वितीय भाग (द्वि. सं.)—मूल्य ६); तृतीय भाग (द्वि.सं.)—मूल्य ७)

४-५. श्रीरामकृष्णलीलामृत—(विस्तृत जीवनी)—(तृतीय संस्करण)—
दो भागों में, प्रत्येक भाग का मूल्य ५)

६. विवेकानन्द-चरित्र—(विस्तृत जीवनी)—(द्वितीय संस्करण)—
सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, मूल्य ६)

७-८. धर्म-प्रसंग में स्वामी शिवानन्द—दो भागों में, प्रत्येक भाग का
मूल्य २।।।)

९. परमार्थ-प्रसंग—स्वामी विरजानन्द, (आर्ट पेपर पर छपी हुई)
कपड़े की जिल्द, मूल्य ३।।।)
कार्डबोर्ड की जिल्द, " ३।)

स्वामी विवेकानन्द कृत पुस्तकें

१०. विवेकानन्दजी के संग में (वार्तालाप)—शिष्य शरच्चन्द्र, द्वि. सं., ५।)

११. राजयोग (पातंजल-योगसूत्र, सूत्रार्थ और व्याख्या सहित) द्वि. सं., २।।)

१२. भारत में विवेकानन्द—भारतीय व्याख्यान—(द्वि.सं.) ५)
१३. ज्ञानयोग (द्वि. सं.) ३)
१४. पत्रावली (प्रथम भाग) २=)
१५. पत्रावली (द्वितीय भाग) २=)
१६. देववाणी २=)
१७. धर्मविज्ञान (द्वि.सं.) १।।=)
१८. हिन्दू धर्म (द्वि. सं.) १।।)
१९. कर्मयोग (तृ. सं.) १।=)
२०. प्रेमयोग (तृ. सं.) १।=)
२१. भक्तियोग (च. सं.) १।=)
२२. स्वामी विवेकानन्दजी से वार्तालाप (द्वि. सं.) १।=)
२३. महापुरुषों की जीवनगाथायें (सप्तम सं.) १।)
२४. आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग (च. सं.) १।)
२५. परिव्राजक (च. सं.) १।)
२६. प्राच्य और पाश्चात्य (च. सं.) १।)
२७. विविध प्रसंग १=)

२८. व्यावहारिक जीवन में वेदान्त १=)
२९. चिन्तनीय बातें १)
३०. धर्मरहस्य (द्वि. सं.) १)
३१. जाति, संस्कृति और समाजवाद १)
३२. स्वाधीन भारत ! जय हो ! (द्वि. सं.) १)
३३. भगवान रामकृष्ण धर्म तथा संघ (द्वि. सं.) ।।।=)
३४. भारतीय नारी (तृ. सं.) ।।।)
३५. शिक्षा (तृ. सं.) ।।=)
३६. कवितावली (द्वि. सं.) ।।=)
३७. शिकागो-वक्तृता (प.सं.) ।।=)
३८. हिन्दू धर्म के पक्ष में (द्वि. सं.) ।।=)
३९. मेरे गुरुदेव (पं. सं.) ।।=)
४०. शक्तिदायी विचार (तृ. सं.) ।।=)
४१. मेरी समरनीति (द्वि. सं.) ।।=)
४२. विवेकानन्दजी के उद्‌गार ।।=)
४३. हमारा भारत ।।)
४४. वर्तमान भारत (च. सं.) ।।)
४५. मेरा जीवन तथा ध्येय (द्वि. सं.) ।।)
४६. पवहारी बाबा (द्वि. सं.) ।।)
४७. मरणोत्तर जीवन (द्वि. सं.) ।।)
४८. सरल राजयोग ।।)
४९. मन की शक्तियाँ तथा जीवन-गठन की साधनाएँ (द्वि. सं.) ।=)
५०. ईशदूत ईसा ।=)
५१. विवेकानन्दजी की कथायें (द्वि. सं.) १।)

---

५२. श्रीरामकृष्ण-उपदेश (द्वि. सं.) ।।।)
५३. वेदान्त—सिद्धान्त और व्यवहार—स्वामी सारदानन्द, ।=)
५४. गीतातत्त्व—स्वामी सारदानन्द, २।=)
५५. साधु नागमहाशय (भगवान श्रीरामकृष्ण देव के अन्तरंग गृही शिष्य) १।।)

श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर – १